भविसयत्त कहा

तथा

अपभ्रंश कथा काव्य

डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

भविसयत्तकहा
तथा
अपभ्रंश-कथाकाव्य

डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री
साहित्याचार्य, एम० ए०, पी-एच० डी०
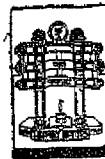
भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

ज्ञानपीठ लोकोदय ग्रन्थमाला :
सम्पादक एवं नियामक
लक्ष्मीचन्द्र जैन

ग्रन्
प्रथम

भविसयत्तकहा तथा अपभ्रंश कथाकाव्य

(शोध-प्रबन्ध)

डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री

प्रकाश
भारतीय ज्ञानपीठ
३६२०/२१ नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली-६

मुद्रक
सन्मति मुद्रणालय,
दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी-५

० ० ० ०

BHAVISYATTAKAHĀ TATHĀ APABHRAMSA-KATHĀKĀVYA

(Thesis)

Dr. Devendra Kumar Shashtri

Published by : BHARATIYA JNANPITH
3620/21, Netajee Subhash Marg Delhi-6
Phone : 272582 *Gram* : 'JNANPITH', Delhi-6

Price
Rs. 20 00

वात्सल्यमूर्ति माताजी के स्पन्दनहीन जीवनाभाव में
समस्त रिक्तताओं के मध्य किशोर-जीवन को
सद्भावों से सम्पूरित करने वाले पूज्य
पिताश्री को, विनयावनतिपूर्वक
सादर समर्पित ।

—देवेन्द्रकुमार

हउं मूढ णिबंधणु गुणणिरत्थु,
जाणउं ण सद्द-वावार सत्थु।

अह लिहियं एयह पुत्थय, कोऊहलभरिय णिय मणेण।
ण गुणवियारणपारण, कव्वं जाणेइ बुहयणेण॥

पुरोवचन

डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री की पुस्तक 'भविसयत्तकहा तथा अपभ्रंश-कथाकाव्य' महत्त्वपूर्ण शोध कृति है। 'भविसयत्तकहा' अपभ्रंश का बहुचर्चित कथा-काव्य है। इस पुस्तक के उपलब्ध होने के बाद से अपभ्रंश-साहित्य के शोध को एक नयी दिशा मिली थी। इस की जानकारी के पहले बहुत थोड़ी-सी रचनाओ तक ही अपभ्रंश का अध्ययन सीमित था। परन्तु उस की प्राप्ति से अपभ्रंश रचनाओ के अधिकाधिक प्राप्त होने का विश्वास ही नही उत्पन्न हुआ, इस साहित्य के बहुत-से ग्रन्थरत्न ढूँढ़ निकाले गये और वह धारणा सदा के लिए समाप्त हो गयी कि महान् अपभ्रंश साहित्य अब खो ही गया है। अनेक विद्वानों के प्रयत्नो के फलस्वरूप अब कई दर्जन अपभ्रंश काव्य उपलब्ध हो चुके है और सम्पादित-प्रकाशित होते जा रहे है। इस प्रकार एक अल्पज्ञात साहित्य को फिर से प्रत्युज्जीवित और लोकगोचर करने मे इस कथा-काव्य का ऐतिहासिक महत्त्व है।

यद्यपि इस की चर्चा काफी होती रही है, पर हिन्दी में इस ग्रन्थ के सम्पूर्ण महत्त्व को स्पष्ट करने योग्य कोई अध्ययन अब तक नही हुआ था। डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री ने इस बड़े अभाव की पूर्ति की है। उन्होने इस ग्रन्थ के सभी साहित्यिक पक्षो का विशद आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। परन्तु केवल वे इस ग्रन्थ तक ही सीमित नही रहे। इसे उपलक्ष्य बना कर उन्होंने अब तक अप्रकाशित हस्तलेख रूप मे प्राप्त अपभ्रंश साहित्य का निपुण सर्वेक्षण कर स्वतन्त्र रूप से कथाकाव्य-विधा का अनुशीलन किया है। अपभ्रंश भाषा की विशेषताओ और उस के ऐतिहासिक विकास को भी स्पष्ट किया है। अपभ्रंश पर वैसे हिन्दी मे पर्याप्त काम हुआ है, पर शास्त्रीजी का यह प्रयत्न अब तक के अध्ययनो को समेट कर बहुत-कुछ नया रूप देने मे कृतकार्य हुआ है।

हिन्दी के काव्यरूपो, छन्दो, काव्यरूढियों, भाषाविकास आदि के अध्ययन की दृष्टि से अपभ्रंश के साहित्य की जानकारी बहुत आवश्यक है। डॉ० देवेन्द्रकुमार की इस पुस्तक का उस दिशा में महत्त्वपूर्ण योगदान होगा। मुझे विश्वास है कि भाषा और साहित्य के प्रेमी इस पुस्तक का स्वागत करेगे।

डॉ० देवेन्द्रकुमार परिश्रमी और अध्ययनशील युवक है। उन की इस पुस्तक को देखकर आशा होती है कि वे भविष्य मे और भी महत्त्वपूर्ण कृतियों से साहित्य का भाण्डार भरेंगे। मै उन के इस महत्त्वपूर्ण प्रकाशन का स्वागत करता हूँ।

(डॉ०) हजारीप्रसाद द्विवेदी

काशी,
१९-१२-७०

अनुबन्ध

अपभ्रंश-साहित्य मे वस्तु, बन्ध और शैली की दृष्टि से प्रबन्धकाव्य की कई विधाएँ लक्षित होती है, जिन में से कथाकाव्य भी एक अन्यतम विधा है। अपभ्रंश-कथाकाव्यो मे नियोजित कथावस्तु लोक-कथाओ के साँचे में किन्ही प्रबन्ध-रूढ़ियों तथा कथाभिप्रायो (मोटिफ्स) के साथ वर्णित मिलती है। कुछ कथाएँ जनश्रुति के रूप में प्रचलित होने पर व्रत-माहात्म्य तथा अनुष्ठानों से सम्बद्ध हो कर काव्य-बन्ध का अंग ही नही, प्राण बन गयी है। अतएव चरितकाव्यों से इन मे भेद देखा जाता है। अपभ्रंश के इन कथाकाव्यो मे लोक-प्रचलित कहानी की भाँति अधिकतर कथाओ मे—वक्ता और श्रोता के रूप में कथा कही जाती है। बीच-बीच मे सुनने वाला कवि के शब्दों में ही जिज्ञासा और कुतूहल प्रकट करता चलता है अथवा कवि ही यह कह कर कि अब कथा तिलकद्वीप की चलती है या अब गजपुर का हाल सुनो, श्रोताओं का समाधान करता चलता है। इसी प्रकार कथा या कहानी के लगभग सभी तत्त्वो तथा कथा-शैली की संयोजना आलोच्यमान कथाकाव्यो मे प्राप्त होती है।

अपभ्रंश के कवियो ने कथा और चरितकाव्य मे कोई अन्तर निर्दिष्ट नही किया है। वे जिस रचना को कथा कहते है उसी को चरित भी। अतएव कुछ विद्वान् उन्हे चरितकाव्य ही मानते है। अभी तक इस दिशा में कोई शोध-कार्य नही हुआ था। मेरी जानकारी मे संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी मे भी कथाकाव्य की स्वतन्त्र विधा पर किसी ने प्रकाश नही डाला था। यद्यपि संस्कृत में कथा गद्य मे लिखने का विधान है और अन्य भाषाओ मे पद्य में; किन्तु गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' के संस्कृत रूपान्तर—बृहत्कथाश्लोकसंग्रह (बुद्धस्वामी), बृहत्कथामंजरी (क्षेमेन्द्र) और कथासरित्सागर (सोमदेव भट्ट) पद्यबद्ध ही मिलते है। इसी प्रकार जातक कथाएँ तथा अफगान देशो की अवदान कथाएँ भी पद्य में लिखी हुई मिलती है। अतएव पद्य में कथा लिखने की परम्परा प्राचीन जान पड़ती है।

भारतीय साहित्य में कदाचित् प्राकृत और अपभ्रंश-साहित्य मे प्रबन्धकाव्य के रूप में कथाकाव्य नाम से अभिहित इस साहित्यिक विधा का सूत्रपात हुआ। कथा में घटनाओं की मुख्यता से तथा विभिन्न पात्रों को कई स्थलो पर संक्षेप मे घटित घटनाओं को सुनाने से काव्य मे वस्तु की एक से अधिक बार आवृत्ति हुई है, जिस के कारण निश्चय ही इन्हें महाकाव्य की कोटि का न कह कर एकार्थक कहा जा सकता है। प्रेमाख्यानक कथाकाव्यों मे प्रेम की मधुर व्यंजना अभिव्यंजित है। ये कई बातो मे हिन्दी के प्रेमाख्यानक काव्यों से मिलते-जुलते हैं। अतएव सूफी तथा प्रेमाख्यानक काव्य और विशेष रूप से जायसी कृत पद्मावत अपभ्रंश के इन कथाकाव्यों की कोटि के है

अपभ्रश के इन कथाकाव्या म प्रबन्ध-रचना कडवक शैली म तथा पद्धडिया बन्ध मे हुई है, जो इस साहित्य के महाकाव्यो की अत्यन्त प्राचीन (लगभग छठी सदी से) एव निजी शिल्प-रचना है। अतएव शैली की दृष्टि से तथा सन्धियो की नियत सख्या में रचित काव्यों को महाकाव्य की कोटि में रखा जा सकता है। किन्तु प्रबन्ध मे दो सन्धियों से लेकर बाईस सन्धियों तक के कथाकाव्यों का विवेचन होने से, व्यापक दृष्टिकोण में तथा साहित्य की एक पृथक् विधा का सम्पूर्ण चित्र प्रस्तुत करने मे कई प्रकार की अतिव्याप्तियाँ लक्षित होने से इन्हे 'एकार्थक' काव्य के अन्तर्गत माना है। यदि कोई 'भविसयत्तकहा' जैसी बडी प्रबन्ध रचना को चाहे तो महाकाव्य भी कह सकता है। किन्तु मेरी दृष्टि मे तो यह कथाकाव्य ही है।

इस प्रबन्ध मे दसवीं शताब्दी से लेकर सतरहवी शताब्दी तक के उपलब्ध कथाकाव्यों का विवेचन हुआ है। काल-क्रम के अनुसार रचनाएँ इस प्रकार हैं— पउमसिरीचरिउ (दसवी शताब्दी), धम्मपरिक्खा (वि० स० १०४४), सुदंसणचरिउ (स० ११००), विलासवईकहा (वि० सं० ११२३), भविसयत्तकहा (विबुध श्रीधर, सं० १२३०), जिनदत्तकथा (वि० सं० १२७५) सिद्धचक्रकथा (पं० नरसेन, १४वी शताब्दी), जिनदत्त चउपई (सं० १३५३), भविसयत्तकहा (धनपाल, स० १३९३), सि० क० या श्रीपालकथा (पं० रयधू, पन्द्रहवी शताब्दी) और सत्तवसण-कहा (वि० सं० १६३४)। उक्त कथाकाव्यो मे से भ० क०, वि० क०, जि० क०, सि० क० और श्रीपालकथा का तथा भ० क० एवं जि० चउ० का विशेष अध्ययन हो सका है। अवशिष्ट रचनाओं मे से पउमसिरीचरिउ प्रकाशित होने से उस का परिचय मात्र दिया है। सुदंसणचरिउ और सत्तवसणकहा का सम्यक् विवेचन प्रबन्ध के बहुत विस्तृत होने के भय से नही कर सका हूँ तथा धम्मपरिक्खा मे उपदेश प्रधान होने से उस का वर्णन चलता हुआ कर दिया है।

यह प्रबन्ध सात अध्याओं मे निबद्ध है। विषय और भाव की दृष्टि से प्रबन्ध मे एकरूपता का बराबर ध्यान रखा गया है। प्रथम अध्याय में अपभ्रंश भाषा का मौलिक स्थापनाओ के साथ विचार किया गया है; जिस में वैदिक, अवेस्ता और प्राकृतों से अपभ्रश भाषा के सम्बन्ध का पूर्ण विवरण एवं अपभ्रंश-साहित्य के युग का परिचय प्रस्तुत किया गया है। दूसरे अध्याय मे अपभ्रंश-साहित्य के सामान्य परिचय के साथ उपलब्ध साहित्य का वर्गीकरण कर कथाकाव्य का स्वरूप निर्दिष्ट किया गया है। इसी अध्याय मे प्रबन्धकाव्य की स्वतन्त्र काव्यविधा के रूप मे संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश की आनु-पूर्वी मे प्रथम बार कथाकाव्य का उल्लेख हुआ है। तीसरे अध्याय मे धनपाल तथा विबुध श्रीधर विरचित 'भविष्यदत्तकथा' का साहित्यिक एवं सास्कृतिक अनुशीलन किया गया है। भविसयत्तकहा के साथ ही चतुर्थ अध्याय में अपभ्रंश के प्रमुख कथाकाव्यो के अन्तर्गत विलासवईकहा (विलासवतीकथा), जिणयत्तकहा (जिनदत्तकथा), जिनदत्त-चउपई रयधू) और नरसेन की

मूल हस्तलिखित प्रतियो का आद्यन्त अध्ययन कर विशद समीक्षा की गयी है। उक्त सभी कथाकाव्यों के सभी काव्यागो का स्वतन्त्र रूप से विश्लेषण किया गया है। प्रसंगत: प्रकाशित 'पउमसिरीचरिउ' एवं हस्तलिखित धम्मपरिक्खा, सुदंसणचरिउ तथा सत्तवसणकहा का भी उल्लेख हुआ है। अन्य लघु कथाओं का विवरण 'क्षुल्लक कथाएँ' के अन्तर्गत दिया गया है। पंचम अध्याय मे अपभ्रश-कथाकाव्यो की समालोचित सामान्य प्रवृत्तियों का सर्वेक्षण किया गया है। विषय के सम्यक् अनुशीलन के हेतु षष्ठ अध्याय मे लोकतत्त्व का विचार हुआ है। लोकतत्त्व मे लोक-कथाओं के रूप, कथा-मानकरूप, कथाभिप्राय एवं लोकजीवन तथा सस्कृति का परिशीलन किया गया है। इस प्रकार अपभ्रंश भाषा और साहित्य का भाषाविषयक ही नही, साहित्य-समालोचनात्मक एवं लोक-साहित्य तथा सस्कृतिमूलक अध्ययन व चिन्तन प्रस्तुत किया गया है। सप्तम अध्याय मे अपभ्रंश कथाकाव्यो पर संस्कृत-काव्यों के प्रभाव के अतिरिक्त 'भविसयत्त-कहा' के विशेष सन्दर्भ के साथ अपभ्रंश के कथाकाव्यों का हिन्दी-साहित्य पर प्रभाव दर्शाया गया है। विषय के विस्तार के भय से विवेचन मे संक्षिप्तता का पूरा ध्यान रखा गया है। सब के अन्त मे प्रबन्ध सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची तथा शब्दानुक्रमणिका से भी समलंकृत है। अतएव सभी प्रकार से शोध प्रबन्ध को व्यवस्थित एवं वैज्ञानिक बनाने का उपक्रम किया गया है।

इस समूचे प्रबन्ध को ऐतिहासिक दृष्टि से भी एकरूपता प्रदान करने की चेष्टा की है। ऐतिहासिक आलेखन लोक-जीवन की परम्परा में ही विशेष रूप से हुआ है। क्योकि अपभ्रंश भाषा और साहित्य लोक-जीवन और संस्कृति से बहुत कुछ ग्रहण कर विकसित हुआ है। लोक-साहित्य विषयक कथा-रूपो तथा अभिप्रायो का विचार भी ऐतिहासिक पद्धति पर हो सका है। साहित्यिक दृष्टि से संस्कृत-प्राकृत और अपभ्रंश की काव्य-धारा मे साहित्यिक विधा का विकास और परम्परा एवं प्रभाव का मूल्याकन किया गया है। अन्तिम अध्याय मे अपभ्रंश के कथाकाव्यों का हिन्दी-साहित्य पर परि-लक्षित प्रभाव का स्वतन्त्र विचार किया है।

यद्यपि अपभ्रंश-साहित्य पर डॉ० हरिवंश कोछड़, डॉ० रामसिंह तोमर तथा डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन के प्रबन्ध प्रकाशित हो चुके हैं, किन्तु अभी तक कई रचनाएँ प्रकाश मे नहीं आ सकी है। अधिकांश काव्यो का परिचय मात्र ही मिलता है। अतएव कई अप्राप्य तथा अविवेचित रचनाओ का अनुशीलन कर इस अछूती भूमि को प्रथम बार स्पर्श किया है। प्रबन्ध मे विवेचित काव्य अधिकतर हस्तलिखित एवं अप्रकाशित कथा-काव्य हैं, जिन को ढूंढ निकालने में लेखक को बहुत समय तथा श्रम लगा है। वस्तुत विषय और विवेचन की दृष्टि से यह प्रथम मौलिक प्रयास है।

प्रबन्ध की रूप-रेखा मे लोक-साहित्य विषयक स्वतन्त्र खण्ड की योजना का सुझाव दे कर डॉ० सत्येन्द्रजी ने जो उपकार किया है, उस के लिए मैं हृदय से उन का आभारी हूँ। उन की 'लोक-साहित्य विज्ञान' नामक पुस्तक से अध्ययन करने में बहुत

सहायता मिली है। डॉ० कोछड़ का प्रबन्ध भी सहायक सिद्ध हुआ है। विशेष रूप से मैं पं० चैनसुखदास, न्यायतीर्थ और डॉ० कस्तूरचंद कासलीवाल का कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने कडे प्रतिबन्धों के बीच समय पर हस्तलिखित ग्रन्थ भेज कर मेरी सहायता की और जिन के बिना यह कार्य हो सकना संभव नहीं था। इसी प्रकार श्री दलसुख भाई मालवणिया का भी विशेष आभारी हूँ, जिन्होंने 'विलासवईकहा' की अप्राप्य प्रति की समग्र फोटो कॉपी भेज कर यथोचित सहायता प्रदान की।

मुझे इस बात की प्रसन्नता है कि भारतीय ज्ञानपीठ की मुद्रण-प्रक्रिया के अन्तर्गत यह शोध प्रबन्ध ज्यों का त्यों प्रकाशित हो रहा है। मेरा प्रारम्भ से ही यह विचार था कि प्रबन्ध मूल रूप में ही प्रकाशित हो। इस प्रकाशन के लिए मैं डॉ० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये तथा डॉ० हीरालाल जैन का हृदय से आभारी हूँ। प्रिय मित्र डॉ० गोकुलचन्द्र जैन को किसी भी प्रकार भूल सकना मेरे लिए सम्भव नहीं है। डॉ० हजारीप्रसाद जी द्विवेदी ने अपने व्यस्त क्षणों में से कुछ समय निकाल कर जो 'पुरोवचन' लिखने की कृपा की, उस के लिए मैं अन्तःकरण से उन का कृतज्ञ हूँ। मुझे जिन विद्वानों तथा मित्रों का प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से सहयोग मिला है मैं उन सभी का आभार मानता हूँ। भारतीय ज्ञानपीठ संस्था का विशेष आभार है, जिस के अधिकारी जनों व मुद्रण-विभाग की तत्परता से यह प्रबन्ध यथाशीघ्र ही पाठकों के हाथों में पहुँच सका है। वस्तुतः इस प्रबन्ध की सफलता विद्वत् पाठकों के परितोष पर निर्भर है। यदि अनुसन्धित्सुओं तथा जिज्ञासुओं के लिए यह किसी भी प्रकार सहायक सिद्ध हो सका तो अपना श्रम सार्थक समझूँगा। महाकवि कालिदास के शब्दों में—

"आपरितोषाद् विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।"

आशा है, विज्ञजन त्रुटियों की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए इस का समुचित मूल्यांकन करेंगे।

अन्त में सभी सुधीजनों के कर-कमलों में यह प्रबन्ध भाव-प्रणति पूर्वक समर्पित है। यथार्थ में काव्य-कला तथा कवि के शब्द-व्यापार का मर्म सम्यक् रूप से जान लेना अत्यन्त दुर्बोध है। अतः यही कहना पड़ता है—

हउं मूढ णिरंधणु गुणणिरत्थु,
जाणउं ण सद्द-वावार सत्थु।

—देवेन्द्रकुमार शास्त्री

१७ दिसम्बर, १६७०

संक्षिप्त शब्द-संकेत-सूची

१. अनु०	अनुवाद या अनुवादक
२. ऋ०	ऋग्वेद
३. क० द०	कवि दर्पण
४. जि० क०	जिनदत्तकहा
५. जि० चउ०	जिनदत्तचउपई
६ टि०	टिप्पण
७ प० च०	पउमचरिउ (स्वयम्भू)
८. प्रा० पै०	प्राकृतपैंगलम्
९. भ० क०	भविसयत्तकहा (धनपाल)
१० वि० क०	विलासवईकहा
११. श०	शतपथब्राह्मण
१२. श्री० क०	श्रीपालकथा (पं० रयधू)
१३. स० क०	सत्तवसणकहा
१४. सि० क०	सिद्धचक्ककहा (पं० नरसेन)
१५. सा० द०	साहित्यदर्पण
१६. सु० द०	सुदंसणचरिउ

विषय-सूची

प्रथम अध्याय

द्वितीय अध्याय

तृतीय अध्याय

चतुर्थ अध्याय

षष्ठ अध्याय

सप्तम अध्याय

●

भविसयत्तकहा
तथा
अपभ्रंश-कथाकाव्य

प्रथम अध्याय

अपभ्रंश भाषा : परम्परा और युग

प्रत्येक देश और जाति के मूल संस्कार उसकी अपनी भाषा, साहित्य तथा संस्कृति में निहित रहते हैं। जातीय जीवन, लोक परम्परा एवं सामाजिक नीति-रीतियों के अध्ययन से हमें उनकी पूरी जानकारी मिलती है। अतएव भाषा और साहित्य का प्रत्येक अंग लोक-मानस की अभिव्यक्ति का ही लिपिबद्ध स्वर होता है। मौखिक रूप में आज भी हमें गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' तथा प्राकृत और अपभ्रंश में लिखित कथाएँ, सूक्तियाँ, सुभाषित एवं अन्य उक्तियाँ गाँवों में प्रचलित सुनाई देती हैं। वस्तुतः युग-युगों से साहित्यिक तथा सामाजिक परम्परा परस्पर विचारों का विनिमय करती आयी है। इसलिए परम्परा में केवल इतिहास तथा पौराणिकता का लेखा-जोखा न हो कर लोक-जीवन में परिव्याप्त यथार्थ और आदर्श, रूप-कुरूप, नीति और उपदेश तथा वृत्ति एवं रीति का भी समाहार हो जाता है।

प्रायः जाति तथा सम्प्रदाय का सम्बन्ध विभिन्न धर्म-नीति एवं भाषा से रहा है। यदि पालि बौद्धों की भाषा ख्यात रही है तो प्राकृत जैनों की और संस्कृत पुरोहितों की। किन्तु कुछ बोलियाँ प्राग्वैदिक काल से जन-सामान्य की लोक-धारा में प्रवाहित एवं प्रचलित रही हैं, जिनमें उस युग के शब्द-रूपों की बानगी आज भी स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। उदाहरण के लिए मन, गौ, लाजा, रथ तथा दो, छह और सात आदि अन्तर्राष्ट्रीय भाषाओं में प्रयुक्त शब्द हैं[1]। लोक भाषाओं में प्रचलित कुछ वैदिक शब्द इस प्रकार हैं—अजगर[2], भेडो, लाहा, रोट्[3] इत्यादि। कुछ भिन्न अर्थों में प्रयुक्त शब्द भी मिलते हैं[4] तथा कई विकसित रूप में[5]।

---

१. मन (श० १४।४।३।६), अवेस्ता, यस्न ९,२९।तथा मन (Man) के लिए देखिए—वेब्स्टर्स न्यु इण्टरनेशनल डिक्शनरी, पृ० १४९१। गच्छतीति गौ (श० ६।१।२।३४), गोस शब्द के लिए देखिए, पेई द्वारा लिखित "द वर्ल्ड्स् चीफ लैंग्वेजेज"। दो, छह और सात शब्दों के लिए भी वही द्रष्टव्य है। "लाजैर्जुहोति" (श० १३।२।१।५), देखिए, टर्नर की नेपाली डिक्शनरी। रथ (ऋ० ६।७५।६), लेटिन तथा आइरिश आदि भाषाओं में भी मिलता है।

२ अजगरो नाम सर्पः (ऋ० ५।४।२२), अजगर (अजिडर्), भेडो, लावा, लाहा।

३ रोट् और वेल् आदि शब्दों के लिए—टर्नर की नेपाली डिक्शनरी द्रष्टव्य है।

४ चरु, चमस् और देव-असुर आदि। चरु (ऋ० ७।१।५२), चमस (श० ४।२।१४)।

५. मेह, शूर्प(सूपा), उलूखल (उखलो, ओखली), मुसल (मूसल), दाति (दाता) आदि। शूर्प, उलूखल, मुसल शब्दों के लिए देखिए श० १।१-४। मेह (निरुक्त २.६.४) "दातिर्लवनार्थे।" निरुक्त २१४

यही नहीं, गृध् से गिधाना (ललचाना), लवन से लुनना, मुष् से मूसना त घुण्ट से घूँटना आदि क्रियाएँ वैदिक परम्परा को सुरक्षित बनाये हुए है। इसी प्रक कुछ शब्दों में वैदिक रूपों के अवशेष दृष्टिगोचर होते हैं। यथा—उपाध्याय का—पाः (मराठी), वलीवर्द का बर्दा (बुन्देली, छत्तीसगढ़ी); श्मसान (शवस्य शयनं इ श्मसानम्) का मसान आदि।

इस प्रकार परम्परा का यह स्रोत मूल धारा तक उसी प्रकार अक्षुण्ण दिखा देता है जिस प्रकार गंगा का उत्स सागर-तट से ले कर हिमगिरि की उपत्यकाओं तव विविध रूपों में प्रसरित होने पर भी एक रूप में लक्षित होता है।

भाषा, संस्कृति तथा इतिहास का इतिहास किसी न किसी रूप मे परस्पर सम्बद्ध है। सामाजिक रीति-पद्धति, भोजन-पान तथा पारिवारिक जीवन के विभिन्न अंगों पर उनकी छाप स्पष्ट रूप से देखी जाती है। अतएव वैदिक मूर्धन्य 'ल' का प्रयोग भले ही लौकिक संस्कृत में न हो, पर महाराष्ट्र तथा दक्षिण के घरानों में आज भी प्रचलित है। ऋग्वेद मे 'पेरु' शब्द देवता अर्थ का वाचक है[1]। महाराष्ट्र और होशंगा-बाद में जामफल को अब तक पेरु कहते हैं। बंगला में इसी का शब्द-रूप प्यारा और उड़िया में पिचड़ु है। प्राचीन इजिप्ट के देवता सूर्य Ph-R̄a को भी पेरु कहा गया है[2]। सम्भवतः जिस प्रकार बेल पत्र, धतूरा तथा फूल और फलों को महादेव पर चढ़ाने का विधान है उसी प्रकार अन्य देवी-देवताओं पर किसी समय पेरुक (जामफल) चढ़ाना विहित रहा हो। क्योंकि अर्चा की विधि में पत्र, पुष्प और फलो का उपयोग अत्यन्त प्राचीन काल से इस देश में रहा है।

युग के युग पलट जाते है, पर भाषा और संस्कृति नही पलटती। परिवर्तनों के बीच भी उसका मूल रूप सुरक्षित रहता है। इसका कारण यही प्रतीत होता है कि भाषा बोलियों से जो कुछ भी ग्रहण करती है उसे अपनी प्रकृति मे ढाल लेती है, अपनी प्रकृति का उन्हें अंग बना लेती हैं। इसलिए भाषा की प्रकृति में कोई विकार नहीं आता और बाह्य अंग-प्रत्यंगो में विकास होता रहता है। किन्तु विभिन्न संस्कृतियों के संगम में जब भाषा त्रस्त हो जाती है तब उस के मूल रूप को ढूँढ़ना असम्भव नहीं तो बहुत कठिन अवश्य हो जाता है। सिकन्दर के आक्रमण के पश्चात् भारतवर्ष में यूनानी, शक, सिथियाई, हूण, अरब, तुर्क, मगोल आदि लोगों का निरन्तर आवागमन होता रहा हैं। यहाँ की सभ्यता, संस्कृति और भाषा से जहाँ वे अत्यन्त प्रभावित हुए

---

१. समीचीना सुदानव. प्रीणन्ति तं नरो हितमवमेहन्ति पेरव।—ऋग्वेद, ६,७४,४। नरो नेतार' पेरव.। पा रक्षणे। मापोरिस्वे रुन्निति रुन्प्रत्ययम। सर्वस्य रक्षका.। इति तद्भाष्ये सायण।

२. जी० रामिलन्सन द रिलीजन्स आव द एनशियेन्ट वर्ल्ड, पृ० २७। तथा—

"The Chief deity of the Lithuanians was Perkunas or perkuns, the god of thunder and lighting, whose resemblance to zeus and Jupiter has often been pointed out" Frazer · The golden Bough part I Vo' II Page 365 See same, Part V Vol. I page 233

वहीं उनकी रीति-नीति तथा भाषा का भी प्रभाव इस देश पर पड़ा। इस लिए यह स्वाभाविक ही था कि उनकी भाषाओं के शब्द हमारी भाषाओं मे प्राप्त हों।

संस्कृत भाषा मे कई शब्द विदेशी भाषाओं से गृहीत है। प्रत्येक भाषा की उधार लिये जाने वाले शब्दों की प्रक्रिया विशेष होती है। क्योंकि कोई भी भाषा शब्दों को ज्यों का त्यों बहुत कम ग्रहण करती है। नये शब्दों की रचना तथा बाहरी शब्दों को अपनाने की प्रक्रिया लगभग समान होती है। संस्कृत भाषा मे विदेशी शब्दों को ग्रहण करने के लिए सामान्यतः शब्द के आगे 'क' जोड़ दिया जाता है। यह 'क' स्वार्थिक प्रत्यय कहा जाता है। इस से अर्थ में कोई परिवर्तन नही होता। भाषा मे यह प्रवेश-द्वार के समान है। संस्कृत मे अधिकांश देशी और विदेशी शब्दों मे स्वार्थिक प्रत्यय 'क' जुड़ा मिलता है। यथा—भण्टाक, होलक, कन्दुक, कावृक, तक्षक, वारक, पाटक, लासक, दर्दरक, फर्फरीक, तर्तरीक, खोलक, चीनक, तुरुष्क, घोटक, पुस्तक आदि। जन-जीवन की शब्दावली मे स्पष्टतः ऐसे रूप मिलते हैं जो शताब्दियों के इतिहास को सहेजे हुए हैं। भाषा का यह प्रवाह समूचे राष्ट्र के परिवर्तनशील युगों की गाथा है, जिसमे आर्य तथा आर्येतर सस्कृति की पूरी झलक प्रतिबिम्बित है। मध्ययुगीन भारतीय आर्यभाषाएँ उसी की कडी मात्र हैं, जिनमे लोकतत्त्व विशेष रूप से समाया हुआ है।

भारतवर्ष से ले कर आयरलैंण्ड तक के विविध देशों की विभिन्न भाषाएँ आर्य-भाषाएँ कही जाती हैं। आर्यभाषाओं की शब्द-सम्पत्ति तथा खत्ति, मितान्नि, खस और ईरानी आदि जातियों के इतिहास से पता लगता है कि आदि आर्यभूमि भारत से बाहर थी[१]। वैदिक युग के पूर्व ईरान और भारत एक थे। अवेस्ता तथा वेदों में समान रूप से यज्ञपरायण सस्कृति के दर्शन होते हैं। दोनो की भाषा मे भी अत्यन्त साम्य है। अवेस्ता तीन भागो में निबद्ध है—यसन, विस्पेरेद और वेन्दीदाद। यसन में गाथा भाग सर्वप्राचीन है। गाथाएँ छन्दों मे है[२]। अवेस्ता की भाषा मे कुछ विशेषताएँ प्राकृतों की भी मिलती हैं। उदाहरण के लिए—संस्कृत अन्त्य अस् अवेस्ता मे प्राकृत की भाँति ओ देखा जाता है। यथा—अर्यस् (वै०), अइर्यो (अवे०)। अरुपस् (वै०), अउरुपो (अवे०) आदि। प्राकृतो मे प्राय. अन्त्य 'ओ' मिलता है। इस के उदाहरण है—भट्टो, पुत्तो, गुत्तो, सावओ, नाहो, देवो, चउत्थो, पंचमो, छट्ठो, सत्तमो, तईओ, विईओ, पढमो, अरिट्ठो, कम्मो, जंघो, घम्मो, दंतो, चदो, वलो, तिलओ, मल्लो, सीसो, जक्खो, महल्लो तथा कप्पो आदि। सामान्य रूप से प्राकृत की प्रवृत्ति ओकारान्त है।

संस्कृत में एक साथ एक पद में दो स्वर प्रयुक्त नहीं होते। किन्तु अवेस्ता में

---

१. डॉ० हेमचन्द्र जोशी—आदि-आर्यों का मूल स्थान शीर्षक लेख, सरस्वती अंक फरवरी १९५९, पृ० ८६।

२. जहाँगीर सोराबजी—'सिलेक्शन्स फ्रॉम अवेस्ता' की भूमिका। कुछ शब्द हैं—ख्शथ्र (क्षत्र) गायु गातु चिथ्र चित्र), पुथ्र पुत्र वूमी (भूमि दूर, पित मातु आदि देखिए पृ० —अवेस्ता का पोद्घात पृ० ५८

व्यंजनो के सयोग की भाँति स्वरयोग की भी बहुलता है। अवेस्ता का स्वरयोग प्रवृत्ति, निवृत्ति, भक्ति, तथा त्राति के भेद से चार प्रकार का है[1]। प्राकृतो मे भी स्वर के बाद स्वर का प्रयोग बहुल है। यथा—पूइआ, इअ, पूअइ, नईए, घमिआ, पीआ, तओ, गलिआ, तईओ, एअस्स, तईए, नईओ, नमुई, भोइओ, भूमीए तथा पमाए इत्यादि। प्राकृतों मे ही नही, यह प्रवृत्ति अपभ्रंश मे भी दिखाई देती है। जैसे कि—आइअ, ओइण्ण, उइइ, एउ, धारेउ, आलोइउ, कंखिरीए, देउ, भेउ, पालेइ, दइउ और उइन्न आदि। अपभ्रंश में प्रवृत्ति स्वरयोग की भाँति निवृत्ति स्वरयोग के भी उदाहरण मिलते हैं। इसे वैयाकरणों की भाषा मे सम्प्रसारण कहते है। इसमे 'य' को 'इ' तथा 'व' को 'उ' होता है। अवेस्ता मे गायम् को गाइम्, अभवन् को बाउन्, अब्रवम् को नाउमो और यवस् को यओम् हो जाता है। प्राकृत में इसके उदाहरण विरल है। अपभ्रंश के अलाउ (अलावु) झुणि (ध्वनि), दइय (दयित), केयारउ (केकारव), देउल (देवकुल), तुरिउ (त्वरित), उत्ति–(उक्ति-वचन), पउत्ति (प्रोक्ति), पउत्ति (प्रवृत्ति), आदि मे निवृत्तिस्वर योग स्पष्ट है। स्वर-परिवर्तन के विविध रूप तथा भक्तिस्वर योग भी प्राकृत-अपभ्रंश मे दिखाई देता है। स्वरभक्ति वैदिक संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में समान रूप से मिलती है, परन्तु संस्कृत-साहित्य की भाषा में उसके दर्शन नहीं होते। इसी प्रकार वेदों मे तथा प्राकृतों मे 'ऋ' के स्थान पर 'उ' लक्षित होता है। यथा—ऋतु, उउ। कृत, कुठ (ऋग्वेद)[2]। किन्तु वेदों मे ऐसे प्रयोग विरल हैं। ऋ, लृ और ळ वेदो के विशेष स्वर है। जान पड़ता है कि इन स्वरों के स्थान पर अन्य स्वरो का प्रयोग सरलीकरण की प्रवृत्ति के अनुसार बोलियो से वेदो की भाषा में अपना लिया गया होगा। क्योंकि अवेस्ता तथा वेदो मे मूर्धन्य ध्वनियाँ प्रधान है। वैदिक और प्राकृत भाषा मे कुछ ऐसी समान बातें मिलती है, जो लौकिक संस्कृत मे प्राप्त नही होती। श्री वी० जे० चोकसी ने दोनों मे जिन समान प्रवृत्तियों का निर्देश किया है वे इस प्रकार है—

१. वैदिक और प्राकृत मे सन्धि के नियम शिथिल है, पर संस्कृत मे नही है। यथा—भार्या–भारिया, क्लिष्ट–किलिट्ठ। स्वरभक्ति भी समान है।

२. विभक्तियों में भी सादृश्य दृष्टिगोचर होता है। वैदिक आस (देवास) प्राकृत में आहो (पुत्ताहो) तथा आये, आए हो जाता है। इसी प्रकार 'एभिः' एहि के रूप मे मिलता है।

३. प्राकृत के कुछ शब्दो का सीधा सम्बन्ध वैदिक शब्दावली से है। उदाहरण के लिए पासो (वै० पश्), तात्, यात् तथा एत्थ (वै० इत्था) शब्दों को गिनाया जा सकता है, जिनका शास्त्रीय संस्कृत से कोई सम्बन्ध नही है।

---

१ वही भूमिका

२ वी० जे० चोकसी प्राकृत ग्रामर पृ० ७

४. प्राकृत और वैदिक संस्कृत में ऋ को उ हो जाता है। उउ (ऋतु), कुठ (वै०)।
५. सयुक्त व्यंजनो मे दो में से एक का लोप कर ह्रस्व स्वर को दीर्घ कर देते हैं। यथा—दूलभ, दूलह। ऋग्वेद मे भी ये मिलते है।
६ अन्त्य के दो व्यंजनो मे से अन्तिम का लोप हो जाता है। उदाहरण हैं—तावत्-ताव, यशस्,जश। वैदिक पश्चात्-पश्चा, उच्चात्-उच्चा, नीचात्-नीचा।
७ संयुक्त र् या य् का लोप हो जाता है। जैसे—प्रगल्भ-पगब्भ, श्यामा-शामा, वैदिक अप्रगल्भ-अपगल्भ।
८ जब स्वर किसी व्यंजन के साथ संयुक्त हो और यदि वह दीर्घ हो तो ह्रस्व हो जाता है। यथा—पात्र-पत्त, रात्रि-रत्त, चूर्ण-चुण्ण।
वैदिक अमात्र-अमत्त।
९ दोनों में द् को ड् हो जाता है। जैसे कि—दण्ड-डन्ड, दंस-डंस। वैदिक पुरोदास–पुरोडास।
१०. दोनो मे ध् को ह् हो जाता है। यथा-बधिर-बहिर। प्रतिसंहाय (वै०)
११. कर्त्ता कारक एकवचन संज्ञा शब्दो में अन्त्य अ को ओ हो जाता है। जैसे—देवो, जिणो। वैदिक संवत्सरो, सो।
१२. दोनों में ही तृतीया कारक बहुवचन मे हि और भि विभक्ति का प्रयोग होता हैं। यथा—देवेहि, देवेभि· (वै०)।
१३. दोनों मे ही षष्ठी का प्रयोग चतुर्थी के लिए होता है।
१४. दोनों में ही पंचमी विभक्ति का अन्त्य त् लुप्त दिखाई देता है। यथा—देवा-देवात्, जिणा-जिणात्, वैदिक उच्चा-उच्चात्, नीचा, पश्चा।
१५. दोनों मे ही द्विवचन नही है। जैसे कि—रामलक्खणा (प्रा०)। वैदिक इन्द्रावरुणा (इन्द्रवरुणौ)। दो, दुवे, वे (प्रा०)।

इस अध्ययन से चोकसी महोदय इस निष्कर्ष पर पहुँचे है कि प्राकृत का निकास [illegible]य संस्कृत से न हो कर वैदिक संस्कृत से हुआ है तथा भारतीय वैयाकरण इसी [illegible]ा स्वीकार करते है।[1] अवेस्ता के गाथिक भाग, ऋग्वेद तथा प्राकृतों के तुलनात्मक [illegible]न से स्पष्ट हो जाता है कि इनका मूल स्रोत एक ही है। पालि और शिला-लेखों [illegible]षा तथा वेदो की भाषा मे अत्यन्त साम्य है। इन की मुख्य विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

१ अवेस्ता की भाषा तथा प्राकृतो मे प्रथमान्त एकवचन मे ओ विभक्ति है। यथा—यो, नो (य० अवे०), मूनो, द्रुजम्नो, दुजिम्नो, हमो, हामो [illegible]०) आदि। पालि मे भी पुं०-नपुं० लिंग अकारान्त शब्दो के कर्त्ता कारक [illegible]न मे ओ होता है। मागधी मे इसे ए तथा लगभग सभी प्राकृतो मे आ पाया

---

[1] वही पृ० ८।

जाता है। प्राकृत की प्रवृत्ति ही ओकारान्त कही जाती है। लाडी और कच्छी सिन्धी मे तथा पुरानी राजस्थानी मे भी कुछ अकारान्त संज्ञा शब्द ओकारान्त मिलते हैं यथा—अथाणो, दादो, मथो, घोडो, रामो, गोविन्दो, किशिनो, जो, सो (सिन्धी) इत्यादि। हाथो, आखो, नेहो, ऊतर्‌यौ, ओ, दीहड़ो, आजूणो, तो, दूहो, कपडो तथा मेवाडो (प्रा० राज०) आदि।

२. अशोक की प्राकृत और पालि के मूल अंशो मे ऋ तथा लृ स्वर नही मिलते। विद्वानो की मान्यता है कि उन में ऐ, औ, अय, अव, ए, ओ, अन्त्य व्यंजन और विसर्गो का लोप है। घोषभाव की प्रक्रिया का पता यही से मिलने लगता है। अवेस्ता मे भी कही-कहीं 'ऋ' के स्थान पर 'र' दिखाई देता है। यथा—रतूम्, गरमम् (घर्मम्), दरगम् (दीर्घम्)। किन्तु इस का कारण स्वरभक्ति कहा जा सकता है। स्वरभक्ति पालि, प्राकृत और अपभ्रंश में भी पायी जाती है।

३. अवेस्ता की भाषा एक हो कर भी प्रान्तीय भेदों से भिन्न है। शिलालेखो की भाषा पश्चिमी ईरानी कही जाती है, जिसे पुरानी फ़ारसी कहते हैं। उस से पहलवी तथा पहलवी से वर्तमान फ़ारसी का विकास हुआ है।[1] प्राकृत भाषा भी प्रादेशिक भेदो से कई प्रकार की कही गयी है।

४. अवेस्ता और प्राकृत—साहित्य का प्रारम्भिक भाग गाथा मे निबद्ध है।[2] गाथा प्राकृत का औरस छन्द माना जाता है। सामान्यतः गाथा शब्द से प्राकृत का बोध होता है। जैनों के सर्व प्राचीन ग्रन्थ गाथाबद्ध हैं।

५. वैदिक की भाँति पालि और प्राकृत में भी द को ड हो जाता है। यथा—पुरोडास (वै०), डहं (दहन्), डंस (प्राकृत)। अपभ्रंश में भी यही प्रवृत्ति मिलती है—डहइ, खुडिय, डोलइ, डुक्कर आदि। सिन्धी मे भी यह है।

६. प्राचीन भारतीय आर्यभाषाओं में स्वरावस्थान तथा सम्प्रसारण अवेस्ता, वैदिक, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश मे भी प्राप्त होता है।

७. अवेस्ता मे तीनो लिंगों के लिए सामान्ये नपुंसकम्[3] का प्रयोग है। वैदिक भाषा में लिंग एवं कारकों का व्यत्यय कहा जाता है। प्राकृत तथा पालि मे भी नपुंसक लिंग का सामान्य प्रयोग और विभक्तियों का विनिमय देखा जाता है। षष्ठी विभक्ति वैदिक, संस्कृत और प्राकृत मे ही नहीं अपभ्रंश मे भी व्यापक रही है। षष्ठी के एकव० में चतुर्थी के एकव० का हो जाना सामान्य प्रवृत्ति थी। वैदिक में भी इसके प्रयोग मिलते हैं। अपभ्रंश में लिंग की अत्यन्त अव्यवस्था है। अवेस्ता की भाँति इसमे किसी भी लिंग के लिए नपुंसक लिंग का हो जाना साधारण बात है।

८. पालि, प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी मे द्विवचन नहीं है।

---

१. जहाँगीर सोराबजी—सिलेक्शन्स फ्रॉम अवेस्ता की भूमिका।
२. ता दाओ रान्ता मइन्यू मज्दा अहुरा। गाथा ३,१,६।
३. जहाँगीर सोराबजी—सिलेक्शन्स फ्रॉम अवेस्ता भूमिका।

९. वैदिक और संस्कृत सन्धिबहुल हैं[1], पर प्राकृत और अपभ्रंश में यह बात ही है।

१०. पश्चिमी पालि में ष का लोप मिलता है और पूर्वी में श, ष, स के स्थान र श का व्यवहार। मागधी प्राकृत तथा अपभ्रंश में भी पूर्वी अपभ्रंश की भाँति श ा प्रयोग व्यापक है।[2]

इस अध्ययन से कई बातें स्पष्ट हो जाती हैं। पहली तो यह कि वैदिक और अवेस्ता की भाषा में अत्यन्त साम्य है तथा उसकी कुछ विशेषताएँ पालि और ाकृत में ही नहीं अपभ्रंश में भी मिलती हैं। दूसरी यह है कि कुछ वैदिक शब्द-रूप तथा प्रयोग प्राकृतों मे सामान्य है, जिनसे पता लगता है कि वेदों में उनका व्यवहार बोलियों से हुआ होगा। तीसरी यह कि अवेस्ता और प्राकृतों की सामान्य प्रवृत्ति ओकारान्त (देओ-देवो) है, जो वेदों की भाषा में नही है। इसी प्रकार यस्न भाग तथा प्राकृत-अपभ्रंश में ह्रस्व ए, ओ का प्रयोग है, पर वेदो मे नही है।[3] चौथी अवेस्ता तथा प्राकृत-अपभ्रंश में स्वर के पश्चात् स्वर का व्यवहार एक ही पद में होता है, किन्तु वैदिक तथा संस्कृत मे स्वर के पश्चात् स्वर प्रयुक्त नहीं होता। पाँचवी, स्वरयोग के विविध रूप इन परवर्ती भाषाओं मे विशेष है, जो वेदों की भाषा मे नही हैं। 'य' श्रुति भी इनमें मिलती है। इन सब बातों से यह पता लगता है कि वेदों की भाषा से प्राकृत बोलचाल की भाषा के अधिक निकट रही है। इसका एक प्रमाण यह भी है कि वेदों में तथा संस्कृत मे जो वैकल्पिक रूप मिलते है वे प्राय. बोलियो के है। महर्षि पाणिनि और पतंजलि के निर्देशों से भी इसी बात को पुष्टि होती है।[4]

आर्य भाषा

भाषावैज्ञानिकों ने आर्य भाषा का सम्बन्ध विरोस् (WIROS) से या इयु प्रजा से बताया है। किसी समय इस प्रजा ने एशिया का परिभ्रमण किया होगा और तभी विभिन्न जातियो के सम्पर्क से भाषागत विविध परिवर्तन सम्भव हुए होंगे। जो भी हो, एक ओर आर्य भाषा का सम्बन्ध भारोपीय कुल से है और दूसरी ओर ईरानी कुल से। आर्य प्रजाएँ अवश्य ही किसी समय युरॅप से ले कर भारतवर्ष के मध्य प्रदेश तक फैली होगी। आर्य यज्ञमूलक संस्कृति के पुरस्कर्त्ता थे। ईरानी और आर्यो के देवता,

---

१ सन्धि संस्कृतबहुलम्। प्राकृतानुशासन—पुरुषोत्तमदेव, ३६।

२. षसो शः। प्राकृतानुशासन-पुरुषोत्तमदेव, २०, ३।
तथा रसयोर्लशौ मागधिकायाम्। इति नमि साधुः।

३. न च लोके न च वेदे ह्रस्व एकार ओकार.। सिद्धहेमशब्दानुशासन।
नैव लोके न च वेदेऽकारो विवृतोऽस्ति। महाभाष्य, १ आ, १ पा०, २ आ०।
नैव लोके न च वेदे दीर्घप्लुतौ संवृतौ स्त.। वही, १, १, १।

४. जराया जरसन्यतरस्या (भाषायाम्)। ७।२।१०१। तथा–विभाषा तृतीयादिष्वचि, पाणिनि व्याकरण, ७।१।९७। "विभाषा वृक्षमृगादीनाम्", १,१,६। दीपादीना विभाषा महाभाष्य, १ अ० १ पा० ६ आ० पृ० ३८ ३९।

संस्कृति, उपासना, संस्कार तथा सभ्यता मे अत्यन्त समता है। अवेस्ता मे मित्र और वरुण के अतिरिक्त नासत्या, विवस्वत्, यम तथा वृत्रहन् आदि का उल्लेख मिलता है। इन देवताओं के नाम बोगाजकोई अर्थात् वर्तमान अंकारा के पास मिलते हैं।[1] इसीलिए प्राथमिक युग की भारतीय आर्य भाषा को प्राचीन भारत-ईरानी (Old Indo-Aryan) या आदिम भारतीय आर्य भाषा कहा जाता है। आर्यन् शब्द पुरानी फारसी मे एर्यन् मिलता है। इस से स्पष्ट है कि भारत के तथा ईरान के आर्य किसी समय उत्तर की ओर एक ही स्थान पर रहे होगे। स्थान-परिवर्तन तथा भौगोलिक भिन्नता के कारण धीरे-धीरे उन की भाषा मे बहुविध परिवर्तन होते गये, और आज उन की शाखाओ मे आश्चर्यजनक भेद दिखाई देता है। आर्यों का प्राचीनतम साहित्य वेद और पारसियो का अवेस्ता है। वेदो की अपेक्षा अवेस्ता की भाषा मे बोलियों की झलक स्पष्ट है। जिस प्रकार प्राचीन भारतीय आर्य भाषा से पालि, प्राकृत, अपभ्रंश तथा आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का विकास हुआ उसी प्रकार अवेस्ता की भाषा से पुरानी फ़ारसी, पहलवी तथा वर्तमान फारसी का विकास हुआ। आधुनिक फारसी पर अवश्य अरबी का अधिक प्रभाव कहा जाता है।

अनुमान है कि २००० से १५०० ई० पू० के लगभग आर्यों के दल उत्तर-पश्चिमी सीमान्त से भारत मे प्रविष्ट होने लगे थे। सर्वप्रथम वे सप्तसिन्धु प्रदेश में विस्थापित हुए होंगे। पश्चात् पूर्व तथा दक्षिण की ओर फैले होंगे। भारत में आर्यों के आगमन के पूर्व यहाँ द्रविड़, कोल, मुण्डा आदि आर्येतर प्रजाएँ रहती थी। किन्तु यूनानी राजदूत मेगस्थनीज के भारत मे आने के समय तक आर्य संस्कृति दक्षिण तक फैल चुकी थी। आर्यों के भारत-विजय के मुख्य तीन कारण थे—सुविकसित भाषा, अश्व और यज्ञपरायण संस्कृति।

प्रथम भूमिका—आर्य लोग आर्येतर प्रजाओं पर धीरे-धीरे जिस प्रकार अपना प्रभाव डालते रहे, उसी प्रकार प्रभाव रूपमें समय-समय पर कुछ-न-कुछ ग्रहण भी करते रहे। आर्य, द्रविड और आस्ट्रिक परिवारों की लगभग सभी भाषाओं मे मूर्धन्य वर्ण मिलते है, जिसे द्रविड़ प्रभाव कहा जाता है। इसी प्रकार शब्दों को दोहरा कर बोलने की प्रवृत्ति आस्ट्रिक प्रभाव को सूचित करती है। भारत में केवल आर्य ही नहीं अन्य जातियो के आने के भी प्रमाण मिलते है। उत्तरी बंगाल, आसाम, और पूर्वी बंगाल की खासी जातियो से सम्बद्ध मौन तथा ख्मेर जातियों का आर्य होना यही सूचित करता है।[2] कई मिश्रित जातियाँ इस देश मे वर्षो से रही है। इन का संकेत हमे पुराणों में भी मिलता है। बर्बर, म्लेच्छ, असुर, नाग तथा शबर आदि के स्पष्ट उल्लेख मिलते है। दसवीं शताब्दी के पूर्व बंगाल मे बोडो जाति की एक शाखा कम्बोजी ने कुछ समय के लिए उत्तरी बंगाल पर आधिपत्य स्थापित किया था। उस के पहले ही तिब्बत-चीनी की

१ डॉ० जोशी आदि-आर्यों का मूलस्थान सरस्वती पृ० ६०
२. शिवशेखर मिश्र भारतीय संस्कृति में प्रथम संस्करण पृ० २७

तिब्बत-बर्मी शाखा का बोडो समुदाय (बोडो, मेच, कोच, कछारी, राभा, गारो, तिपुरा) आसाम तथा पूर्वी बंगाल में बसता हुआ समूचे पूर्वी और उत्तरी बंगाल में फैल गया था[1]। विभिन्न तथा विविध जातियों के संगम के ही परिणामस्वरूप यहाँ की भाषाओं में वैविध्य लक्षित होता है। स्वाभाविक परिवर्तन के साथ भाषा में शताब्दियों तक विशेष बदलाव नहीं होता। यद्यपि आर्यों के विकास क्षेत्र में अनेकों प्राकृतिक तथा मानवीय बाधाएँ पहाड़ों की भाँति सामने अड़ती रहीं और भाषा में भी परिवर्तन-विवर्तन होते रहे, किन्तु उन की भाषा का अविच्छिन्न रूप सहस्राब्दियों के पश्चात् भी वैदिक साहित्य में सुरक्षित है।

भाषाविषयक इतिहास की दृष्टि से भारतीय आर्य भाषाओं की तीन अवस्थाएँ कही जा सकती हैं। पहली अवस्था में आर्य भाषा का इस देश में प्रसार हुआ और आर्येतर भाषाओं का संघर्ष। धीरे-धीरे उस की जड़ जम गयी तथा उस में साहित्य लिखा जाने लगा। वेद और ब्राह्मण ग्रन्थ संक्रान्ति काल का उत्तरवर्ती साहित्य है। इसी लिए उस पर आर्येतर प्रभाव भी लक्षित होता है। विजातीय बोलियों से भी वह अछूता नहीं है। कुछ विद्वान् तो यहाँ तक मानते हैं कि आर्य भाषा के यथार्थ स्वरूप का पता वेदों से नहीं लगता[2]। जो भी हो, ब्राह्मण ग्रन्थों में तात्कालिक भाषा सम्बन्धी कुछ निर्देश मिलते हैं। प्रतीत होता है कि आर्य भाषा मुख्यतः तीन विभेदों में विभक्त थी। (१) उदीच्य या उत्तरीय (या पश्चिमोत्तरीय), (२) मध्यदेशीय या बीच के देश की, तथा (३) प्राच्य या पूरब की भाषा। अवेस्ता से ही 'ल' का 'र' मिलने लगता है। भारोपीय 'ल' भी ईरानियन में 'र' ही होता है। ऋग्वेद के प्राचीनतम स्तर में यह व्यवस्था चालू रही है। क्योंकि ऋग्वेद की अधिकांश रचना भारत के उत्तर-पश्चिम भाग में हुई और इसलिए उस प्रदेश की बोलियों का ईरानियन से साम्य होना स्वाभाविक ही था। भारत की पूर्व की बोलियों में तो 'र' और 'ल' के स्थान पर 'ल' का ही व्यवहार होता था। 'ल' वाले शब्द भी ठीक-ठीक ऋग्वेद में आ गये हैं[4]। भारत के पूर्वी प्रदेशों में आज भी 'र' और 'ल' के स्थान पर 'ल' का व्यवहार प्रचलित है। यही नहीं, पिछले सहस्र वर्षों से मगध में 'स' और 'ष' के स्थान पर 'श' का व्यवहार बना हुआ है[5]। किन्तु शूरसेन (मथुरा तथा निकटवर्ती) प्रदेश में 'श' और 'ष' के स्थान पर 'स' का चलन है[6]। जान पड़ता है कि उच्चारण-भेद के कारण बोलियों के पूरबी और पच्छिमी भेद अत्यन्त प्राचीन कालसे चले आ रहे हैं। कौषीतकि ब्राह्मण तथा महाभाष्य के

---

१ शिवशेखर मिश्र 'भारतीय संस्कृति में आर्येतरांश, प्रथम संस्करण, पृ० २७।
२, डॉ० प्रबोध बेचरदास पण्डित प्राकृत भाषा, १९५४, पृ० १४।
३ डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी 'भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, पृ० ६१।
४, डॉ० प्रबोध बेचरदास पण्डित 'प्राकृत भाषा, पृ० १४।
५ सर्वत्र सषो श'। ष. प्रकृत्या क्वचित्।—प्राकृतशब्दानुशासन पुरुषोत्तमदेव।
६ शषो स नहीं ४७ ३ २

निर्देशों से यही पता मिलता है[१]। यास्क के निरुक्त से भी इस बात की पुष्टि होती है।[२]

संक्षेप मे, वेदों से ब्राह्मण काल तक सांस्कृतिक स्पर्धा में आर्य जाति पूर्णतया विजेता रही। इसलिए यह स्वाभाविक ही था कि वह अपनी भाषा का प्रसार देश के कोने-कोने तक करती। भाषा और संस्कृति के संघर्ष की यह प्रथम भूमिका भाषाशास्त्र मे प्राचीन भारतीय आर्यभाषा की पहली भूमिका कही जाती है। आर्य प्रजा के सम्पर्क मे आने के कारण आर्येतर संस्कृति तथा भाषाओ में बहुविध परिवर्तन हुए। विकास की इस धारा मे आर्य-साहित्य की रचना हुई तथा यज्ञ-याग का प्रचार हुआ। साहित्य विप्रो की शिष्टता से अनुरंजित था इसलिए बोलियो को महत्त्व नही मिला; किन्तु प्रतीत होता है कि आर्यों मे भी दो भेद हो गये थे। पहला समूह अहिंसामूलक यज्ञसंस्कृतिका पोषक था और दूसरा बाह्य पाषण्डों से पूर्ण। प्रथम लोकभाषा और आचार का समर्थक था तथा दूसरा उन के विपरीत शिष्ट भाषा और संस्कारो को महत्त्व देता था। पहला उदार था और दूसरा जातीय पक्षपात तथा संकीर्णता से लिप्त। वर्ण-भेद के कारण तथा स्थान और काल-भेद से भी अनेक प्राकृतों की सम्भावना बढ़ती गयी। धीरे-धीरे जातीय दृष्टिकोण और भी संकुचित होते गये। यद्यपि प्राकृत का साहित्य भी जन-बोलियों से ऊपर उठ कर लिखा गया है लेकिन बोलियाँ उस में से झाँकती हुई स्पष्ट लक्षित होती है। और सच बात तो यह है कि ऋग्वेद की परवर्ती भाषा मे भी अन्य बोलियों के रूप एक साथ दिखाई देते है। प्राचीन भारत मे विभिन्न भाषाओ के बीच आदान-प्रदान जारी था। अनार्य बोलियाँ भी प्रचलित थी और उन की शक्ति दो सहस्र वर्ष पूर्व तथा उस के बाद तक बहुत प्रबल थी। भारतीय आर्य भाषाओ के ब्राह्मण, जैन तथा बौद्ध धर्मसम्बन्धी साहित्य पर उन का प्रभाव दृष्टिगोचर है[३]। इस प्रकार प्रथम भूमिका मे उत्तर-मध्य में विस्थापित आर्यो के सांस्कृतिक केन्द्रो की भाषा शिष्ट जनो की भाषा रही होगी। महर्षि पाणिनि ने अपना व्याकरण इसी शिष्ट भाषा को ध्यान मे रख कर लिखा है। सम्भवत. अन्य बोलियाँ उस समय मध्य देश से बाहर थी, पर वे स्वाभाविक रीति से अपना विकास करती रही।

द्वितीय भूमिका—इस अवस्था में पहुँच कर आर्य भाषा विभिन्न रूपों मे स्थान तथा काल के अनुसार नाना जनपदो मे विकसित हुई। यद्यपि आर्यों के आने के पूर्व नागरिक संस्कृति का उन्मेष आर्येतर प्रजाओं में हो चुका था[४], किन्तु भाषा और संस्कृति का वास्तविक अभ्युदय मध्य युग मे हुआ। यदि यह सत्य है कि द्वितीय भूमिका में अपना साहित्यिक आसन ग्रहण करने वाली भाषाओं पर संस्कृत (वैदिक)

---

१ तस्माद् उदीच्याम् प्रज्ञातरा वाग् उ विद्यते, उद च उ एव यन्ति वाचम् शिक्षितम्, यो वा तत आगच्छति, तस्य वा शुश्रूषन्त इति।—कौषीतकि ब्राह्मण '७–६।

२ निरुक्त - १ अ० २ पा० ४ ख० प० ४८ ४९ तथा वही २१४

३ डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी　　पृ० १ ३

४ वही पृ १७९

का गहरा प्रभाव पड़ा है तो यह भी यथार्थता से परे नहीं है कि जनबोलियों का विशेष विकास इसी भूमिका में हुआ है। जैन और बौद्धों ने ई० पू० पाँचवीं शताब्दी के लगभग देशी भाषा को विशेष रूप से अपनाया और उस के पश्चात् ही भारतीय भाषाओं की विकासधारा का नया प्रवाह आरम्भ होता है[1]। विकास की दृष्टि से इस भूमिका के तीन रूप माने जा सकते हैं—पालि, प्राकृत और अपभ्रंश।

विद्वानों की मान्यता है कि प्राकृत विकासधारा के प्रवाह में से उठ खड़ी हुई एक अवस्था विशेष है, जिस ने समूचे मध्य युग पर अपनी अमिट छाप लगा दी है। दूसरे शब्दों में हम प्राचीनतम भारतीय आर्यभाषा तथा नव्य भारतीय आर्य भाषाओं के मध्य की भाषाविषयक अत्यन्त आवश्यक ऐतिहासिक भूमिका को प्राकृत नाम दे सकते हैं।

प्राकृत साहित्य के मुख्य दो अंग हैं—बौद्ध साहित्य और जैन आगम साहित्य। पालि साहित्य जिस भाषा मे लिखित उपलब्ध है उस में पूर्व तथा पश्चिम की भाषाओं का अत्यधिक मिश्रण है। धार्मिक तत्त्व विशेष से अनुरंजित तथा उसी प्रकार की शैली में लिखित होने के कारण उस भाषा को बोलियों की स्थान और काल-भेद के आधार पर रूप-रेखा खींचना टेढ़ी खीर है।

प्राकृत का दूसरा अंग जैन आगम है। तीर्थंकर महावीर का जन्म मगध में हुआ था। उन का बचपन तथा कुछ यौवन काल भी वहीं बीता था। परन्तु उन की वाणी का संकलन लगभग एक सहस्र वर्षों के पश्चात् हो सका। इस लिए जिस अर्द्ध मागधी भाषा मे उन के प्रवचन हुए उस का साहित्य पालि साहित्य से भी अर्वाचीन है। अतएव भाषाविकास के इतिहास को समझने के लिए उस से विशेष जानकारी नहीं मिलती। फिर भी, पालि से उस का महत्त्व विशेष आँका जाता है जो उचित है। क्योंकि अर्द्धमागधी का आधार पूर्वी क्षेत्र है और पालि का मध्यदेश। जैन प्राकृत साहित्य सीमित सीमाओं में रहने के कारण अधिक सुरक्षित रहा है; किन्तु पालि साहित्य अशोक के पुत्र महेन्द्र के द्वारा उज्जैन मे लिखाया गया कहा जाता है। प्राकृत का तीसरा महत्त्व अशोक के शिलालेखों में है। अशोक के शिलालेखों (ई० पू० २७० से २५० ई० पू०) को हम भारत का सर्वप्रथम भाषा-सर्वेक्षण कह सकते हैं। ये लेख चार प्रकार के हैं—उत्तरपश्चिमी, गिरनारी, दक्खिनी तथा गंगा-जमुना के प्रदेशों से लगा कर महानदी तक के। यद्यपि इन लेखों की भाषा राजभाषा कही जाती है, लेकिन इन को ध्यान से देखने पर पता लगता है कि इन मे प्रादेशिक बोलियों का भी समावेश है। इनमे उत्तर पश्चिम की शिलालेखों की भाषाएँ धम्मपद की उस भाषा से मिलती-जुलती है जो ई० पू० दूसरी शताब्दी मे गोशृंग की गुफा में एक फ्रान्सीसी यात्री को प्राप्त हुई थी। गिरनार के लेखों की भाषा साहित्यिक पालि से प्रभावित है तथा गंगा-जमुना से लेकर महानदी पर्यन्त लेखों की भाषा को नाटकों मे

१ डॉ० पण्डित प्राकृत भाषा पृ० १६

प्रयुक्त मागधी से प्रभावित कहा जाता है। दक्खिनी लेखों की भाषा अर्द्धमागधी से प्रभावित मानी जाती है। इस प्रकार इन समूचे लेखों की भाषा मिश्रित जान पड़ती है। प्राकृतों का चौथा रूप भारत के बाहर का है। भारत के बाहर मिलने वाले प्राकृतों के लेख भाषा की विशेष अवस्था के सूचक हैं। उन मे चीनी और तुर्किस्तान से प्राप्त खतपत्र तथा उल्लिखित धम्मपद कहे जाते है, जो खोटन (कुस्तान) के सीमान्त प्रदेश से उपलब्ध हुए है। उन में लिखित भाषा निय प्राकृत कहलाती है। निय प्राकृत भाषा की विकसित परम्परा की सूचक है। प्राकृतों का परवर्ती रूप हमें निय प्राकृत मे परिलक्षित होता है। क्योंकि उस की बहुत-सी बातें अपभ्रंश से सादृश्य लिये हुए है। इस से अनुमान है कि जो विकास आर्यभाषा का दूसरी-तीसरी शताब्दी मे भारत से बाहर हुआ था लगभग वैसा ही अपभ्रंश-काल मे भारतवर्ष में हुआ था। उन का अपना स्वरूप तथा व्याकरणिक ढाँचा समान होते हुए भी कई बातों मे भिन्न है। निय प्राकृत का ध्वनि-स्वरूप प्राचीन है, पर रूप-तत्त्वो मे अन्तर है। विकास की पूरी अवस्था उस मे दृष्टिगोचर होती है। अतएव वह अपभ्रंश से भिन्न है।

प्राकृत की पहली भूमिका मे ऋ, लृ, ऐ और औ का लोप है। संयुक्त व्यंजनों में सावर्ण्य भाव मिलता है। तथा मध्यग स्पर्श व्यंजनों का घोष भाव इसी अवस्था मे आरम्भ हो गया था। दूसरी भूमिका में पहली भूमिका की बातें ज्यों की त्यों है, पर घोष भाव का घर्ष भाव होने लगा था। निय प्राकृत मे यह स्पष्ट है। विभक्तियों का विनिमय भी उस मे प्राप्त होता है। नाटकों, व्याकरणो तथा साहित्य की प्राकृतो मे बोलियो से समन्वित जो रूप मिलता है उसे हम साहित्यिक प्राकृत के नाम से जानते है। वैयाकरणों ने इस प्राकृत को अत्यन्त महत्त्व प्रदान किया है। आदर्श प्राकृत महाराष्ट्री मानी गयी है। वैयाकरणों और आलकारिको की दृष्टि मे यह उत्कृष्ट प्राकृत है।[1] प्रमुख प्रबन्ध तथा गीति काव्य इसी प्राकृत मे निबद्ध है। साहित्यिक प्राकृतें परम्परागत है। वे रूढियों से अत्यन्त ग्रस्त एवं त्रस्त है। क्योंकि संस्कृत के आदर्श मानो पर उन की रचना हुई है। इसी लिए कई विद्वान् प्राकृतो को कृत्रिम कहते है और संस्कृत को इस का मूल बताते है। इस के प्रमाण मे मार्कण्डेय, चण्ड तथा हेमचन्द्र आदि की "प्रकृति. संस्कृतम्" वाली उक्ति उद्धृत की जाती है।[2] किन्तु इस का अर्थ

---

१ महाराष्ट्राश्रया भाषा प्रकृष्टं प्राकृतं विदु ।—दण्डी : काव्यादर्श, १, ३४।

२ प्रकृति संस्कृतम्। तत्र भवं प्राकृतम् उच्यते।—मार्कण्डेय : प्राकृतसर्वस्व, १,१। प्रकृते संस्कृताद् आगतं प्राकृतम् ।—वाग्भटालकार की सिहदेवगणिन् कृत टीका, २,२.। प्रकृतेरागतं प्राकृतम्। प्रकृति मस्कृतम्।—धनिक दशरूपक की टीका, २,६०। प्रकृति' सस्कृतम्। तत्र भवत्वात् प्राकृत स्मृतम्।—प्राकृतचन्द्रिका, पीटर्सन की तीसरी रिपोर्ट से। प्रकृते संस्कृतायास्तु विकृति प्राकृती मता।—नरसिंह : प्राकृतशब्दप्रदीपिका। प्रकृति' सस्कृतम्। तत्र भवं तत आगत वा प्राकृतम्।—हेमचन्द्र : सिद्धहेमशब्दानुशासन, १,१। प्राकृतस्य तु सर्वम् एव संस्कृतं योनि ।—कर्पूरमजरी, वासुदेव कृत संजीविनी टीका। सिद्धं प्राकृतं त्रेधा। सिद्धं प्रसिद्धं प्राकृत त्रेधा मथपि संस्कृतं योनि तच्चेद—मात्रा मत्ता निरय भि चं इत्यादि

ग्रन्थ से

यही है कि जिस प्रकार ग्रीक के आदर्शमान (माडल) पर लेटिन का व्याकरण लिखा गया ठीक उसी प्रकार संस्कृत के आदर्श पर प्राकृतो का व्याकरण रचा गया। अपभ्रंश व्याकरण का भी आदर्श संस्कृत व्याकरण रहा है। परन्तु प्राकृत भाषाओं की जड़ें जनता की बोलियो के भीतर जमी हुई हैं, और इन के मुख्य तत्त्व आदिकाल में जीती-जागती और बोली जाने वाली भाषा से लिये गये हैं। किन्तु बोलचाल की भाषाएँ, जो बाद मे साहित्यिक भाषाओं के पद पर चढ गयी, संस्कृत की भाँति ही बहुत ठोकी-पीटी गयीं, ताकि उन का एक सुगठित रूप बन जाये।

इस प्रकार साहित्य तथा बोलचाल की प्राकृतो मे अन्तर रहा है। जो प्राकृतें सस्कृत के प्रभाव से दूर रही है वे अधिक विकासशील थीं। भारत के बाहर की प्राकृतो मे मुख्य बात यही है।

तृतीय भूमिका—प्राकृत की यह तीसरी भूमिका कही जाती है, जिस मे साहित्य की, नाटक की और व्याकरण को प्राकृतो की रचना हुई। इस अवस्था में आ कर घर्ष भाव लुप्त होने लगा और मूर्धन्य स्वर-व्यंजनो का व्यवहार बढने लगा। इसी को महाराष्ट्री प्राकृत कहते है। यद्यपि उन मे बोलियो के भी कुछ रूप मिलते है, पर उन का स्वरूप स्पष्ट नही है। उन मे विशेष रूप से मध्यग व्यंजनो का लोप दिखाई देता है। वस्तुत इसे दूसरी भूमिका की ही एक अवस्था समझनी चाहिए। क्योकि अश्वघोष के नाटकों से विशेष परिवर्तन इस भूमिका में नही देखा जाता। विशेषता यही है कि यह लोक-भूमि से बहुत कुछ हट कर चली है। और संस्कृत की लीक पर ही इस का विकास हुआ है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि प्राकृतो में सब से अधिक विकसित एवं मौलिक रूप निय प्राकृतों का है जो अपभ्रंश के निकट है। इस का समय ई० की प्रथम शताब्दी कूता गया है। मौलिक यह इस रूप में है कि इस का साहित्य हमें भारत के बाहर मिलता है, और संस्कृत का जो प्रभाव भारत की प्राकृतों पर है वह इस पर नही है। फिर, प्राकृतो का विकास बोलचाल की भाषाओं के मेल-मिलाप से न हो कर शिष्टों की पद्धति पर हुआ है। यद्यपि बोलियों का प्रभाव उन पर पड़ा है, पर प्राकृत के लेखक संस्कृत की परिपाटी पर चले है। अतएव जन-जीवन और साहित्य की भाषा में अन्तर सदा से बना रहा। इस का एक कारण यह भी कहा जा सकता है कि प्राकृतो के प्रारम्भिक काल मे ही संस्कृत का उदय और विकास काल उन्नतिशील था, जिस से प्राकृतों का विकास रुक गया। समय के अनुकूल सस्कृत में कई प्रकार के परिवर्तन हुए। इस काल के कई साहित्यिक रूप ऐसे हैं जो ऊपर से संस्कृत दिखाई देते है, पर जिन के नीचे प्राकृत का बहता हुआ पानी प्रतीत होता है। संस्कृत के ही नहीं प्राकृ के वैयाकरणों ने भी इस का विचार सस्कृत के आधार पर किया है उन्होंने

भाषावैज्ञानिक नियमों (ध्वनि, रूप, वाक्य आदि) के आधार पर प्राकृत का विश्लेषण नही किया। उन का आदर्श शास्त्रीय संस्कृत ही रही है। प्रायः सभी प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं का व्याकरण संस्कृत को आधार मान कर लिखा गया है।

अन्तिम प्राकृत—संस्कृत के अधिकाश वैयाकरण संस्कृत से इतर शब्दों को अपशब्द तथा भाषा को अपभ्रंश कहते है। इस लिए भारतीय विद्वानों का विश्वास है कि प्राकृत संस्कृत का अपभ्रष्ट रूप है। किन्तु भाषा के ऐतिहासिक विवेचन मे हम ऊपर विचार कर चुके है कि आर्यों की बोलचाल की भाषा ही परवर्ती काल मे प्राकृत नाम-रूप से ख्यात रही है। अतएव प्राकृत का जन्म संस्कृत से न हो कर आर्यों की जन सामान्य बोली से हुआ है।[१] आर्ष प्राकृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश और अवहट्ठ ये सभी एक ही विकास धारा की विभिन्न कड़ियाँ है, जिन में भारतीय समाज, संस्कृति और लोक परम्परा की विविध मान्यताओं के साथ ही भाषा तथा विचारों का समग्र इतिहास लिपिबद्ध है। प्राकृत केवल जैन या बौद्ध सम्प्रदाय (पालि के रूप मे) की भाषा नही थी वरन् भील, कोल, शबर, दस्यु, चाण्डाल आदि से ले कर राजदरबार और रनिवासो तक मे यह भाषा बोली जाती थी। आचार्य अभिनवगुप्त ने इसे अव्युत्पन्न (अनगढ, ग्राम्य) जन भाषा कहा है।[२] आ० भरतमुनि के नाट्य शास्त्र मे प्रयुक्त मुख्य भाषाएँ चार कही गयी है—[३] संस्कृत, प्राकृत, अतिभाषा और आर्यभाषा तथा जातिभाषा। प्राकृत भाषाएँ सात प्रकार की कही गयी है।[४] स्पष्ट ही नाट्य लोक की वस्तु होने के कारण लेखको को प्राकृत तथा जन-बोलियों को स्थान देना पड़ा।

प्राकृत अपनी अन्तिम भूमिका में पुनः लोक संस्कृति और भाषा का प्रतिनिधित्व करती हुई दिखाई देती है। शब्दरूप और क्रियाओं मे ही नही, रूपतत्त्वों में भी भेद लक्षित होता है। इस भूमिका मे भाषा शिष्टों से हट कर विकसित हुई है। इस पर देशी पानी अधिक चढ़ा हुआ है। यही कारण है कि संस्कृत (छन्दस्), पालि और प्राकृत जितनी एक दूसरे के निकट है उतनी अपभ्रंश नहीं है।

अपभ्रंश प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं की अन्तिम भूमिका का नाम है। कुछ विद्वान् प्राकृतों की अन्तिम अवस्था को अपभ्रंश नाम देते है। इसी प्रकार कुछ लोग प्राकृत को ही अपभ्रंश समझते है। यह सच है कि अपभ्रंश में प्राकृतों को प्रायः सभी

---

१ दिनेशचन्द्र सरकार ए ग्रामर ऑव् दि प्राकृत लेंग्वेज, भूमिका, पृ० १।

२ अव्युत्पादितप्रकृतेस्तज्जनप्रयोज्यत्वात् प्राकृतमिति केचित्।—नाट्यशास्त्र की विवृति, अभिनवगुप्त।

३ भाषा चतुर्विधा ज्ञेया दशरूपे प्रयोगतः॥
संस्कृत प्राकृतं चैव यत्र पाठ्यं प्रयुज्यते।
अतिभाषार्यभाषा च जातिभाषा तथैव च॥
—भरतमुनि नाट्यशास्त्र, । १७।२६–२७।

४ [illegible]जा प्राच्या शौरसेन्यर्धमागधी वाल्हीका दाक्षिणात्य च सप्त भाषा प्रकीर्तिता।
—वही १७ ४६

विशेषताएँ मिलती हैं पर यह भी सच है कि अपभ्रंश प्राकृतो से या प्राकृत से भिन्न है। दोनों की प्रवृत्तियाँ विभिन्न है। प्रकृति में भी अन्तर है।

अपभ्रंश—अपभ्रंश प्राचीन भारतीय आर्यभाषाओं तथा नव्य भारतीय आर्य भाषाओं के बीच की कड़ी है, जो नव्य भारतीय आर्य भाषाओं की पुरोगामिनी कही जाती है। यह प्राकृतों की उस अन्तिम अवस्था का विकास है, जिस में जन-जन को भावनाओं का समवेत स्वर अपने वास्तविक रूप में मुखरित हुआ है[1]। अतएव एक ओर जहाँ अपभ्रंश—भाषा और साहित्य उपलब्ध रूप में प्राकृत की परम्परा मे विकसित हुआ है, वही दूसरी ओर लोक बोली तथा जीवन के सामरस्य का प्रतिनिधित्व करता है। किन्तु उत्तरवर्ती अपभ्रंश काल में भाषा और साहित्य पर समानान्तर रूप से संस्कृत और प्राकृत का प्रभाव लक्षित होने लगता है।

यद्यपि प्राकृत और अपभ्रंश का उल्लेख सामान्य रूप से मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाओं के अन्तर्गत किया जाता है, किन्तु इन का मूल स्रोत अत्यन्त प्राचीन है। फिर, प्रत्येक भाषा के सम्बन्ध में यह विचारणीय है कि किसी भी भाषा के बल पर कोई स्वतन्त्र भाषा जन्म नही लेती। वर्तमान भाषाओं का मूल रूप किसी न किसी बोली में प्रतिष्ठित रहता है। किन्तु युग के परिवर्तन के साथ ही बोली तथा भाषा में भी कुछ-न-कुछ परिवर्तन होता रहता है। उदाहरण के लिए—एंग्लो-सेक्सन या पुरानी अँगरेज़ी अपनी स्वाभाविक अवस्था में संस्कृत की भाँति सयोगात्मक थी; पर आज की—अँगरेज़ी वियोगात्मक है[2]। यही भाषा की अवस्था-विशेष या भूमिका कही जाती है। प्राकृत और अपभ्रंश मे भी यह भेद लक्षित होता है। अपभ्रंश के सम्बन्ध में प्राचीन उल्लेख हमे पाँच रूपों में प्राप्त होते है—कोशकारों के, वैयाकरणो के, संस्कृत-साहित्य-समालोचकों के, पौराणिक तथा अपभ्रंश के कवियों के उल्लेख।

कोशकारों के उल्लेख—संस्कृत के वैयाकरणों ने व्याकरण के साथ ही शब्दकोशों की भी रचना की है। इसलिए—व्याकरण ग्रन्थों की भाँति कोश भी लीक पीटते हुए दृष्टिगोचर होते है। उदाहरण के लिए, अपभ्रंश शब्द के लिए व्याकरण का सब से पहला प्रयोग है—अपशब्द। अमरकोश, विश्वप्रकाश, मेदिनी, अनेकार्थ सग्रह, विश्वलोचन, शब्द-रत्नसमन्वय तथा शब्दकल्पद्रुम आदि कोशो में अपभ्रंश का अर्थ अपशब्द एवं भाषा-विशेष भी मिलता है। मेदिनी में तथा अन्य कोशो में भी दोनों अर्थ मिलते हैं, पर अमरकोश मे केवल अपशब्द अर्थ है[3]। सम्भव है तब तक अपभ्रंश का

---

१ एस० एम० कत्रे प्राकृत लैंग्वेज एण्ड देयर कन्ट्रिब्युशन टु इण्डियन कल्चर, पृ० २२।

२ एन० पी० गुणे द डिस्कवरी ऑव् इंग्लिश पूना।

३ अपभ्रंशोऽपशब्दः स्यात्। १, ६, २,। अपभ्रशोऽपशब्दे स्याद्भाषाभेदावपातयो'। —विश्वप्रकाश, ३० ३७ अपभ्रशस्तु पतने स्यो —मेदिनी ३ ३१ अपभ्रशो भाषाभेदाप शब्दयो अनेकार्थसग्रह ४ ३२३ अपभ्रशो स्पलमे भाषाभेदापशब्दयो'।—विश्वलोचन

विशेष प्रचार साहित्य में न हुआ हो। इस से अधिक विवरण कोशो मे प्राप्त नही होता। इस प्रकार कोशों में अपभ्रंश शब्द का अर्थ बिगड़ा हुआ शब्द अथवा बिगड़े हुए शब्दों वाली भाषा है।

वैयाकरणिक उल्लेख—संस्कृत व्याकरणशास्त्र के प्राचीन आचार्य व्याडि का मत उद्धृत करते हुए भर्तृहरि ने कहा है कि शब्दसंस्कार से हीन शब्दों का नाम अपभ्रंश है,[१] यथा गौ शब्द के प्रयोग की इच्छा रखने वाला यदि गोणी, गोपोत आदि शब्दों का व्यवहार करे जो साधुसम्मत न हो तो उसे अपभ्रंश कहते हैं। वैयाकरण इस तथ्य से अपरिचित नहीं थे कि भाषा का स्वभाव ही अपभ्रंश है, पर वे साधु भाषा के पक्षपाती थे। इस लिए उन का यह भी कथन है कि परम्परा से विकृत हो कर यह अपभ्रंश चली आ रही है। जो शब्द शिष्टजनो के द्वारा व्यवहृत नहीं होता वह अवाचक है तथा ऐसे ही अवाचक शब्द जब प्रसिद्ध हो जाते है तब वे अपभ्रंश बन जाते है।[२] इस लिए यदि कोई अम्बा, अम्बा करने वाले शिक्षा ग्रहण करते हुए बालक की भाषा को अपभ्रंश कहे तो उचित नही होगा, क्योंकि वह अव्यक्त होती है और व्यक्त होने पर ही उस शब्द के सम्बन्ध में कोई निर्णय दिया जा सकता है।[3]

स्पष्ट है कि शिष्टो के द्वारा प्रयुक्त न होने से तथा संस्कारहीन होने से अव्यवहरणीय शब्दावली को अपभ्रंश कहते है। महाभाष्य में अपभ्रंश का उल्लेख तीन स्थलो पर तथा अपशब्द का प्रयोग कई बार हुआ है। महर्षि पतंजलि का अपशब्द से अभिप्राय व्याकरण के नियमों से पतित शब्द से है। प्राय म्लेच्छ लोग अपशब्दों का व्यवहार करते है इस लिए ब्राह्मणों को अपशब्दों का प्रयोग नही करना चाहिए।[४] महाभाष्य के अध्ययन से पता लगता है कि उस समय म्लेच्छ आदि आर्येतर जातियाँ तथा निम्न श्रेणी की जातियाँ शब्दो को बिगाड कर सहज प्रवृत्ति के अनुसार उन का उच्चारण करती थी। आर्य लोग म्लेच्छों को घृणा की तथा तिरस्कार की दृष्टि से देखते थे। अतएव भौगोलिक परिवर्तन के कारण जब म्लेच्छों से आर्य भाषा के शब्दों का उच्चारण ठीक से न बना होगा तब उन शब्दों को वैयाकरणों ने अपशब्द नाम दिया

चतुर्थ, ३८। अपभ्रंशोऽपशब्दे स्याद्भाषाभेदावपातयो'।—शब्दरत्नसमन्वय कोश। साधु-शब्दस्य शक्तिवैकल्यप्रयुक्तान्यथोच्चारणयुक्तोऽपशब्दे।—शब्दकल्पद्रुम से उद्धृत, प्रथम सस्करण, पृ० २२६।

१ शब्द संस्कारहीनो यो गौरिति प्रयुयुक्षिते। तमपभ्रंशमिच्छन्ति विशिष्टार्थनिवेशिनम्।—वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड, १४८।

२ पारम्पर्यादपभ्रंशा विगुणेष्वभिधातृषु। प्रसिद्धिमागता येषु तेषां साधुरवाचक'॥—वही, १५४।

३ अम्बाम्बेति यथा बाल' शिक्षमाणः प्रभाषते। अव्यक्त तद्विदां तेन व्यक्ते भवति निर्णय'॥—वही, १५२।

४. तेऽसुरा हेलयो हेलय इति कुर्वन्त पराबभूवु.। तस्माद् ब्राह्मणेन न म्लेच्छितवै नापभाषितवै, म्लेच्छो ह वा एष यदपशब्द'।—महाभाष्य, १ अ०, १ पा०, १ आ०। अपशब्दत्वं व्याकरणाननुगत-शब्दस्यैषद्भ्रंशन रथ त भाव —वही

होगा। किन्तु जब आर्यो ने देखा होगा कि भारत मे विस्थापित नीची जातियाँ भी एक शब्द के लिए कई अप्रसिद्ध तथा शब्दानुशासन से हीन शब्दोंका व्यवहार करती हैं तब उसे आर्य जाति और भाषा से गिरा हुआ, अपभ्रष्ट तथा अपभ्रंश कहा होगा। वैयाकरण यह भलीभाँति जानते थे कि समाज मे अपशब्दों का चलन अधिक है और शब्दो का व्यवहार कम है, पर वे शिष्ट भाषा के पक्षपाती थे।[1] पतंजलि वैदिक शब्दों की सिद्धि लोक से मानते है।[2] महाभाष्य में शब्दो की साधुता और असाधुता का विशेष विचार है। नागेश ने आगे चल कर एक नया प्रश्न उपस्थित किया कि साधु शब्दों की भाँति अपभ्रंश मे शक्ति मानी जाये अथवा नही। किन्तु यह कैसे जान सकते है कि यह शब्द साधु है या असाधु ? कुछ लोगों का विचार है कि अनुमान से जान सकते हैं कि वाचक या अवाचक है। इसलिए जो अपभ्रंश का प्रयोग करते हैं उन्हे साधु शब्दों का व्यवहार करना चाहिए।[3] अत्यन्त ऊहापोह के अनन्तर नागेश ने अपभ्रंश शब्दों को साधु शब्दो की भाँति अर्थप्रकाशक मान कर उन का विचार किया है।[4] भाषा की शब्दशक्ति की उन्होंने चार प्रकार से मीमांसा की है।[5] किन्तु कौण्डभट्ट इसे स्वीकार नही करते। उन का कथन है कि असाधु शब्दो मे साधुत्व का भ्रम होने से ही शाब्दबोध होता है।[6] इस प्रकार संस्कृत के वैयाकरण शिष्ट एवं साधु शब्दों के अत्यन्त पक्षपाती दिखाई देते है। दूसरे, अपभ्रंश शब्द का प्रयोग भाषा के अर्थ में न कर 'अपशब्द' के लिए किया गया है। प्राकृत के प्रायः सभी वैयाकरणों ने प्राकृतों के अन्तर्गत अपभ्रंश का विधान किया है। भाषा तो प्रारम्भ से ही 'भाषा' के नाम से प्रचलित रही है। कुमार, पाणिनि, जैनेन्द्र तथा शाकटायन आदि के संस्कारों से 'सस्कृत' नाम से प्रसिद्ध हुई। और तब से संस्कृत, प्राकृत के भेद से भाषा के दो रूप हो गये।[7] आगे चल कर प्रादेशिक भेदोंके आधार पर प्राकृत के भी कई भेद होते गये। टीकाकार मल्लिनाथ के समकालीन

---

१ भूयांसोऽपशब्दा, अल्पीयांस' शब्दा इति। एकैकस्य हि शब्दस्य बहवोऽपभ्रशा। तद्यथा गौरित्यस्य शब्दस्य गावी गौणी गोता गोपोतलिकेत्यादयो बहवोऽपभ्रशा'।—वही।

२ वेदान्नो वैदिका' शब्दा' सिद्धा लोकाच्च लौकिका', अनर्थक व्याकरणम् इति।

३ असाधुरनुमानेन वाचक' कैश्चिदिष्यते। न हि विद्वासोऽपभ्रशादेव साक्षादर्थं पश्यन्ति इति नापशब्दानामर्थेन संबन्ध'। अपशब्दास्तु सादृश्यात्साधुशब्दमनुमापयन्ति।—दुर्बलाचार्य कृत कुञ्जिका टीका, पृ० ६५।

४. एवं साधौ प्रयोक्तव्ये योऽपभ्रंश' प्रयुज्यते।
तेन साधुव्यवहित' कश्चिदर्थोऽभिधीयते॥—वही, पृ० ६६।

५. अपभ्रशा' साधुशब्दैरभेदमिवापन्ना अर्थस्य प्रकाशका इत्यर्थः।—वैयाकरणसिद्धान्तलघुमञ्जूषा की टीका, पृ० ६५।
तथा—सा च शक्ति साधुष्विवापभ्रंशेष्वपि, शक्तिग्राहकशिरोमणेर्व्यवहारस्य तुल्यत्वात्।
(१) अपभ्रंशेषु शक्तिसदसत्त्वविचार', (२) अपभ्रंशे शक्तिग्रहणस्य प्रमाणत्वम्, (३) अपभ्रंशानां शक्तत्व-सिद्धान्त', (४) अपभ्रशानां शक्तत्वेऽवान्तरविचारः।—नागेशभट्ट।

६. असाधुत्वेऽपि साधुत्वभ्रमाद् बोधोऽस्तु नाम, अपभ्रंशवत्।—वैयाकरणभूषणसार। धात्वर्थ-निर्णये पृ० ११०

७ भाषा द्विविधा सस्कृता च प्राकृती चेति भेदत
सस्कृता मता। षष्ठ १ २३

लक्ष्मीधर ने प्राकृतों के छह भेदों का उल्लेख किया है।[1] उन्होंने यह भी कहा है कि साहित्यिक प्राकृत या प्राकृत महाराष्ट्र मे उत्पन्न होने वाली भाषा का नाम है तथा अपभ्रंश आभीर, चण्डाल, यवन आदि नीच जातियो की भाषा है। नाटक आदि काव्यांगों में इस का व्यवहार नही होता।[2] नीच कर्म करने वाली जातियों की भाषा प्राकृत और अपभ्रंश कही जाती है। योगिनी, अप्सरा तथा शिल्पियों की भाषा ब्राह्मणो की भाँति संस्कृत थी।[3] वर्णों के आधार पर भाषा-विधान प्रसिद्ध है; पर निश्चित पता लगता है कि जातियों के अनुसार प्राचीन काल में भाषा-विधान तथा व्यवहार प्रचलित था। इस लिए शताब्दियों तक साहित्य मे प्राकृत को मान्यता नही मिल सकी और उस का तिरस्कार होता रहा। लेकिन नाट्य का सम्बन्ध लोक-जीवन से होने के कारण विवश हो प्राकृतो को स्थान देना पडा; किन्तु उस की अभिव्यक्ति का माध्यम नीच पात्रो को बनाया। इस का यह अर्थ कदापि नही है कि प्राकृत का व्यवहार केवल नीच लोग ही करते थे। यदि ऐसा होता तो कही-कही प्रधान पात्रों तथा रानी, देवी आदि स्त्रीरत्नों के मुख से उस का प्रयोग क्यों कराया जाता? भरतमुनि के नाट्यशास्त्र मे इस का स्पष्ट उल्लेख है।[4] सम्भवतः लोकनाट्य पहले प्राकृत मे लिखे जाते थे। नाट्य जनता की बोली मे ही भलीभाँति प्रदर्शित किया जा सकता है। उस के कई भेद होते थे[5]।

वैयाकरणों ने प्राकृत व्याकरण में प्राकृत के साथ ही अपभ्रंश का विचार किया है। सिंहराज का कथन है कि अपभ्रंश में प्रायः शौरसेनी की भाँति कार्य होता है।[6] प्राकृतरूपावतार की भाँति प्राकृतमणिदीप, प्राकृतशब्दानुशासन, आर्षप्राकृत व्याकरण तथा चण्ड कृत प्राकृतप्रकाश में शौरसेनी प्राकृत के अन्तर्गत अपभ्रंश का विधान मिलता है। स्पष्ट रूप से आ० मार्कण्डेय और आ० हेमचन्द्र अपभ्रंश का विवरण देते है। प्राकृतसर्वस्व में अपभ्रंश के मुख्य तीन भेद कहे गये है[7]—नागर, ब्राचड और उपनागर।

---

१. षड्विधा सा प्राकृती च शौरसेनी च मागधी।
पैशाची चूलिकापैशाच्यपभ्रंश इति क्रमात॥—वही, १, २६।

२ तत्र तु प्राकृतं नाम महाराष्ट्रोद्भवं विदु॥—वही, १, २७।

३. वही, ३३-३६।

४ जातिभाषाश्रयं पाठ्य द्विविध समुदाहृतम्।
प्राकृतं सस्कृत चैव चातुर्वर्ण्यसमाश्रयम्।—नाट्यशास्त्र, १७,३१-३२।
स्त्रीनीचजातिषु तथा नपुंसके प्राकृत योज्यम्।
शिष्टा ये चैव लिङ्गस्थाः संस्कृत तेषु योजयेत्।—वही, १७, ३७-३८।

५ ऋजुस्वभावसस्थान प्राकृतं तु स्वभावजम्।
मङ्गलाध्ययनध्यानस्वभावजयकर्मसु॥
एभ्योऽन्ये बहवो भेदा लोकाभिनयसंश्रयाः।
ते च लोकस्वभावेन प्रयोक्तव्याः प्रयोक्तृभिः॥—वही, ८,३८-३९।
द्विविध हि स्मृतं पाठ्यं संस्कृतं प्राकृत तथा।—वही, ८, १४, ५।

६. शौरसेनीवत्। अपभ्रंशे शौरसेनीवत कार्यं भवति।— २२ १

७ नागरो ते त्रय
परे सूक्ष्मभेदत्वान्न पृथक मता।—प्राकृतसर्वस्व १

अन्य अपभ्रंशों मे बहुत ही सूक्ष्म अन्तर होने से उन का निर्देश अलग से नहीं किया गया। व्राचड सिन्ध की बोली है। उस का जन्म ही सिन्ध मे हुआ[1]। नागर से अभिप्राय गुजरात तथा उपनागर से है जो सिन्ध और गुजरात का मध्यवर्ती (मालव, मारवाड़, पंजाब आदि) प्रदेश कहा जाता है।

वैयाकरणों के इन उल्लेखों से पता चलता है कि अपभ्रंश प्रादेशिक बोलियों के रूप में फैली हुई थी। परन्तु वैयाकरण लोग उन का विवरण देने मे रुचि नहीं रखते थे, क्योंकि वे रूढ भाषा का विचार करते थे। इस के अतिरिक्त साहित्य की भाषा में जो नाम-रूप मिलते थे उन का पूरा-पूरा अभिधान है।

वैयाकरणो की अपेक्षा संस्कृत साहित्य के समालोचकों ने अपभ्रंश का परिचय ठीक से दिया है। आचार्य भामह संस्कृत, प्राकृत की भाँति अपभ्रंश को भी काव्य की भाषा कहते हैं।[2] दण्डी ने अहीर, मछुआ आदि लोगों की भाषा को अपभ्रंश कहा है[3]। उन्होंने अपभ्रंश के प्रादेशिक भेदों के आधार पर छह भेद बताये है[4]। काव्यादर्श में स्पष्ट उल्लेख है कि संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और मिश्रित भाषा मे भी वाङ्मय है[5]। दण्डी ने काव्यप्रपंच के तीन भेद किये है—गद्य, पद्य और मिश्र। भाषा के भेद से उन्होंने चार प्रकार के काव्यो (वाङ्मय) की गिनती की है। यही नही, शास्त्रों में संस्कृत के अतिरिक्त सभी अपभ्रंश है। यहाँ आ० दण्डी शास्त्रकारों की मान्यता से अलग स्पष्ट वक्ता एवं सच्चे आलोचक के रूप मे सम्मुख आते है। इस से यह भी पता लगता है कि दण्डी के समय (सातवी शताब्दी) तक अपभ्रंश मे प्रबन्ध-काव्य लिखे जाने लगे थे। नमि साधु ने भी अपभ्रंश को आभीरी भाषा कहा है[6]। भोज के समय में संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश मे समान रूप से प्रबन्ध-रचना का प्रचार था।[7] आनन्दवर्धन भी प्रबन्ध तथा मुक्तक काव्यों की रचना का उल्लेख संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में करते है[8]। वाग्भट ने संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के साथ ग्राम्य भाषा

---

१. व्राचडो नागरात् सिद्धयेत्। सिन्धुदेशोद्भवो व्राचडोऽपभ्रंशः।—वही, पाद १८, सूत्र १।

२. संस्कृतं प्राकृतं चान्यदपभ्रंश इति त्रिधा।—काव्यालंकार, १, १६।

३. आभीरादिगिरः काव्येष्वपभ्रंश इति स्मृताः।
शास्त्रेषु संस्कृतादन्यदपभ्रंशतयोदितम्॥—काव्यादर्श, १, ३६।

४. प्राकृतसंस्कृतमागधपिशाचभाषाश्च सूरसेनी च।
षष्ठोऽत्र भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रंशः॥—काव्यालंकार, २, १२। (रुद्रट)।

५. तदेतद् वाङ्मयं भूयः संस्कृतं प्राकृतं तथा
अपभ्रंशश्च मिश्रञ्चेत्याहुरार्यश्चतुर्विधम्॥—वही, १, ३२।

६ आभीरीभाषा अपभ्रंशस्था कथिता क्वचिन्मागध्यामपि दृश्यते।
—रुद्रट कृत काव्यालंकार की टीका।

७ संस्कृतेनैव कोऽप्यर्थः प्राकृतेनैव चापरः।
शक्यो योजयितुं कश्चिदपभ्रंशेन वा पुनः॥
पैशाच्या शौरसेन्या च मागधान्या निबध्यते।
द्वित्राभिः कोऽपि भाषाभिः सर्वाभिरपि कश्चन॥

यद्य प्रभेदा मुक्तक

का भी उल्लेख किया है[1]। सम्भवतः हेमचन्द्र के समय में शिष्ट और ग्राम्य नामक साहित्यिक अपभ्रंश के दो रूप प्रचलित[2] थे। परवर्ती समालोचकों मे आ० मम्मट, रामचन्द, गुणचन्द, जिनदत्त, अमरचन्द, विश्वनाथ आदि अपभ्रंश का उल्लेख करते है[3]।

भरत मुनि ने सात भाषाओं के साथ ही विभाषाओं का निर्देश भी किया है। मुख्य भाषाएँ चार है—संस्कृत और प्राकृत तथा अतिभाषा, आर्यभाषा, और जाति भाषा। नाटकों में इन्ही चार भाषाओं का प्रयोग होता था। अति भाषा से अभिप्राय देवभाषा एवं वैदिक शब्दों से भरपूर संस्कृत से तथा आर्यभाषा और जाति भाषा से अर्थ विभिन्न प्राकृतो से है[4]। वस्तुत भाषा संस्कृत मानी जाती थी; प्राकृत नही। नाट्यशास्त्र के उल्लेखों से पता लगता है कि प्राकृत उस युग मे काव्य की समृद्ध भाषा थी। उस के व्याकरण की भी रचना हो चुकी थी। नाट्यशास्त्र में उस का संक्षिप्त व्याकरण भी समाविष्ट है। देश की सस्थिति के आधार पर भाषाओ का विभाजन भरतमुनि की मुख्य विशेषता है। नाटचशास्त्र मे कहा गया है कि गंगा और पूर्वी समुद्र के मध्य की भाषा एकारबहुल है, विन्ध्याचल और महासागर के मध्य की भाषा नकारबहुल है, गुजरात, उज्जैन और बेतवा के उत्तर क्षेत्रों की भाषा प्राय. चकारबहुल है, सिन्ध, सिन्ध का पारपार प्रदेश, वर्तमान पश्चिमी-दक्षिणी पंजाब तथा हिमालय के पार्श्ववर्ती पहाड़ी प्रदेश की भाषा उकारबहुल है तथा बेतवा नदी के किनारे और आबू के टीलो पर रहने वाले ओकारबहुल भाषा का प्रयोग करते है[5]। इस प्रकार भरतमुनि भौगोलिक दृष्टि को ध्यान में रख कर पूर्व की भाषा एकारप्रधान, उत्तर-पश्चिम को उकारबहुल और

---

१. सस्कृत प्राकृतं तस्यापभ्रशो भूतभाषितम्।
इति भाषाश्चतस्रोऽपि यान्ति काव्यस्य कायताम्॥—वाग्भटालंकार, २, १।

२. तथा—तत्र प्राय' सस्कृतप्राकृतापभ्रशग्राम्यभाषानिबद्धभिन्नान्त्यवृत्तसर्गाश्वासकसन्ध्यवस्कन्धकबन्धम्।—काव्यानुशासन, प्रथम अध्याय।

३. उक्त लेखको के ग्रन्थ द्रष्टव्य है।

४. शकाराभीरचण्डालशबरद्रमिलान्ध्रजा।
हीनावनेचराणां च विभाषा नाटके स्मृता'॥—नाट्यशास्त्र, १७, ५०।
संस्कृतैव भाषा स्वरभेदादिपूर्णसंस्कारोपेता संस्कृतभाषा भाषाभेदानामुक्ता वैदिकशब्दबाहुल्या-दार्यभाषातो विलक्षणत्वमस्या इत्यन्ये।—नाट्य० विवृति, अभिनवगुप्त।
अतिभाषा तु देवानामार्यभाषा तु भूभुजाम्।
द्विविधा जातिभाषा च प्रयोगे समुदाहृता।—नाट्शास्त्र, १७, २८-२९।

५ गगासागरमध्ये तु ये देशा. संप्रकीर्तिता'।
एकारबहुला भाषां तेषु तज्ज्ञ' प्रयोजयेत॥
विन्ध्यसागरमध्ये तु ये देशाः श्रुतिमागता'।
नकारबहुला तेषु भाषां तज्ज्ञ प्रयोजयेत्।
सुराष्ट्रावन्तिदेशेषु वेत्रवत्युत्तरेषु च॥
ये देशास्तेषु कुर्वीत चकारप्रायसश्रयाम्।
हिमवत्सिन्धुसौवीरान् ये जना समुपाश्रिता
उकारबहुला तज्ज्ञस्तेषु भाषां प्रयोजयेत।—नाटयशास्त्र १७,५९ ६३

दक्षिण की नकारान्त, मध्यदेश की ओकारान्त तथा पश्चिम की चकारप्रधान भाषा कहते है। नाट्यशास्त्र में दक्षिण की जिन बोलियो मे आभीरोक्ति का उल्लेख हुआ है उस पर भरतमुनि को स्वयं सन्देह है। सम्भव है कुछ घुमन्तू लोग दक्षिण मे पहुँच गये हों और उन्हीं के सम्बन्ध में यह संकेत हो। केवल यह संकेत भर है।[1] इस से स्पष्ट है कि भरतमुनि के समय में अपभ्रंश भिन्न जातियों की बोली थी। मुख्य रूप से उस का सम्बन्ध अहीरों से था। किन्तु यह किस प्रदेश की बोली थी, इस का विवरण हमें नाट्यशास्त्र में नही मिलता। इस के लिए आभीर जाति तथा उस के प्रसार का इतिहास जानना होगा। दसवी शताब्दी तक अपभ्रंश ने बहुत कुछ प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली थी, पर रूढिवादी दृष्टिकोण साहित्य-समाज मे ही नही समालोचको में भी काई की भाँति घर कर चुका था। राजशेखर की काव्य-मीमांसा मे काव्य के परिवेश में शब्द और अर्थ को शरीर, संस्कृत को मुख, प्राकृत को बाहु, अपभ्रंश को जघन, पैशाची को पाद तथा मिश्र भाषा को वक्षस्थल कहा गया है[2], जो सामाजिक मनोवृत्तियो का परिचायक है। अपभ्रंश की प्रवृत्ति उकारान्त है[3] इस लिए भरतमुनि के विवरण से यह निश्चित हो जाता है कि उकारबहुला बोली जो आभीर जाति की भाषा थी आगे चलकर अपभ्रंश कहलायी। काव्यमीमांसा में इसे समूचे मारवाड़, टक्क (वर्तमान पूर्वी पंजाब) और भादानक की भाषा कहा गया है[4]। वस्तुतः अपभ्रंश पश्चिम की भाषा है। उत्तर-पश्चिम तथा पश्चिम की मध्यवर्ती बोली किसी समय अहीरो की भाषा रही होगी। राजशेखर ने काव्य-परीक्षा के लिए सभा में अपभ्रंश के कवियो को पश्चिम मे बैठने पर बल दिया है[5]। इन सब विवरणो से ज्ञात होता है कि अपभ्रंश का प्रथम प्रसार उत्तर से पश्चिम की ओर हुआ होगा। राजशेखर के युग का भारतवर्ष का भाषा सम्बन्धी प्रादेशिक मान-चित्र इस प्रकार था—उत्तर में संस्कृत, पूर्व में प्राकृत, पश्चिम में अपभ्रंश और दक्षिण में भूत-भाषा का प्रचार था। मध्यदेश में बहुभाषाविदो तथा कई भाषाओं के जानकार कवियो का निवास था[6]। मुख्य रूप से उस युग मे ये ही चार भाषाएँ थी। काव्यमीमांसा के

---

१ आभीरोक्तिः शाबरी वा द्रामिडी वनचारिषु।—वही, १७, ५६।
अत्र नोक्तं मया यत्तु लोकाद् ग्राह्य बुधैस्तु तत्॥—वही, १७, ६४।

२. शब्दार्थौ ते शरीरं, संस्कृतं मुखं, प्राकृतं बाहु., जघनमपभ्रंशः, पैशाचं पादौ, उरो मिश्रम्।
—काव्यमीमांसा, तीसरा अध्याय।

३. स्यमो रस्योत्।—हेमशब्दानुशासन, ८, ३३१।

४ गौडाद्याः संस्कृतस्थाः परिचितरुचयः प्राकृते लाटदेश्याः
सापभ्रंशप्रयोगाः सकलमरुभुवष्टक्कभादानकाश्च॥—काव्यमीमांसा, १० अ०।

५. तस्य चोत्तरतः संस्कृता कवयो निविशेरन्। पूर्वेण प्राकृता. कवयः, ततः परं नटनर्तकगायनवादनवाग्जीवनकुशीलवेतालावचरा अन्येऽपि तथाविधाः। पश्चिमेनापभ्रंशिनः कवयः, ततः प... दक्षिणतो भूतभाषाकवयः। वही १० अ०।

६ यो मध्यदेशं निवसति स कवि —वही १० अ

एक और उद्धरण से इस की पुष्टि हो जाती है[१]। गुजरात, त्रवण (पश्चिमी सौराष्ट्र) तथा मारवाड़ मे अपभ्रंश का विशेष प्रचार था। यहाँ तक कि उन देशों के लोग संस्कृत को सौष्ठव के साथ ही अपभ्रंश की भाँति मिश्रित (मिलौनी) बोलते थे।[२] इस प्रकार दसवीं शताब्दी में संस्कृत और प्राकृत के बाद अपभ्रंश काव्य तथा साहित्य मे विशिष्ट रूप से प्रचरित हो गयी थी। अब वह बोली मात्र नहीं थी। संस्कृत-साहित्य के समालोचकों के इन उल्लेखों से यह स्पष्ट हो जाता है कि भरतमुनि जिस आभीरोक्ति अथवा उकारबहुला प्रादेशिक बोली का अभिधान करते है, वही आगे चल कर काव्य की भाषा के रूप में अपभ्रंश नाम से विख्यात हुई।

पौराणिक उल्लेख—विष्णुधर्मोत्तर पुराण चतुर्थ शताब्दी की रचना कही जाती है। उस मे संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के भेद से तीन प्रकार के गीतो का उल्लेख है।[३] उस के विवरण से यह भी पता चलता है कि उस युग में गीतों का अत्यन्त प्रचलन था। संभवत: अपभ्रंश तब तक काव्य की भाषा नहीं बनी थी। वह एक देशी भाषा थी और उस मे धार्मिक तथा लौकिक गीत और पूजाएँ लिखी जाती थी। यहाँ अपभ्रंश का उल्लेख प्राकृत भाषा लक्षण नाम के अन्तर्गत हुआ है। यह तब अपभ्रंश इस लिए कही जाती थी कि देशी होने पर भी प्राकृत का इस पर अत्यन्त प्रभाव था तथा प्राकृत के लक्षणों से इस के लक्षण स्पष्ट नही थे।[४] ई० पू० शताब्दियों मे अपशब्द कह कर जिस का तिरस्कार किया जाता था, ईसवी पश्चात् वही आर्यावर्त क्षेत्र मे अपनायी जाने लगी[५] तथा देशी बोलियो में से निम्न जातियों की बोली को अपभ्रंश नाम दिया गया। शावरभाष्य में देशी भाषाओं के सन्दर्भ में अपभ्रंश का उल्लेख हुआ है।[६] कश्मीरी शैवागम को देखने से पता लगता है कि उस में प्रकृत धर्म और भाषा का अत्यन्त महत्त्व वर्णित है। श्री महेश्वरानन्द ने प्राकृत और अपभ्रंश का विशेष रूप से उल्लेख किया है।[७]

---

१. ससंस्कृतामपभ्रंश लालित्यालिङ्गितं पठेत्।
प्राकृतं भूतभाषां च सौष्ठवोत्तरमुद्गिरेत्॥—वही, ७ अ०।

२. सुराष्ट्रत्रवणाद्या ये पठन्त्यर्पितसौष्ठवम्।
अपभ्रंशवदंशानि ते संस्कृतवचास्यपि॥—वही, ७ अ०।

३. संस्कृत प्राकृतं चैव गीतं द्विविधमुच्यते।
अपभ्रष्ट तृतीयं तु तदनन्तं नराधिप॥ विष्णुधर्मोत्तर, खण्ड ३, अ० २।३।२।१०

४. न शक्यते लक्षणस्तु वक्तुम्।
लोकेषु यत्स्यादपभ्रष्टसंज्ञं ज्ञेयं हि तद्देशविदोऽधिकारम्॥—वही, ३।७।१२

५. ये शब्दा न प्रसिद्धा स्युरार्यावर्तनिवासिनाम्।
तेषां म्लेच्छप्रसिद्धोऽर्थो ग्राह्यो नेति विचार्यते॥—तन्त्रवार्तिक, १।३।११

६. देशभाषापभ्रंशपदानि हि विप्लुति भूयिष्ठानि न शक्यन्ते विवेक्तुम्।

७. इह हि विद्यायां त्रिष्वपि बीजेष्ववस्था तृतीयमस्ति सम्प्रदायस्य कश्मीरोद्गतत्वात् प्राकृतभाषाविशेषत्वाच्च यथा संप्रदाय व्यवहार इत्युपदेश इति। तथा—संस्कृतव्यतिरेकेणान्या सर्वापि भाषापभ्रंश··· शास्त्रेषु ——— प्रकृतयोच्यते महार्थमञ्जरी १६२-३

अपभ्रंश सम्बन्धी विविध उल्लेख यत्र-तत्र बिखरे हुए भी मिलते हैं वलभी के राज। धरसेन के शिलालेख में भी संस्कृत, प्राकृत की श्रेणी में अपभ्रंश का उल्लेख है।[1]

केवल अपभ्रंश नाम को सूचित करने वाले विविध उल्लेख प्राप्त होते है। इन उल्लेखों से यही पता लगता है कि छठी शताब्दी के पूर्व अपभ्रंश का प्रचलन हो गया था।

अपभ्रंश कवियों की विज्ञप्ति—उपलब्ध अपभ्रंश साहित्य मे महाकवि स्वयम्भू का 'पउमचरिउ' प्रथम रचना है। कवि ने अपनी इस रामकथा को संस्कृत तथा प्राकृत रूपी पुलिनों से अलंकृत देशी भाषा रूपी दो तटों से उज्ज्वल कहा है।[2] उन्हों ने यह भी कहा है कि मेरे वचन ग्रामीण भाषा से रहित है। सामान्य भाषा मे ही आगम की युक्तियों को रच रहा हूँ।[3] स्वयम्भू का रचना-काल आठवी शताब्दी कहा जाता है।

उदधरणों से पता लगता है कि उन के समय मे अपभ्रंश बोली जाती थी और पढ़ी-पढ़ाई भी जाती थी। आदि जिन ऋषभ की पुत्री ने अन्य शिक्षाओं के साथ अपभ्रंश की शिक्षा भी ग्रहण की थी। स्वयम्भू की भाँति महाकवि पुष्पदन्त (१० वी शताब्दी) भी अपने काव्यों की भाषा देशी कहते है।[4] इसी प्रकार कवि पद्मदेव भी 'देसीसद्दत्थगाढ' कह कर अपनी भाषा का परिचय देते हैं।[5] प्रायः सभी अपभ्रंश के कवियों ने काव्य की भाषा देशी में काव्य-रचना की है।

अब्दुलरहमान अवश्य अवहट्ट कह कर अपभ्रंश की ओर संकेत करते हैं।[6] कोऊहल प्राकृत को भाषा तथा बोलियों को देशी कहते हैं। उन की लीलावती कथा में भी देशी शब्द भरपूर हैं।[7] इस प्रकार अपभ्रंश के अधिकतर लेखक अपनी भाषा को देशी कहते हैं। अवहंस और अवहट्ट जैसे शब्द भी अपभ्रंश के लिए प्रयुक्त मिलते है।

---

१ संस्कृतप्राकृतापभ्रंशभाषात्रयप्रतिबद्धप्रबन्धरचनानिपुणतरान्तःकरण ।—वलभी के धरसेन द्वितीय का दानपत्र। इण्डियन एण्टिक्वेरी, भा० १०, अक्तूबर १८८१, पृ० २८४।

२ दीहसमासपवाहावंकिय सक्कयपाययपुलिणालंकिय।
देसीभासा उभय तडुज्जल कविदुक्करघणसद्दसिलायल।—पउमचरिउ, १,२।

३ सामण्ण भास छुडु सावडउ छुडु आगमजुत्ति का वि घडउ।
छुडु होन्तु सुहासिय वयणाइं गामिल्ल भास परिहरणाइं।—वही, १,३।

४ णोमेसदेसभासउ चवंति, लक्खणइं विसिट्ठइं दक्खवंति।—णायकुमारचरिउ, १।१।

णउ हउं होमि वियक्खणु ण मुणमि,
लक्खणु छंदु देसि ण वियाणमि।—महापुराण, १,८,१०।

५, वायरणु देसिसद्दत्थगाढ छंदालंकारविसालपोढ।—पासणाहचरिउ, १,१

६, अवहट्टयसक्कयपाइयंमि पेसाइयंमि भासाए।
लक्खणछंदाहरणे सुकइत्तं भूसियं जेहि।—सन्देशरासक, १,६।

७ एमेय मुद्धजुयईमनोहरं पाययाए भासाए
पविरल देसी सुलक्ख कहसु कहं दिव्व माणुसिय।—लीलावई कहा, गाहा ४१

किन्तु देशी कहने की प्रथा हमे प्राकृत-युग से मिलने लगती है।[१] इस लिए यदि अपभ्रंश के कवि अपनी रचना की भाषा देशी कहते हैं तो वह परम्परागत भाषा का अभिधान मात्र है। और यह सच है कि चौथी-पाँचवी शताब्दी में अपभ्रंश मे भाषा-काव्यों की रचना होने लगी थी। आठवीं शताब्दी के लगते-लगते यह परिनिष्ठित अपभ्रंश बन चुकी थी। पुष्पदन्त की रचनाएँ प्रौढ़ भाषा में निबद्ध है। स्वयम्भू की भाषा से उस मे विशेष अन्तर है। पउमचरिउ भी जनता की बोली में नही लिखा गया है। स्वयम्भू से बहुत पहले ही अपभ्रंश में रचना हो चुकी थी। अपभ्रंश के कई कवियों ने चतुर्मुख के साथ स्वयम्भू का उल्लेख किया है।[२] सम्भवतः भद्द भी स्वयम्भू के पूर्ववर्ती कवि है।[३] स्वयम्भू के समकालीन कवियों में मुख्य हैं—[४] धुत्त, माउरदेव, धनदेव, अज्जदेव, छइल्ल, गोइन्द, जिनदास, विअड्ढ, सुद्धसील आदि। इस से स्पष्ट है कि लोक मे अपभ्रंश-कविता आठवीं शताब्दी के पूर्व भी भली-भाँति प्रचलित थी।

संक्षेप मे कहा जा सकता है कि अपभ्रंश भरतमुनि के युग मे आभीरो की बोली मात्र थी। छठी सदी मे वह काव्य की भाषा बन चुकी थी। किन्तु बोलचाल की भाषा से उस का सम्बन्ध बराबर बना रहा। साहित्य की भाषा लोक मे 'अवहंस' नाम से तब प्रचलित थी। वही आगे चल कर अवहट्ट कहलायी। सन्देशरासक और कीर्तिलता की भाषा अवहट्ट है।[५] इस का अपभ्रंश नाम वैयाकरणो द्वारा अभिहित किया गया प्रतीत होता है। क्यों कि म्लेच्छों की भाषा के लिए अपशब्द अत्यन्त प्राचीन काल से

---

१ जो पाउअस्स सारो तस्स मए लक्खलक्खणं सिट्ठम्।
एत्ताहे अवहंसे साहिज्जन्तं णिसामेह ॥—स्वयम्भूछन्द, ४,१।

एत्थ सअंभुच्छन्दं अवहंसन्तं परिसमत्तम्। वही, ८, ५२।

पालित्तएण रइया वित्थरओ तह य देसिवयणेहिं
नामेण तरंगवई कहा विचित्ता य विउला य।—सनत्कुमार चरित की भूमिका, डॉ० जैकोबी पृ० १८।

ण समाणमि छंदु न बंधभेउ ण हीणाहिउ मत्तासमेउ।
णउ सक्कउ पायउ देसभास णउ सद्दु वण्णु जाणमि समास।—णेमिणाहचरिउ (लक्ष्मणदेव) पाहुडदोहा की भूमिका से उद्धृत, पृ० ४५।

२ स्वयम्भू, पुष्पदन्त, नयनदी, देवसेनगणि, लक्ष्मण, अब्दुलरहमान, धनपाल, महिन्दु और रइधू ने चतुर्मुख का सादर स्मरण किया है।

३ त्रिभुवन स्वयम्भू की उक्ति है—
जलकीलाए सयम्भू चउमुह एवं च गोग्गह कहाए।
भद्दं च मच्छवेहे अज्ज वि कइणो ण पावन्ति॥—पउमचरिउ १४ १३ ६

४ देखिए स्वयम्भूछन्द अ० ४

व्यवहार मे था ।[1] उसी के अनुकरण पर अपभ्रंश शब्द चलन में आ गया। प्रमाणों से पता लगता है कि छठी सदी से पहले अपभ्रंश कविता का जनता मे सम्यक् प्रचार था। संस्कृत-साहित्य के समालोचक भामह के उल्लेख तथा धरसेन के शिलालेख के विवरण से स्पष्ट है कि छठी सदी में संस्कृत, प्राकृत की भाँति अपभ्रंश में भी प्रबन्ध काव्य लिखे जाते थे। दसवीं सदी के लगते तक काव्य के तीन भेद संस्कृत समालोचकों के द्वारा स्वीकृत हो चुके थे।[2] परवर्ती काल मे इस के कई भेद स्पष्ट होने लगते हैं। प्राकृत की भाँति अपभ्रंश की काव्यधारा भी देशी परम्परा की है, इस लिए अपभ्रंश लेखक अपने काव्य की भाषा देशी कहते हैं।

आभीर और आभीरी—ऐतिहासिक विवरणो से पता चलता है कि आभीर एक विदेशी जाति थी। सम्भवतः शकों के आने के पूर्व वह पूर्वी ईरान के किसी भाग में रहती थी।[3] आभीर किसी समय इण्डस नदी के किनारे पर रहते थे। प्रसिद्ध भूगोल-शास्त्री प्टोलेमी के अनुसार सिन्धु के निम्नवर्ती प्रदेश की घाटा और काठियावाड़ के मध्य मे स्थित अबोरिया प्रदेश आभीर देश था।[4] यद्यपि आभीर म्लेच्छ कहे जाते हैं, पर उन्हे अनार्य नही कहा जा सकता। गुण्ड के शिलालेख (१८१ ई०) में आभीर सेनापति रुद्रभूति के द्वारा ग्राम में वापी खुदवाने का उल्लेख है[5]। महान् सिकन्दर के आक्रमण के समय उत्तरी सिन्ध में जो शूद्र रहते थे ग्रीक वासी उन्हे सोद्रोइ कहते थे। सोद्रोइ का सम्बन्ध आभीरो से बताया जाता है जो सरस्वती के तट पर रहते थे[6]। गुप्तकालीन राजा समुद्रगुप्त के समय (३६० ई०) आभीर राजपूताना, मालवा, और पश्चिमी सीमान्त प्रदेशों में रहते थे। वस्तुतः अहीरों का अभ्युदय गुप्त युग में हुआ। आभीर राजा ईश्वरसेन महाराष्ट्र प्रदेश में २४८ ई० के लगभग राज्य करता था। इसके पूर्व आभीर आयुधजीवी जाति के रूप में प्रसिद्ध थे। समुद्रगुप्त के युग में नौ जातीय प्रदेशों मे आभीरवंश का भी अपना राज्य तथा प्रजातन्त्रीय शासन था। स्मिथ ने उन की स्थिति झाँसी और विदिशा के मध्य में अहीरवाड़ा प्रदेश मे कही है।[7] किन्तु अहीर देश के विभिन्न भागो मे समय-समय पर फैलते रहे हैं। इस लिए उत्तर से लेकर पश्चिमी सीमान्त प्रदेश, गुजरात, मालवा और दक्षिण भारत तक विस्थापित आभीर राजाओ के राज्य करने के विवरण प्राप्त होते हैं। पुराणों में भी आभीर राजाओ का

---

१. पतञ्जलि · महाभाष्य, १,१,१।
२. दे०, काव्यालंकार, १,१६। काव्यादर्श, १,३२।
३. द एज ऑव् इम्पीरियल युनिटी, जिल्द २, तृतीय संस्करण, पृ० २२१।
४. के० पी० जायसवाल हिन्दू पोलिटी, प्रथम जिल्द, तृतीय संस्करण, पृ० १३६।
५. सीहस्य (व) र्षे (त्र) युत्तरशते बैशाख शुद्धे पंचमिधन्यतिथौ रो (हि) णि नक्षत्रमुहूर्ते आभीरेण सेनापति वापकस्य पुत्रेण सेनापतिरुद्रभूतिना ग्रामे रसो···इपीग्राफिया इण्डिका, जिल्द २६ भाग ८, अक्तूबर १६४०, पृ० २०३।
६. के० ए० नीलकान्त शास्त्री : एज ऑव द नन्दाज एण्ड मौर्याज, प्रथम संस्करण, १६५२, पृ० ४०।
७ डॉ० सुधाकर अर्ली हिस्ट्री ऑव नाग इण्डिया प्रथम सस्करण १६५८ पृ० ११६।

उल्लेख मिलता है।[1]

पौराणिक तथा धार्मिक उल्लेखो से निश्चित हो जाता है कि आभीर शूद्र थे। कात्यायन ने महाशूद्र शब्द की पहचान आभीर जाति से करायी है।[2] इस पर से डॉ० अग्रवाल का अनुमान है कि सामाजिक व्यवहार और छुआछूत की दृष्टि से आभीरों का पद ऊँचा होने से वे महाशूद्र (ऊँचे शूद्र) कहलाये।[3] आभीर शूद्रों मे विशेष रूप से वर्णित है। महाभाष्य में 'शूद्राभीर' समस्त पद मे आभीर शब्द जाति विशेष का वाचक है।[4] डॉ० जायसवाल का मत है कि प्टोलेमी के अनुसार सिन्ध का लाडक प्रदेश अबीरिया कहा जाता था तथा जान पडता है कि गुजरात के आभीर अशोक के समय के राष्ट्रिक और महाभारत युग के यादव है।[5] पुराणों के विवरणो तथा अन्य प्रमाणो से भी इस की पुष्टि होती है कि यादव क्षत्रियो की एक शाखा आगे चल कर आभीर कहलायी। शक्तिसंगमतन्त्र मे स्पष्ट उल्लेख है कि आहुक वंश से आभीरो की उत्पत्ति हुई है।[6] इसी प्रकार जातिविवेकाध्याय में भी वर्णित है।[7] ब्राह्मणोत्पत्ति-मार्तण्ड में ऐसे ब्राह्मणो की उत्पत्ति का विवरण है जो मूलतः भील थे। इन्हे आभिल्ल या आभीर ब्राह्मण कहा जाता था।[8] पृथ्वीराजरासो मे छत्तीस क्षत्रिय वंशो के वर्णन मे आभीर का भी उल्लेख है।[9] मत्स्यपुराण मे यदुवश के वर्णन के सन्दर्भ मे हैहय तथा आहुक वंशी राजाओं का भी विवरण मिलता है, जिस से उन के सम्बन्ध का भी पता लगता है।[10] डा० गुरे के अनुसार दक्षिण की कोली जाति की अग्री, अहीर और भील तीन उपजातियाँ है। मराठे ग्वालों की उपजाति अहीर, कुनबी, कुरुवा और मराठा कही जाती है।[11] मध्यप्रदेश के अहीरो मे क्षत्रियो की भाँति गोत्र और वंश देखे जाते है। उन की चार उपजातियाँ हैं—जिझोतिया, नरवरिया, कोसरिया, कनोजिया[12]। जान पड़ता है कि

---

१. सप्ताभीरा आवभृत्या दश गर्दभिनो नृपा।
कङ्का. षोडश भूपाला भविष्यन्त्यतिलोलुपा॥—श्रीमद्भागवत, १२,१,२९।

२ अजाद्यतष्टाप् ।४,१,४।
महाशूद्रशब्दो ह्याभीरजातिवचनस्तत्र तदन्तविधिना टाप् प्राप्त' प्रतिषिद्धयते।
आ० वामनजयादित्य कृत काशिका वृत्ति।

३. डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल पाणिनीकालीन भारतवर्ष, प्रथम संस्करण, पृ० ९५।

४ यदि सामान्यविशेषवाचिनोर्द्वन्द्वा न भवतीत्युच्यते, शूद्राभीरं गोवलीवर्दं तृणोलपमिति न सिध्यति। नैष दोष.। इह तावच्छूद्राभीरमिति, आभीरा जात्यन्तराणि।—महाभाष्य, १,२,७२।

५. हिन्दू पोलिटी, प्रथम भाग, तृतीय संस्करण, पृ० १३६।

६ आहुकवंशात समुद्भूता' आभीरा इति प्रकीर्तिता.।—शक्तिसंगमतन्त्र।

७ आहुकजन्नवन्तश्च आभीराः क्षत्रिया भवन्। जातिविवेकाध्याय।

८ ब्राह्मणोत्पत्ति मार्तण्ड. पृ० ३४७।

९. रवि ससि जाधव वंस, कुकुत्स्थ परमार सदावर।
चहुवान चालुक्क, छंदक सिलार अभीयर॥—पृथ्वीराजरासो, समय १,६–२७७।

१०. शतजैरपि दायादस्त्रय परमकीर्तयः। हैहयश्च हयश्चैव तथा वेणुहयश्च य.। मत्स्य पुराण, ४३,८।
तस्यासीत् पुत्रमिथुनं बभूवाविजितं किल। आहुकश्चाहुकी चैव ख्यातं मतिमतांवर। वही४४,६६।

११ डॉ० जी० एस० गुरे कास्ट एण्ड क्लास इन इण्डिया, प्रथम संस्करण पृ० ३०।

१२ वही पृ० ३५

प्रादेशिक भिन्नता और सामाजिक भेद के कारण अहीर कई उपजातियों में बँट गये थे। सम्भव है कि गूजर और अहीर किसी समय एक रहे हों। गूजर जाति आज भी उत्तर भारत में सिन्ध और गंगा के मध्य प्रदेश में चारों ओर फैली हुई है। इस जाति के अधिकार में कई बड़े-बड़े दुर्ग तथा गढ़ रहे हैं। गुजरात, गुजरवाँ तथा गुजरानवाला आदि नामों से इस का पूरा सम्बन्ध है। जाट, गूजर और अहीरों की सामाजिक दशा लगभग एक-सी रही है।[1] गूजर की भाँति अहीर भी सवर्ण हिन्दू है। दोनों ही गाय भैंस तथा पशुओं के पालन का कार्य करते हैं। ई० की पाँचवीं शताब्दी में दक्षिण-पश्चिमी राजपूताने में एक गूजर रियासत थी। बुन्देलखण्ड में कुछ वर्षों पूर्व तक समथर रियासत गूजरों की रही है।[2] श्री सकसेना ने गूजर की गणना संयुक्तप्रान्त की अपराधी जातियों में की है।[3] अबुलफजल ने राजपूतों के अन्तर्गत अहीर, लोध, गूजर, बागड़ी, कुर्मी, मीना, मेव, मेहतर, भील, कोली, ग्वालिया, गरछिया, खसिया, बावरिया, बिसेन, बैस, खाण्ड और खारीकी का उल्लेख किया है।[4] महाराष्ट्र सम्प्रदाय में अभिल्ल या आभीर ब्राह्मण प्रसिद्ध हैं।[5] व्यासस्मृति में गोप को अन्त्यज कहा गया है।[6] ब्रह्मवैवर्तकार स्पष्ट रूप से गोप, नाई, भील आदि को सत् शूद्र कहते हैं।[7] पश्चिमोत्तर प्रदेशों में आभीर गोपविशेष हैं। इन को अहीर, गोपाल कहते हैं। इन का जल दूषित नहीं माना जाता।[8] वस्तुतः अहीर वर्णसंकर जाति है।[9] प्राचीनतम युग में आभीर क्षत्रिय रहे होंगे, किन्तु ज्यों-ज्यों उन में आचरणहीनता बढ़ती गयी वे शूद्रों की श्रेणी में सम्मिलित होते गये। अन्त में उन्हें शूद्र ही कहा जाने लगा। इस का संकेत हमें मनुस्मृति में मिलता है।[10] कालान्तर में अहीरों में कई भेद-प्रभेद हो गये। कुछ लोग अपने को बाबानन्द के वंशज मानते हैं और कुछ भगवान् श्रीकृष्ण से अपना सम्बन्ध बताते हुए अपने को यदुवंशी कहते हैं। छत्तीसगढ़ में सामान्यतः अपने को राउत कहते हैं। राउत शब्द अपभ्रंश भाषा का है जिस का अर्थ राजपुत्र या राजपूत है। किसी

---

१. प्रकाशनारायण सक्सेना : संयुक्त प्रान्त की अपराधी जातियाँ, प्रथम संस्करण, पृ० १२३।

२ वही : पृ० १२२।

३ वही : पृ० ७।

४ आइने अकबरी, जिल्द ३, जरैंट द्वारा अनूदित, १८९४, पृ० ११८।

५ पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र : जातिभास्कर, १९५८, पृ० २०३।

६ ब्राह्मण्यां शूद्रजनितश्चाण्डालस्त्रिविधः स्मृतः ।
बद्धको नापितो गोप आशाप' कुम्भकारकः ।—व्याससमृति, १,१०।

७. गोपनापितभिल्लाश्च तथा मोदककूबरौ ।
ताम्बूलिस्वर्णकारौ च तथा वणिक्जातय ॥
इत्येवमाद्या विप्रेन्द्र सत्शूद्रा परिकीर्तिता ।—ब्रह्मवैवर्तपुराण, १०,१० अ० १६-१८।

८. जातिभास्कर, पृ० ४७७।

९. वैश्य एव आभीरो गवाद्युपजीवी, इति प्रकृतिवाद. ।
मणिबन्ध्यां तन्तुवायाद्गोपजातेश्च संभवः ।—वही, २८१, पृ० ४७७।

१० शनकैस्तु [illegible] र्गा
वृषलत्व गता लोके [illegible] च ।—मनुस्मृति १० ४३

समय अहीरो की गिनती राजपूतों मे की जाती थी। सूर्यवंशी राजाओ के छ्यानवे कुलो मे रावत भी एक राजकुल था।[1] राजपूतो के अन्तर्गत राउतों के भी कई भेद है।[2] इस देश के लगभग सभी भागो में विभिन्न प्रान्तों के अहीर, राउत मिलते है। छत्तीसगढ में ही कन्नोजिया, झिरिया, जुझोतिया, देसिया आदि के राउतों का निवास है। ये लोग अपने को गहिरा भी कहते है। सम्भव है कि गहरवाल वंश की किसी शाखा से भी इन का सम्बन्ध रहा हो। कोसरिया मूलतः बंगाल के है, जिन की मूल आजीविका गन्ना (कुसर) उत्पादन करना कहा जाता है।

आभीरो का निवास स्थल—आभीरो के मूलनिवास के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ कहना बहुत कठिन है, पर प्राप्त उल्लेखों के आधार पर कहा जा सकता है कि पहले पहल आर्यों की भाँति अहीर भी उत्तरापथ के सिन्धु प्रदेश की घाटी के आस-पास कहीं बसे हुए थे। ब्रह्मपुराण के २१२ अध्याय में आभीरार्जुन संवाद मे अर्जुन धन-धान्य से समृद्ध पंचनद प्रदेश मे जाते है, जहाँ पहुँच कर आभीर से उन की मन्त्रणा होती है। वायुपुराण, मत्स्यपुराण तथा महाभारत में उत्तर दिशा मे कहे गये देशों में आभीर प्रदेश का उल्लेख है।[3] किन्तु ब्रह्मपुराण मे दक्षिणापथ के राज्यों में आभीर का नाम मिलता है।[4] श्रीमद्भागवत के विवरण से यह पता लगता है कि मध्यदेश और दक्षिण के बीच कहीं आभीर राजाओं का शासन था, जो प्रायः शूद्र थे। बृहत्संहिता मे दक्षिण में तथा नैर्ऋत्यकोण में आभीरप्रदेश कहा गया है।[5] किसी-किसी ने पश्चिम दिशा में भी उस का उल्लेख किया है। इन उल्लेखो के विवरण से यही प्रतीत होता है कि आभीरों का प्रसार उत्तर से पश्चिम की ओर तथा दक्षिण की ओर हुआ। शक्तिसंगमतन्त्र के अनुसार विन्ध्याचल पर आभीर देश स्थित था।[6] किन्तु वराहमिहिर के एक अन्य उल्लेख से स्पष्ट हो जाता है कि आभीरों का निवास बहुत पहले से पश्चिम-दक्षिण में रहा है।[7] गुप्त युग के पूर्व ही अहीर लोग दक्षिण की ओर मालवा से आगे काठियावाड़ और नर्मदा एवं विन्ध्याचल के मध्य बसे हुए थे। गुजरात मे आभीर बहुत समय से बसे हुए हैं। गृहरिपु आभीर राजा था। उन की भाषा अपभ्रंश साहित्य की भाषा थी।

---

१. जातिभास्कर, पृ० २३१।

२ वही, पृ० २५४।

३. मत्स्यपुराण, ११३. ४०। वायुपुराण, ४५. ११५। महाभारत, भीष्मपर्व, अ० ६, ४७।

४. आभीरा सह वैशिक्या अटव्या सरवाश्च ये।
पुलिन्दाश्चैव मौलेया वैदर्भा दन्तकै' सह ॥—ब्रह्मपुराण, २७, ५६।

५. कङ्कटटङ्कणवनवासिशिबिकफणिकारकोङ्कणाभीरा' ।—बृहत्संहिता, १४, १२। तथा—फेणगिरियवनमाकरकर्णप्रावेयपाराशरशूद्राः।
बर्बरकिरातखण्डक्रव्याश्याभीरचञ्चूका। ॥—वही, १४,१८।

६ श्रीकोङ्कणादधोभागे तापीत. पश्चिमे तटे।
आभीरदेशो देवेशि विन्ध्यशैले व्यवस्थितः ।—आप्टे ' डिक्शनरी, पृ० ३४३।

७ आनर्तार्बुदपुष्करसौराष्ट्राभीरशूद्ररैवतकाः।
नष्टा यस्मिन्देशे सरस्वती पश्चिमो देश' ॥—बृहत्संहिता, १६, ३१।

वलभी के उत्थान के पूर्व ही अपभ्रंश साहित्य की भाषा बन चुकी थी।[1] यही नहीं, गुजरात और दक्षिण भारत में आभीरों की सामाजिक स्थिति महत्त्वपूर्ण रही है। उन की भाषा तथा नाम विदेशी नहीं हैं।[2] आलोच्य काल में अहीरों की जिस आभीर भाषा का उल्लेख किया जाता है उस का सम्बन्ध गुजरात, राजपूताना और मालवा की भाषा में देखा जा सकता है। यद्यपि आचार्य दण्डी ने आभीर आदि की बोली को अपभ्रंश कहा है, पर आदि शब्द से जिन जातियों का उल्लेख किया जाता है वे निम्न जातियाँ हैं और उन का निवास आर्यावर्त में कहा गया है।[3]

आभीरी

आचार्य भरतमुनि ने विभाषा के रूप में जिस आभीर या आभीरोक्ति का उल्लेख किया है उसी की पहचान दण्डी "आभीरादिगिरः" में कराते हैं।[4] भरतमुनि के युग में भाषा प्रादेशिक नाम-रूपों के भेद से सात थीं, पर प्रान्तों में बोली जाने वाली बोलियों से कुछ पृथक् नीच जाति के लोगों की बोलियाँ सम्भवतः उन्हें ही विभाषा कहा गया है। इन विभाषाओं में आभीर के साथ ही शकार, चण्डाल, शबर और द्रविड जातियों की बोली को भी विभाषा में गिनाया गया है। मृच्छकटिक की टीका में पृथ्वीधर ने संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश को भारतवर्ष की मुख्य साहित्यिक भाषा कहा है। प्राकृत भाषाओं में मागधी, अवन्तिका, प्राच्या, शौरसेनी, अर्धमागधी, वाह्लीका और दाक्षिणात्या (महाराष्ट्री) मुख्य हैं। अपभ्रंशों में भी शकारी, आभीरी, चाण्डाली, शाबरी, द्राविडी, उड्रजा तथा वनेचरों की भाषा ढक्की मुख्य हैं। प्राकृतों को भाषा और अपभ्रंशों को विभाषा माना गया है।[5] मृच्छकटिक में हमें शौरसेनी, अवन्ति, प्राच्या, मागधी, शकारी, चाण्डाली और ढक्की सात भाषाओं का प्रयोग दिखाई देता है। प्रतिनायक शकार शकारी बोली में ही बोलता है। शकारबहुल होने से शकारों की भाषा शकारी कही जाती है।[6] किन्तु शकार राष्ट्रिय कहा गया है, और इस लिए उस की भाषा राष्ट्रिया जाननी चाहिए।[7] आ० दण्डी के 'आभीरादिगिर.'

---

१. के० एम० मुन्शी द ग्लोरी देट वाज गुर्जरदेश; भाग ३, प्रथम संस्करण, पृ० ११६।

२. वही पृ० ११६।

३ निषादो मार्गवं सूते दास नौकर्मजीवनम्।
कैवर्त इति य प्राहुरार्यावर्त निवासिन ॥—मनुस्मृति, १०, ३४।

४. गजाश्वाजाविकोष्ट्रादिघोषस्थाननिवासिनाम्।
आभीरोक्ति. शाबरी वा द्रामिडी वनचारिषु ॥—नाट्यशास्त्र, १७, ५६।
आभीरादिगिर' काव्येष्वपभ्रंश इति स्मृता'।
शास्त्रेषु संस्कृतादन्यदपभ्रंशतयोदितम् ॥—काव्यादर्श, १, ३६।

५. प्राकृते—मागध्यवन्तिजा प्राच्या शौरसेन्यर्धमागधी।
वाह्लीका दाक्षिणात्या च सप्त भाषा प्रकीर्तिता' ॥—मृच्छकटिक टीका १, १। पृथ्वीधर।
दे०, नाट्यशास्त्र, १७-४६, ५०।

६. शकाराणां शकादीनां शाकरी संप्रयोजयेत्।
तालव्यशकारबहुलत्वादेव भाषाया अस्या' शाकारीति संज्ञा।—मृच्छकटिक टीका।

७ शकारो राष्ट्रियः स्मृत' इति वचनात् शकारस्य भाषा राष्ट्रिया विज्ञेया '—वही।

पद पर रंगाचार्य की टीका है कि गोप, शबर, शक और चाण्डाल आदि की भाषा आभीरी, शाबरी, चाण्डाली आदि है। इस प्रकार के उद्धरणों से यह पता लगता है कि आभीरी गोप, ग्वाला या गौली लोगों की बोली थी, जो समाज के निम्न वर्ग की भाषा मानी जाती थी। भरतमुनि तथा पृथ्वीधर के विवरण से यह भी प्रतीत होता है कि यह वनेचर लोगों की भी बोली थी। क्योंकि पृथ्वीधर ने वनेचरों की जिस ढक्क विभाषा का उल्लेख किया है वह उकारबहुल[1] है और अपभ्रंश से उस का पूर्ण साम्य है। यथार्थ में आभीर जाति किसी एक प्रान्त में स्थायी रूप से नहीं रही। उसे भ्रमणशील कहा गया है जो उचित ही है[2]। सिन्ध से ले कर दक्षिण भारत तक फैले हुए अहीरों की भाषा में विविध प्रादेशिक भेद मिलते हैं। इसलिए हम उत्तर से दक्षिण भारत तक विभिन्न प्रदेशों में फैली हुई भाषाओं के कुछ शब्दरूपों तथा प्रत्ययों की बानगी आज भी प्राप्त कर सकते हैं[3]। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि अपभ्रंश का प्रसार उत्तर से पश्चिम, पूरब तथा दक्षिण की ओर—हुआ है। आ० भरतमुनि के समय में आभीर बोली प्रचलित थी, जो हिमवान्, सिन्धु, सौवीर और निकटवर्ती प्रदेशों में रहने वाले लोगों की भाषा थी[4]। पुराणों के उल्लेखों से भी उत्तरापथ में आभीरों की तथा आभीर प्रदेश की स्थिति का पता चलता है। किन्तु इन प्रमाणों के मिलने पर भी निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता—कि अपभ्रंश अहीरों की बोली थी। क्योंकि उक्त अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि शिष्ट लोगों की भाषा की तुलना में अपभ्रंश नीची थी और इसी लिए अपशब्दों की प्रचुरता से उसे शूद्रों, म्लेच्छों या महाशूद्रों अथवा आभीर आदि निम्न जातियों की विभाषा (बोली) कहा गया है। यदि वह अहीर, भील, मछुआ आदि लोगों की बोली होती तो उन के द्वारा लिखे हुए साहित्य या प्रदेश विशेष की बोली का निर्देश अवश्य मिलता। फिर, भाषा-विकास की दृष्टि से अध्ययन करने में कई प्रकार की विप्रतिपत्तियाँ उपस्थित होती हैं। अतएव जातिविशेष से भाषा का सम्बन्ध न जोड कर प्रवृत्ति-विशेष से उस की पहचान करना उचित जान पडता है। कारण स्पष्ट है कि अपभ्रंश का उपलब्ध अधिकांश साहित्य जैन साहित्य है। इसलिए भरतमुनि ने जिसे उकारबहुल कहा है वह भाषा विशेष की प्रवृत्ति का लक्षण है, जो विशेष रूप से अपभ्रंश में ही लक्षित होता है तथा जो प्राकृत की ओकारान्त प्रवृत्ति का ह्रस्वान्त रूप है। अतएव प्राकृत की भाँति अपभ्रंश को भी जन-सामान्य की भाषा कहना समीचीन जान पड़ता है।

---

१. व (उ) कारप्राया ढक्कविभाषा। संस्कृतप्रायत्वे दन्त्यतालव्यसशकारद्वययुक्ता च।

२. सी० डी० दलाल और गुणे ' भविसयत्तकहा की भूमिका, १९२३, पृ० ४६।

३. देखिए, एल० ए० श्चिवरज्सचाइल्ड द्वारा लिखित "नोट्स आन दु पोस्टपोजीसन ऑव लेट मिडिल इण्डो-आर्यन, तगय एण्ड रेसि, रेसिम्", प्रकाशित, भारतीय विद्या, जिल्द १६, संख्या ३-४, पृ० ७७-८६।

४. हिमवत्सिन्धुसौवीरान्ये जना' समुपाश्रिता'।
उकारबहुला तज्ज्ञस्तेषु भाषां प्रयोजयेत्　　१७ ६२

अपभ्रंश की उत्पत्ति तथा विकास—भरतमुनि के नाट्यशास्त्र, विष्णुधर्मोत्तर-पुराण तथा प्राकृत के व्याकरणों मे प्राकृत के अन्तर्गत अपभ्रंशका विचार किया गया है। हेमचन्द्र ने प्राकृतों को ध्यान में रख कर ही अपभ्रंश के नाम-रूपों का विवेचन किया है।[1] भाषागत प्रमाणों से तथा अन्य उल्लेखों से पता लगता है कि सामान्य रूप से अपभ्रंश प्राकृतों का विकसित रूप है। साहित्य की भाषा बनने के पूर्व यह एक बोली मात्र थी, जो महाशूद्रों द्वारा बोली जाती थी। नाट्य में जातिभाषा के प्रयोग का विधान तो था, किन्तु निम्न जातियों की बोलियों का निषेध था।[2] अपभ्रंश का जन्म इन्ही बोलियों तथा देशी भाषाओं से हुआ है। यद्यपि बोली के रूप में हमें उस की कोई बानगी नही मिलती, पर नाट्यशास्त्र में उद्धृत उदाहरणो में उस की झलक दिखाई देती है।

भरतमुनि ने उकारबहुला जिस विभाषा का उल्लेख किया है वह अपभ्रंश के लिए निर्दिष्ट है। भाषा के रूप में तब तक आभीरी का अभिधान नहीं हुआ था, इसीलिए कदाचित् वह आभीरोक्त या विभाषा (आभीरी) के नाम से अभिहित की जाती थी। नाट्यशास्त्र मे उदाहृत 'मोरल्लउ नच्चन्तउ' 'महागमे संपन्तउ' आदि उदाहरणो में अपभ्रंश के बोली-रूपों का पता लगता है। अपभ्रंश का साहित्यिक ढाँचा प्राकृतों का होने से भाषा और साहित्य रूपो पर प्राकृतों का अत्यधिक प्रभाव है। उस मे प्राकृतो की प्रायः सभी विशेषताएँ प्राप्त हैं। परन्तु मुख्य रूप से वह शौरसनी की चाल पर विकसित हुई है।[3] प्राकृतो का माडल यदि संस्कृत का है तो अपभ्रंश का माडल प्राकृतो का है। वस्तुतः देशी बोलियों का पानी पी कर ही अपभ्रंश फली-फूली है। भरतमुनि तथा पृथ्वीधर के अनुसार नाटकों मे विभाषाओं का भी प्रयोग किया जाता था। नाट्य, प्रकरण आदि मे विविध प्राकृतो मे से शौरसेनी, अवन्तिका, प्राच्या और मागधी का विशेष चलन था। अपभ्रंशो में शकार, चाण्डाली, शाबरी और ढक्क भाषाएँ विशेष रूप से प्रयुक्त होती थी।[4] नाट्यशास्त्र मे ढक्क नामक देशी भाषा का उल्लेख तो नहीं मिलता है, पर जिन वनेचर लोगों की भाषा को आभीरोक्ति या शाबरी कह कर भरतमुनि ने परिचय दिया है उसी को पृथ्वीधर ढक्क भाषा कहते

---

१ पाद्योग्रहणाद्यस्यापभ्रंशे विशेषो वक्ष्यते तस्यापि क्वचित्प्राकृतवत् शौरसेनीवच्च कार्य भवति।—सिद्धहेमशब्दानुशासन, सूत्र. ४, ३२९।

२ जातिभाषाश्रय पाठ्य द्विविधं समुदाहृतम्।—नाट्यशास्त्र, १७, ३१।
न बर्बरकिरातान्ध्र द्रमिडाद्यासु जातिषु।
नाट्यप्रयोगे कर्तव्य पाठ्य भाषासमाश्रयम्॥—वही, १७, ४६।

३. शौरसेनीवत्। ४, ४४६।
अपभ्रंशे प्राय शौरसेनीवत् कार्यं भवति।—हेमचन्द्र।
सिंहराजकृत प्राकृतरूपावतार २१, १।

४. नाटकादौ बहुप्रकारप्राकृतप्रपञ्चेषु चतस्र एव भाषा' प्रयुज्यन्ते—शौरसेन्यवन्तिकाप्राच्यामागध्य'। अपभ्रंशप्रपञ्चेषु चतस्र एव भाषा' प्रयुज्यन्ते—शकारीचाण्डाली— मृच्छकटिक टीका १ १
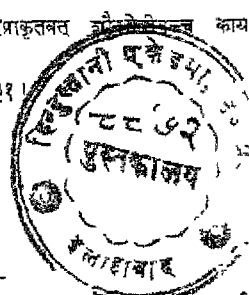
है।[1] अतः अनुमानत हीन जातियों के द्वारा व्यवहृत होने के कारण साहित्य मे तब तक इसे उचित स्थान प्राप्त नही हुआ था। किन्तु नाटय लोकधर्मी होने के कारण इन विभाषाओं के प्रयोगो से भी अछूते न रहे। संस्कृत-नाटकों मे सम्भवत प्रथम बार हमे इस ढक्क या आभीरोक्ति की बानगी मृच्छकटिक मे मिलती है। नाटकों मे पात्रो के अनुसार भाषा का प्रयोग करने का विधान है। मृच्छकटिक मे चाण्डाली भाषा बोलने वाले चाण्डाल, शकारी बोलने वाले शकार तथा ढक्क भाषा बोलने वाले माथुर और द्यूतकर हैं। इनकी भाषा पर विचार करने से उस समय की भाषाविषयक सामाजिक स्थिति का बोध होता है। माथुर जुआरियो का मुखिया है। उस की और जुआरियो की भाषा ठेठ बोली एवं असंस्कृत भाषा है। आज भी हम फड़ो पर बैठ कर खेलने वाले जुआरियो की भाषा को अपने से बहुत कुछ भिन्न सुन सकते है। माथुर के शब्दो पर स्पष्ट रूप से हमे उकारबहुला की छाप लगी हुई दिखाई देती है। यथा—लुद्धु (रुद्धो), जूदकरु (द्यूतकर), पादु (पादौ), पडिमाशुण्णु (प्रतिमाशून्य), देउलु (देवकुल), धुत्तु (धूर्त), शिलु (शिर), गंधु (गण्डु), माथुरु, पिदरु, मादरु, णिउणु (निपुण) आदि। अपभ्रंश की शाबरी बोली को छोड़ कर तीनो बोलियों के नमूने हमे इस नाटक मे मिलते हैं।[2] वस्तुतः भाषा की दृष्टि से संस्कृत के सभी नाटको मे इस का स्थान विशिष्ट है। भाषा समाज और संस्कृति की लोकचेतना का यह पूर्ण प्रकाशन करने वाला संस्कृत साहित्य मे एक मात्र नाटक है। इस में प्रयुक्त ढक्क बोली मागधी से अत्यन्त प्रभावित है। इस लिए जान पड़ता है कि भले ही आभीर तथा आभीरो का प्रसार उत्तर से पश्चिम तथा दक्षिण की ओर हुआ हो, पर प्राकृतो की भाँति अपभ्रंश को भी साहित्यिक भाषा बनने का सौभाग्य पूरब में प्राप्त हुआ। किन्तु पूर्वी अपभ्रंश मे लिखा हुआ साहित्य बहुत कम उपलब्ध है, परन्तु जो वर्तमान हैं वह प्राचीनतम साहित्य मे गिना जाता है।

वलभी के राजा धरसेन द्वितीय के दानपत्र से पता लगता है कि उस के पिता संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश तीनों ही भाषाओ मे प्रबन्ध काव्य रचने मे निपुण थे।[3] इस से यह भी पता चलता है कि छठी शताब्दी के मध्य तक अपभ्रंश मे प्रबन्ध काव्य लिखने का चलन हो गया था। क्योंकि उक्त शिलालेख ५५९ और ५६९ के बीच का लिखा हुआ माना जाता है। आ० भामह, दण्डी और नमिसाधु के उल्लेखो से भी इस की पुष्टि होती है। नमिसाधु ने स्पष्ट रूप से आभीरी या अपभ्रंश भाषा के लक्षण

---

१ विविधा भाषा विभाषा। हीनपात्रप्रयोज्यत्वाद्धीना। वनेचराणां चेति ढक्कभाषासंग्रह। —मृच्छकटिक टीका, १, १।

२ मृच्छकटिके तु शबरपात्राभावाच्छाबरी नास्ति।—वही।
अपभ्रशपाठकेषु शकारी भाषापाठको राष्ट्रियः। चाण्डालीभाषापाठकौ चाण्डालौ। ढक्कभाषा-पाठकौ माथुरद्यूतकरौ।—वही।

३ संस्कृतप्राकृतापभ्रशभाषात्रयप्रतिबद्धप्रबन्धरचनानिपुणतरान्तःकरण...।
—इण्डियन एण्टिक्वेरी, भा० १०, अक्तूबर, १८८१, पृ० २८४।

मागधी मे कहे है। उन्होंने प्राकृत प्रधान होने से अपभ्रंश को उस के अन्तर्गत गिनाते हुए उस के तीन मुख्य भेदों का निर्देश किया है—उपनागर, आभीर और ग्राम्य।[1] उन के बताये हुए इस वर्गीकरण से स्पष्ट हो जाता है कि अपभ्रंश गँवारू भाषा थी। क्योंकि उपनागर और आभीर शब्द सामान्यतः हीन तथा ग्राम्य अर्थ के द्योतक है। राजा भोज के युग मे (१०२२–६३ ई०) प्राकृत की भाँति अपभ्रंश का अच्छा प्रचार था। कहा जाता है कि स्वयं राजा भोज संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के अच्छे जानकार थे तथा तीनो भाषाओ में रचना करते थे। काव्य मे भी तीनों भाषाओ का समान महत्त्व था।[2] किन्तु गुजरात में अपभ्रंश का विशेष प्रचार था। वहाँ के लोग केवल अपभ्रंश से ही सन्तोष का अनुभव करते थे।[3] यही नही, लाट देश के वासी सस्कृत से द्वेष रखते थे और प्राकृत को रुचि से सुनने थे। गौडदेशीय जनों को भी यही दशा थी। शालिवाहन राजा के काल में प्राकृत का अत्यधिक अभ्युदय हुआ। और उसी मधुर प्राकृत से भरित अपभ्रंश की रचना अत्यन्त भव्य और सरस है। इसे मगध और मथुरा के निवासी बोलते थे, और जो कवि जनों को भी इष्ट थी।[4] इस प्रकार ग्यारहवीं शताब्दी में मगध और मथुरा अपभ्रंश भाषा-भाषियों के केन्द्रस्थान थे।

संस्कृत के प्रसिद्ध कवि कालिदास के ग्रन्थो के टीकाकार मल्लिनाथ के समकालीन प्राकृत वैयाकरण लक्ष्मीधर ने स्पष्ट रूप से षड्भाषाचन्द्रिका मे प्राकृत के प्राकृत, शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिका पैशाची और अपभ्रंश के नाम से छह भेद कहे हैं।[5] प्राकृत शब्द से काव्य मे महाराष्ट्री प्राकृत का बोध होता रहा है, जो किसी समय समूचे महाराष्ट्र, मध्य-देश, दक्षिण तथा उत्तर-पश्चिम भारत की बोली रही है। किन्तु साहित्य मे पहले पहल महाराष्ट्र मे अपनायी जाने के कारण सम्भवतः इसे महाराष्ट्री कहा जाने लगा। इस का जन्म भी महाराष्ट्र में हुआ कहा जाता है।[6] जिस प्रकार प्राकृतों के लिए संस्कृत

---

१. आभीरी भाषा अपभ्रंशस्था कथिता क्वचिन्मागध्यामपि दृश्यते तथा प्राकृतमेवापभ्रंश'। सा चान्यैरुपनागराभीरग्राम्यावभेदेन त्रिधोक्तस्तन्निरासार्थमुक्तं भूरि भेद इति। कुता देशविशेषात्, तस्य च लक्षणं लोकादेव सम्यगवसेयं।—रुद्रट कृत काव्यालंकार की टीका, २,१२।

२ संस्कृतेनैव कोऽप्यर्थ प्राकृतेनैव चापर।
शक्यो रचयितुं कश्चिदपभ्रंशेन जायते॥—सरस्वतीकण्ठाभरण, २,१०।

३. शृण्वन्ति लटभ लाटा प्राकृतं संस्कृतद्विष।
अपभ्रंशेन तुष्यन्ति स्वेन नान्येन गुर्जरा॥—वही, २,१३।

४. वही, २,१४-१५। तथा—
गिर. श्रव्या दिव्या. प्रकृतमधुरा प्राकृतधुर.
सुभव्योऽपभ्रंश' सरसवचनं भूतवचनम्।
विदग्धानामिष्टे मगधमथुरावासिभणिति-
निर्बद्धा यस्तेषा स इह कविराजो विजयते॥—वही, २,१६।

५. षड्विधा सा प्राकृती च शौरसेनी च मागधी।
पशाची [illegible] इति क्रमात् [illegible] १, २६।

६ तत्र तु प्राकृत नाम [illegible] विदु।—वही १ २०

आदर्श रही है उसी प्रकार परवर्ती प्राकृत के लिए महाराष्ट्री और अपभ्रंश के लिए शौरसेनी आदर्श मानी जाती रही है। संस्कृत वैयाकरणों ने अपशब्द कह कर तथा संस्कृत के साहित्य समालोचकों ने 'आभीरादिगिरः' कह कर जिस बोली का या विभाषा का निर्देश किया है वही साहित्य में अपभ्रंश कही जाती है[1]। अपभ्रंश का प्रयोग नाटकों में चाण्डाल आदि के द्वारा होने के कारण काव्यांगों में उस का बहुत ही कम समावेश किया जाता है।[2] वैयाकरणों के शब्दों में प्राकृत नीच जाति की और अपभ्रंश सब से नीची जाति की भाषा है। इसीलिए साहित्य में इन्हें महत्व प्रदान नहीं किया गया। किन्तु राजनैतिक उथल-पुथल में वह साहित्यिक गौरव प्राप्त कर जन-मानस में व्याप्त रही।

राजशेखर ने काव्य की मुख्य चार भाषाओं का निर्देश किया है। संस्कृत वाणी सुनने में दिव्य, प्राकृत स्वभाव से मधुर, अपभ्रंश सुभव्य और भूतभाषा सरस है।[3] काव्यमीमांसा के विवरण से पता लगता है कि अपभ्रंश का प्रचलन मारवाड़ में ही नहीं पश्चिमी पंजाब, गुजरात तथा मालवा में भी था। वाग्भट ने संस्कृत, प्राकृत की भाँति अपभ्रंश और ग्राम्य भाषा में लिखे गये कई प्रबन्ध काव्यों का उल्लेख किया है। उस ने प्रादेशिक भेदों के अनुसार अपभ्रंश के विविध भेदों का भी निर्देश किया है।[4]।

अपभ्रंश के भेद—आ० हेमचन्द्र ने शिष्ट और ग्राम्य के भेद से अपभ्रंश के दो रूपों की चर्चा की है।[5] किन्तु प्राकृतसर्वस्वकार मार्कण्डेय ने भाषा के चार विभाग माने हैं—भाषा, विभाषा, अपभ्रंश और पैशाची। भाषा के पाँच भेद हैं—महाराष्ट्री, शौरसेनी, प्राच्या, अवन्ती तथा मागधी। विभाषाएँ भी पाँच कही गयी हैं—शकारी, चाण्डाली, शाबरी, आभीरी और शाक्की (शाखी)। उन्होंने अपभ्रंश के नागर, उपनागर और व्राचड तीन मुख्य भेद माने हैं तथा आद्री, द्राविडी आदि सत्ताईस भेद कहे हैं। अधिकतर वैयाकरण प्राकृत का ही प्रधान रूप से विचार करते हुए लक्षित होते है। सभी प्राकृत वैयाकरणों ने प्राकृत के प्राकृत (महाराष्ट्री), शौरसेनी, मागधी और पैशाची इन चार भेदों का व्याकरण दिया है। केवल वाल्मीकीय प्राकृतशब्दानु-

---

१. अपभ्रंशस्तु भाषा स्यादाभीरादिगिरा चयः।
कविप्रयोगानर्हत्वान्नापशब्द स तु क्वचित ॥—षड्भाषाचन्द्रिका, १, ३१।

२. अपभ्रंशस्तु चाण्डालयवनादिषु युज्यते।
नाटकादावपभ्रंशविन्यासस्यासहिष्णव' ॥—वही, १, ३६।

३. गिर श्रव्या दिव्या' प्रकृति मधुराः प्राकृतधुर
सुभव्योऽपभ्रंश' सरसवचनं भूतवचनम् ॥—बालरामायण, १, ११।

४. तत्र प्राय' संस्कृतप्राकृतापभ्रंशग्राम्यभाषानिबद्धभिन्नान्त्यवृत्तसर्गाश्वाससन्ध्यवस्कन्धकबन्धम्।
तथा—अपभ्रंशस्तु यच्छुद्धं तत्तद्देशेषु भाषितम्।

५. एच० जेकोबीः "इन्ट्रोडक्शन टु द भविसयत्तकहा" शीर्षक लेख, अनु० प्रो० एस० एन० घोषाल, प्रकाशित, 'जर्नल ऑव द ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, द्वितीय जिल्द, मार्च, १९५३, पृ० २४।

शासन और हेमचन्द्र कृत शब्दानुशासन मे इन के अतिरिक्त चूलिका और पैशाची अपभ्रंश का अधिक विवरण है। षड्भाषाचन्द्रिका मे भी उक्त छहो भाषाओं का विचार हुआ है। यदि हम सभी उल्लेखों पर विचार करें तो देशी भेदों से अपभ्रंश के कई भेदो की कल्पना करनी होगी। किन्तु उसे उचित नही कहा जा सकता। फिर, उपलब्ध साहित्य से उस की कोई संगति भी नही बैठती, इस लिए केवल साहित्यिक रचनाओ को देखते हुए अपभ्रंश के अनिवार्यतः दो भेद माने जा सकते है—पूर्वी और पश्चिमी। किन्तु डॉ० तगारे ने पश्चिमी, दक्षिणी और पूर्वी तीन भेद माने है।[1] यद्यपि अपभ्रंश साहित्य उत्तर भारत को छोड कर तीनो भागों मे प्राप्त होता है पर भाषा की दृष्टि से हम उसे मुख्य दो रूपो में विभाजित कर सकते हैं। दक्षिण भारत से प्राप्त साहित्य मूलतः पश्चिमी या शौरसेनी अपभ्रंश में निबद्ध है। पूर्वी अपभ्रंश मागधी प्राकृत से प्रभावित है। साहित्य मे महाराष्ट्री तथा शौरसेनी प्राकृत और शौरसेनी अपभ्रंश का प्रचलन रहा है। क्योकि उक्त दोनों प्राकृत संस्कृत के अधिक निकट रही है।[2] फिर अपभ्रंश मे शौरसेनी के अनुसार भाषा-विधान है।[3] इसलिए शौरसेनी अपभ्रंश की मुख्यता का सहज मे निश्चय हो जाता है। पूर्वी अपभ्रंश मे हमे सिद्ध-साहित्य लिखा हुआ मिलता है जो मागधी के अधिक निकट है। किन्तु दक्षिणी अपभ्रंश की कोई स्पष्ट भेदक रेखा नही खीची जा सकती। अतएव अपभ्रंश के मुख्य दो तथा प्रादेशिक अनेक भेद माने जा सकते हैं। अन्य भेदों मे सामान्य रूप से कहीं-कहीं अन्तर दिखाई देता है, जिस का उल्लेख प्राकृत वैयाकरणों ने अत्यन्त संक्षिप्त रूप में किया है। इसी प्रकार भाषा की दृष्टि से देशी और साहित्यिक भेद से अपभ्रंश के दो रूप कहे जा सकते है। स्वयम्भू ने अपनी भाषा को ग्रामीण जनो की भाषा से हीन देशी भाषा कहा है।[4] देशी लोकभाषा का वह रूप था जो जन-सामान्य मे प्रचलित था, लेकिन साहित्यिक भाषा केवल शिष्ट जनो की थी। समाज मे भाषाविषयक यह अन्तर वैदिक युग से ले कर आज तक बराबर हुआ है। इस का एक मात्र कारण सामाजिक वर्ग-भेद माना जा सकता है।

अपभ्रंश का स्वरूप—अपभ्रंश में सामान्य रूप से प्राकृतो की सभी विशेषताएँ प्राप्त होती है। शौरसेनी मे 'त' को 'द' करने की प्रवृत्ति है तथा 'य' को 'ज' होने का विधान है। अपभ्रंश में भी ये दोनो नियम प्रयुक्त देखे जाते हैं। महाराष्ट्री प्राकृत में मध्यम व्यंजन का लोप हो जाता है। अपभ्रंश मे भी यह प्रवृत्ति व्यापक है। मागधी में

---

१. तगारे हिस्टारिकल ग्रामर ऑव अपभ्रंश, १९४८, पृ० १५–१६॥
२. प्रकृति संस्कृतम्।—वररुचि प्राकृतप्रकाश, १२, २।
शौरसेन्या ये शब्दास्तेषां प्रकृति' संस्कृतम्।
३ शौरसेनीवत्। ८, ४४६।—हेमचन्द्र।
अपभ्रंशे प्राय' शौरसेनीवत् कार्यं भवति।
४. सक्कयपाययपुलिणालंकिय देसीभासा उभय तडुज्जल।—पउमचरिउ, १,२,४।
तथा–सामण्णभास छुडु सावडउ, छुडु आगमजुत्तु काबि घडउ।
छुडु होन्तु सुहासिय वयणाई १,३,१०–११।

'ज' को 'य', 'थ' को 'त' और 'त' को 'द' हो जाता है। अपभ्रंश मे भी कही-कही इन नियमों का पालन देखा जाता है। इसी प्रकार पैशाची मे 'ण' को 'न' और 'द' को 'त' का विधान है, जो अपभ्रंश में भी पाया जाता है। मागधी की प्रसिद्ध प्रवृत्ति 'र' को 'ल' और 'स' को 'श' अपभ्रंश मे व्यापक है। नमि साधु ने मागधी के जिन सामान्य नियमों का उल्लेख किया है वे अपभ्रंश मे पूर्ण रूप से दिखाई देते हैं। इस का संकेत भी उन्होंने किया है। वस्तुतः मृच्छकटिक में जिस ढक्क भाषा का प्रयोग हुआ है उस से अपभ्रंश का निकास हुआ समझना चाहिए। इस ढक्क भाषा पर मागधी का भी पूर्ण प्रभाव देखा जा सकता है। अपभ्रंश की प्रवृत्ति ही नही रूपात्मक वृत्ति तथा रचना मे भी दोनों मे अत्यधिक साम्य है। उदाहरण के लिए माथुर का यह वाक्य "धुत्तु जूदकरु विप्पदीवेहिं पादेहिं देउलं पविट्ठो" लिया जा सकता है। इसी प्रकार "एसु तुमं हु जूदिअरमडकीए बद्धोसि," "कधं जूदिअलमंडलीए बद्धोम्हि"—वाक्य कहे जा सकते हैं, जो मागधी से प्रभावित होने पर भी अपभ्रंश के निकट हैं। यद्यपि नाटक में प्रयुक्त बोलियाँ प्राय. संस्कृत से प्रभावापन्न है, पर क्रियाओं को छोड कर अन्य रूपों पर बहुत कम ही प्रभाव है, यथा—"पिदरु विक्किणिअ पअच्छ"। कहा जाता है कि प्राकृत वैयाकरणों में चण्ड ने सम्भवत. प्रथम बार अपभ्रंश का उल्लेख किया है तथा उस के नियमों का विवरण दिया है।[1] जो भी हो, पर चण्ड कृत प्राकृतप्रकाश को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि अपभ्रंश मे प्राकृतों की मुख्य विशेषताओ के साथ ही देशी प्रवृत्तियों का भी समावेश होने लगा था। इसी लिए उस में कुछ नवीन प्रत्यया तथा क्रियाओं का विवरण मिलता है।[2] यही नहीं, प्राकृतप्रकाश की टीका मे देशीय भेदों से प्राकृत के अनेक भेद कहे गये है।[3] यद्यपि प्राकृत वैयाकरणों ने अपभ्रंश का विधान प्राकृतों के अन्तर्गत किया है, पर अपभ्रंश निश्चय ही प्राकृत से भिन्न है; प्राकृत नहीं है। नमि साधु के "तथा प्राकृतमेवापभ्रंशः" कहने का तात्पर्य यही प्रतीत होता है कि प्राकृत के समान ही अपभ्रंश मे भी नियम देखे जाते है, इस लिए वह प्राकृत के समान ही है; न कि प्राकृत है।

प्राकृत और अपभ्रंश

जहाँ प्राकृत की प्रवृत्ति ओकारान्त है वहाँ अपभ्रंश की उकारान्त। किन्तु आ० हेमचन्द्र के अनुसार 'सु' आदि विभक्तियों के परे रहते संज्ञा शब्दों के अन्त्य स्वर प्रायः दीर्घ या ह्रस्व हो जाते हैं, यथा—

ढोल्ला सामला धण चम्पा-वण्णी।
णाइ सुवण्ण रेह कस-वट्टइ दिण्णी॥

---

१. सं० सी० डी० दलाल और गुणे : भविसयत्तकहा, भूमिका, पृ० ६१।

२ भ्रंशे फिड फिट्ट फुड फुट्ट भुक्क भुल्ल। इसेर्हु ज'। गु'जइ हसइ। मतवर्थे अल्ल इल्लौ एतौ प्रत्ययौ भवतः।

३ प्राकृत भद्र तत्सुर्म्य टीका

यहाँ ढोल्ला और सामला शब्द दीर्घ हैं तथा सुवण्ण ह्रस्व। डॉ० जैकोबी और अल्सडोर्फ ने इस अन्तर एवं नियम पर बड़ा बल दिया है। अल्सडोर्फ का कथन है कि अपभ्रंश की स्वाभाविक प्रवृत्ति ह्रस्वान्त है।[१] किन्तु वस्तुतः वह उकारान्त ही है। नाम-रूपों तथा संज्ञा शब्दों पर स्पष्ट रूप से उस की छाप देखी जा सकती है। भरतमुनि और प्राकृत वैयाकरणों ने इस प्रवृत्ति का विशेष उल्लेख किया है। स्वयं आ० हेमचन्द्र ने अपभ्रंश में कर्त्ता और कर्म के एकवचन में अकारान्त शब्द के अन्तिम 'अ' को 'उ' का विधान किया है।[२] पाली तथा प्राकृतों की अपेक्षा अपभ्रंश में शब्द-रूप और क्रिया-रूप अधिक सरल हैं। संस्कृत में गण, लकार, पद तथा वचन आदि के भेद से शब्द और क्रिया-रूपों में जो जटिलता थी वह पाली-युग में बहुत कुछ सरल हो जाती है। पाली युग में द्विवचन का लोप दिखाई देता है। दस गणों के स्थान पर पाँच गण मिलने लगते हैं, जो प्राकृत युग में समाप्तप्राय हो जाते हैं। सरलीकरण की प्रवृत्ति अपभ्रंश में विशेष रूप से दिखाई देती है। इसी लिए प्राकृत के रायउलं, एगूणवीसो, वाणिअगा, पिच्छिऊण आदि शब्द राउल, एकवीस, वणिअ, वणिज, पुच्छउ आदि के रूप में अपभ्रंश में देखे जाते हैं। पाली में परस्मैपद और भ्वादि गण-रूपों की बहुलता है। प्राकृतों में भी यही प्रवृत्ति बहुल है। सामान्यतः सभी प्राकृतों में चतुर्थी विभक्ति का एक प्रकार से लोप दिखाई देता है, और उस के स्थान पर षष्ठी का प्रचलन रहा है।[३] कर्त्ता और कर्म में बहुवचन रूप नपुंसक लिंग की भाँति बनने लगे। प्रायः दुहरे रूपों का लोप हो गया, केवल परस्मैपदी रूपों का चलन रहा। संयुक्ताक्षरों के स्थान पर द्वित्व की प्रवृत्ति बढ़ती गयी। किन्तु अपभ्रंश में विभक्ति-रूपों में और भी अधिक सरलता आ गयी। कर्त्ता और कर्म में जहाँ समान रूप प्रचलित हो गये वहीं सम्बोधन और सम्बन्ध के बहुवचन के रूपों में साम्य बढ़ चला। षष्ठी विभक्ति का प्रायः लोप ही हो गया।[४] इस प्रकार प्रथमा, द्वितीया और षष्ठी विभक्ति का निर्विभक्तिक पद से अपभ्रंश-युग में बोध होने लगा था। यही नहीं, विभक्तियों का भी विनिमय इस युग में होने लगा था। परवर्ती काल में ब्रज, अवधी और अवहट्ठ तथा देशी भाषाओं में निर्विभक्तिक प्रयोगों का स्पष्ट प्रचार दिखाई देता है। अपभ्रंश में सन्धि के नियम निश्चित नहीं हैं। इसी प्रकार लिंग में भी अव्यवस्था है।[५] किन्तु पाली, प्राकृत की भाँति ह्रस्व एकार और ओकार का चलन रहा है।[६] ह्रस्व ऋ का भी कहीं-कहीं प्रयोग है, पर साधारणतः संस्कृत के

---

१ अपभ्रंश स्टडिएन, पृ० ६-७।

२. स्यमो रस्योत्, ।-सिद्धहेमशब्दानुशासन, ८, ३३१।

३. सर्वत्र षष्ठीन चतुर्थ्याः इति क्रमदीश्वर.। यथा-विप्पस्स देहि।

४. षष्ठ्याः ।—सिद्धहेमशब्दानुशासन, ८,३४५।
अपभ्रंशे षष्ठ्या विभक्त्या. प्रायो लुग् भवति।

५. लिङ्गमतन्त्रम् ।-वही, ८,४४५।

६ न च लोके म च वेदे ह्रस्व एकार ओकार नहीं

ऋ, ऌ, ऐ और औ का अपभ्रंश में प्रयोग नहीं है। क्रिया-रूपों में वर्तमान तथा विशेष रूप से भूतकाल में कृदन्त का प्रयोग मिलता है। संस्कृत के हलन्त, इकारान्त और उकारान्त शब्द अपभ्रंश में अकारान्त बन जाते है। हिन्दी की आकारान्त और ईकारान्त प्रवृत्ति का मूल अपभ्रंश की उभयविध प्रवृत्तियों में देखा जाता है। आ० हेमचन्द्र ने इस का विधान भी किया है।[1] अपभ्रंश में कुछ ऐसे प्रत्यय तथा परसर्ग दिखाई देते है जो पाली और प्राकृत में नहीं मिलते। ये भाषा-विकास की अवस्था विशेष के सूचक होने के साथ ही नवीन उपलब्धि के प्रमाण है। उदाहरण के लिए—पूर्वकालिक क्रिया निष्पन्न करने के लिए संस्कृत मे क्त्वा और ल्यप् प्रत्ययों का विधान है तथा पाली प्राकृत में उसे तूण और इय आदेश हो जाते हैं।[2] किन्तु अपभ्रंश मे इस के लिए इ, इउ, इवि, अवि, एप्पि, एप्पिणु, एवि और एविणु इन आठ प्रत्ययों का प्रयोग होता है।[3] इसी प्रकार क्रियार्थक क्रिया के लिए अपभ्रंश में धातु के आठ रूप होते हैं जो प्राकृत मे नही है। कृदन्त रूपो मे भी विविधता देखी जाती है। निश्चय ही हिन्दी के कृदन्त तथा संज्ञा शब्दों में लिंग की जो अव्यवस्था है वह अपभ्रंश से सम्बन्धित है। अ, डड और डुल्ल अपभ्रंश के स्वार्थिक प्रत्यय है।[4] प्पणु और तण प्रत्ययों की भी विशेष व्यवस्था है।[5] इस भाषा में देशी शब्द-रूपों का बाहुल्य है।[6] शब्द तथा क्रिया-रूप अपभ्रंश प्रकृति में ढले हुए ही दिखाई देते हैं। कहा जाता है कि अपभ्रंश की ध्वन्यात्मक विशेषता 'य' श्रुति है। किन्तु यह मागधी और अर्द्धमागधी की भी विशेषता है।[7] वस्तुत: इस भाषा की ध्वन्यात्मक विशेषता स्वरो के ह्रस्व उच्चारण में निहित है। प्राकृत और अपभ्रंश मे संयुक्त व्यंजनो का अधिक प्रयोग है। स्वरों मे या तो सन्धि कर दी जाती है अथवा सम्प्रसारण। किसी-किसी ध्वनि का लोप कर उसे कोई अन्य रूप ही दे दिया जाता है। क्रिया-रूपों मे भी यह प्रवृत्ति मुख्य है। अपभ्रंश मे निष्ठाबोधक कई प्रत्यय है। प्रत्यय और रूपो की इस विविधता से पता लगता है कि संस्कृत से प्राकृत मे और प्राकृत से अपभ्रंश युग मे इन रूपो में विकासात्मक प्रवृत्ति बढ़ती रही तथा आर्येतर भाषाओं से प्रभाव रूप में भारतीय आर्य-भाषाएँ बहुत कुछ ग्रहण करती रही है। देशी बोलियों में कुछ ऐसे सामान्य तत्त्व

---

१. स्यादौ दीर्घह्रस्वौ।—सिद्धहेमशब्दानुशासन, ८, ३३०।

२. क्त्वा तूण इयौ।—स०-पं० मथुराप्रसाद। पाली-प्राकृत व्याकरण, २, ३६।

३ क्त्वा इइउइविअवय: (एप्प्येप्पिण्व्येव्येविणव: ।—सिद्धहेमशब्दानुशासन।

४. अडडडुल्ला स्वार्थिकलुक् च।—त्रिविक्रमदेव. प्राकृतशब्दानुशासन, २६,३,३।

५. त्वत्तलो प्पणु।—सिद्धहेमशब्दानुशासन।
विशेष द्रष्टव्य है—लेखक का 'अपभ्रंश के प्पणु और तण प्रत्यय' शीर्षक लेख, नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ६५, अं० ४, संवत् २०१७।

६. तक्षाद्याश्छोल्लादीन्।—प्राकृतशब्दानुशासन, ६४,३,४।
काठगास्तु वेश्या सिद्धा।—वही ७२ ३ ४

७ अवर्णो य श्रुति पाली-प्राकृत २२५

मिलते हैं, जिन की जड़ें लोकपरम्परा में लक्षित होती हैं। वस्तुत अपभ्रंश का विकास भी उसी परम्परा में हुआ है।

देशी

प्राकृत युग में ही साहित्य की भाषा को देशी कहने का प्रचलन हो गया था। पादलिप्तसूरि अपनी कथा की भाषा को जो कि प्राकृत है देशी कहते हैं।[1] इन का समय लगभग पाँचवी शताब्दी कहा कहा जाता है। उद्योतन सूरि (७६९ ई०) स्पष्ट रूप से कुवलयमाला कथा की महाराष्ट्री प्राकृत को देशी कहते हैं और उसे प्राकृत से भिन्न बताते हैं।[2] कोऊहल ने भी महाराष्ट्री प्राकृत मे लिखित लीलावई की भाषा को महाराष्ट्र की देशी भाषा कहा है।[3] यद्यपि यह सच है कि लीलावई मे देशी शब्दों का प्राधान्य है, पर स्वयं कवि अन्य स्थल पर प्राकृत को देशी भाषा कहता है।[4] दण्डी ने भी देशविशेष की जातीय भाषा होने के कारण अपभ्रंश का उल्लेख किया है।[5] प्राकृतों में देशी विशेषताओं का स्पष्टत. प्राधान्य रहा है।[6] आ० रुद्रट तो अपभ्रंश को देशी भाषा ही कहते है।[7] मृच्छकटिक मे जिस ढक्क विभाषा का प्रयोग हुआ है उसे टक्क (आधुनिक पूर्वी पंजाब) देश की बोली माना जा सकता है। काव्यादर्श की टीका काव्यलक्षण म प्राकृत की भाँति अपभ्रंश के भी चार भेद हैं और उसे देशीय कहा है।[8] संस्कृत और प्राकृत के कवियों ने ही नहीं अपभ्रंश के लेखकों ने भी अपनी रचनाओं की भाषा को देशी कहा है। महाकवि स्वयम्भू अपने प्रबन्ध काव्य 'पउमचरिउ' की भाषा को संस्कृत और प्राकृत रूपी पुलिनों से अलंकृत तथा देशी भाषा रूपी दो तटों से उज्ज्वल कहते हैं।[9] पुष्पदन्त भी नम्रता प्रदर्शित करते हुए कहते है कि न तो मैं छन्दशास्त्र के नियमो को भलीभाँति जानता हूँ और न छन्द तथा देशी भाषा को ही।[10] पद्मदेव, लक्ष्मण और अन्य अपभ्रंश कवि अपनी भाषा का परिचय देशी कह कर

---

१. पालित्तएण रइया वित्थरओ तस्स देसीवयणेहि।
नामेण तरंगवई कहा विचित्ता विचित्ता विउलापयं ॥—जैकोबी सनत्कुमारचरित की भूमिका, पृ० १७८ से उद्धृत।

२. पाययभासा रइया माहट्ठयदेसी वयणणिबद्धा।—डॉ० आ० ने० उपाध्ये : लीलावई की भूमिका से उद्धृत।

३ भणियं च पियय भाए रइयं मरहट्ठ देसी भासाए।
अंगाइं इमीए कहाएँ सज्जणा सग जाउगाई ॥—लीलावई, गाहा १३३०।

४ एमेय मुद्ध जुयई मनोहरं पाययाएँ भासाए।
पविरल देशी सुलक्खं कहसु कहं दिव्व माणुसियं ॥—वही, गाथा ४१।

५ आभीरादिगिरः काव्येष्वपभ्रंश इति स्मृता।—काव्यादर्श, १, ३६।

६- तद्भवस्तत्समो देशीत्यनेक प्राकृतक्रम.।—वही, १, ३३।

७ षष्ठोऽत्र भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रंश।—काव्यालंकार, २,१२।

८ अपभ्रंशोऽपि प्राकृतवच्चतुर्धा स्मर्यते। यदुक्तम्—
शब्दभवं शब्दसमं देशीयं सर्वशब्दसामान्यम्।
प्राकृतवदपभ्रंशं जानीहि चतुर्विधमाहितम् ॥—रत्नश्रीज्ञान ' काव्यादर्श की टीका, १, ३६

९- सक्कयपायय पुलिणालंकिय देसीभाषा उभय तडुज्जल।—पउमचरिउ, १,२,३-४।

१० ण हउं होमि वियक्खणु ण मुणमि लक्खणु छंदु देसि ण वियाणमि १.८.१०

देते है।[1] आचार्य हेमचन्द्र ने देसीसद्दसंगह में कहा है कि जो शब्द प्रकृति प्रत्यय आदि से शब्दशास्त्र से सिद्ध नहीं है तथा संस्कृत कोशों में जो प्रसिद्ध नहीं है और न लक्षणा, व्यंजना आदि शक्तियों से जिनका अर्थ सम्भव है वे इस कोश में निबद्ध है[2], और देशविशेष (महाराष्ट्र, विदर्भ, आभीर आदि) में प्रसिद्ध होने के कारण उन शब्दों को एवं अति काल से प्रयुक्त होने वाली प्राकृत भाषा विशेष को देशी कहते है।[3] देशी की इस परिभाषा में शब्द ही नहीं उन शब्दों से युक्त भाषा का भी ग्रहण हुआ है। देशीनाममाला में नाना देशो मे प्रसिद्ध देशी शब्दो का संग्रह तथा अर्थ निबद्ध है। इसमें कुछ ऐसे शब्द भी है जो अपभ्रंश के है। उक्तिव्यक्तिप्रकरण की भाषा को डॉ० चटर्जी प्राचीन कोशल देश की बोली कोशली मानते है।[4] यह लगभग ग्यारहवीं-बारहवी शताब्दी की रचना कही जाती है। इसके लेखक पं० दामोदर ग्रन्थ की भाषा को भ्रष्ट गिरा कहते हैं।[5] साधुसुन्दरगणी कृत उक्तिरत्नाकर में अनेक देशी शब्दो का संग्रह है। वस्तुतः ये रचनाएँ लोक परम्परा की हैं जो लोकधर्म तथा भाषा का पूर्ण प्रतिनिधित्व करती हैं। इसी परम्परा मे आगे चल कर हमें विद्यापति की कीर्तिलता और पदावली जैसी रचनाएँ मिलती है। स्वयं विद्यापति ने देशी वचनो को मधुर कह कर उस का महत्त्व गाया है।[6] स्पष्टत. भाषा और काव्य की यह वही धारा है जो लोक जीवन को साथ ले कर विकसित होती रही है। इस में प्राय सभी साहित्यांगों का विकास हुआ है, पर क्रमशः वे शास्त्रीय नियमों से आबद्ध होते गये, और इसीलिए केवल जन-जीवन की झलक ही उन में मिलती है; समाज की चेतना का पूर्ण प्रतिबिम्ब नहीं।

अपभ्रंश भाषा का स्थान

जाति, भाषा, साहित्य और इतिहास के उल्लिखित प्रमाणो से पता लगता है कि उत्तर वैदिक युग मे आभीर सिन्ध और पजाब के प्रदेशों में फैले हुए थे, जिनका मुख्य कर्म गो-पालन था। महर्षि वाल्मीकि ने उत्तरापथ के द्रुमकुल्य नामक स्थान पर दस्युओं के अन्तर्गत आभीरों का विवरण दिया है।[7] उत्तर में

१ डॉ० हीरालाल जैन पाहुडदोहा, भूमिका, पृ० ४४–४५।

२ जे लक्खणे ण सिद्धा ण पसिद्धा सक्कयाहिहाणेसु।
ण य गउणलक्खणासत्तिसंभवा ते इह णिबद्धा ॥—देशीनाममाला, १,३।

३ देसविसेसपसिद्धीइ भण्णमाणा अणन्तया हुन्ति।
तम्हा अणाइपाइअपयट्टभासाविसेसओ देसी ॥—वही, १,४।

४ डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी' उक्तिव्यक्तिप्रकरण, प्रस्तावना, पृ० ६।

५ ततो देशे देशे प्रतिविषयं लोक पामरजनो यया यया गिरापभ्रंश्या यत् किंचित अभिधेय वस्तु वक्ति व्यवहरति सापभ्रंश भाषा।—उक्तिव्यक्तिप्रकरण, श्लोक ७ विवृत्ति।

६ देसिल वअना सब जन मिट्ठा
त तैसन जम्पओ अवहट्ठा।—कीर्तिलता, १,२१–२२।

७ उत्तरेणावकाशोऽस्ति कश्चित्पुण्यतरो मम।
द्रुमकुल्य इति ख्यातो लोके ख्यातो यथा भवान् ॥—रामायण, ६,२२–२६।
उग्रदर्शनकर्माणो बहवस्तत्र दस्यव।
आभीरप्रमुखाः पापाः पिबन्ति सलिलं मम ॥—वही, ६,२२,३०।

आभीर नाम के प्रदेश का भी उल्लेख मिलता है। संगीत शास्त्र मे आभीरी राग भी है।[१] जान पडता है कि जिस प्रकार आर्यो के आचार-विचार से हीन होने पर आभीर शूद्र और म्लेच्छ कहे गये हैं उसी प्रकार वेदों के राग से भिन्न होने के कारण, गमक से हीन आभीरी देशी राग कहा गया है।[२] यही नही, साहित्य मे आभीर नामक एक नये मात्रिक वृत्त का भी चलन हो गया।[3] यह सब लोक-परम्परा का प्रभाव एवं विकास कहा जा सकता है। इस में शास्त्रीयता का केवल आवरण भर है। परवर्ती काल मे इन मे और भी अधिक विकास हुआ। इस प्रकार आभीर जाति, प्रदेश और कला का प्राचीन विवरण मिलता है। भाषा के रूप मे भरतमुनि ने जिसे आभीरोक्ति तथा उकारबहुला कहा है उस की पहिचान दण्डी अपभ्रंश से कराते है। नमिसाधु, मार्कण्डेय, लक्ष्मीधर, पृथ्वीधर और रत्नश्रीज्ञान आदि अपभ्रंश का सम्बन्ध आभीर से जोडते हैं। भरतमुनि आभीरी भाषा से ही नही जाति से भी परिचित थे।[४] दण्डी ने कदाचित् पहली बार स्पष्टत. अपभ्रंश को आभीरी कहा। उन के काव्यादर्श की टीकाओ मे सम्भवतः सर्वप्राचीन रत्नश्रीज्ञान कृत काव्यलक्षण उपलब्ध होती है। यह राष्ट्रकूट राजा तुंगभद्र के समय लिखी गयी थी। दण्डी के 'आभीरादिगिर' पद की व्याख्या करते हुए टीकाकार ने कहा है कि आभीर पंजाबी है और आदि शब्द से ढक्क आदि विभाषाओं का ग्रहण करना चाहिए।[५] बहुत कर ढक्क से अभिप्राय ढाका प्रदेश से रहा होगा। पृथ्वीधर ने मृच्छकटिक में प्रयुक्त जिस ढक्क विभाषा का निर्देश किया है उस का सम्बन्ध टक्क देश से न हो कर ढाका से है। वस्तुतः अपभ्रंश पश्चिमोत्तर प्रदेश की बोली रही है पर ज्यों-ज्यों आभीरों का प्रसार उत्तर-पश्चिम से दक्षिण-पूरब की ओर होता रहा है भाषा का क्षेत्र और विकास भी बढता रहा है। इस देश के कई प्रदेशो में आभीरों का राज्य रहा है। ये गणतन्त्र राज्य के प्रतिष्ठापक रहे है। नेपाल, गुजरात, महाराष्ट्र ओर पश्चिमी सीमान्तप्रदेशो मे कई आभीर राजाओ का राज्य रहा है। भरतमुनि ने हिमालय की तराई, सिन्धु प्रदेश और सिन्धु नदी के पूर्ववर्ती घाटी प्रदेश मे बसने वाले वनेचरों की भाषा को आभीरोक्ति कहा है। राजशेखर अपभ्रंश का

---

१. शुद्धपञ्चमसभूता गमकस्फुरणान्विता।
आभीरी गमहीना स्याद्बहुला पञ्चमेन च ॥ भरतकोश से उद्धृत, सं०-श्रीमान् वल्लि रामकृष्ण कवि, प्रथम संस्करण।

२ वही। तथा–
मालापञ्चमभाषेयमाभीरी परिकीर्तिता।
रिगाभ्या च विहीना च औडुवा परिकीर्तिता ॥–जगदेव, वही।

३. एकादशकलधारि कविकुलमानसहारि।
इदमाभीरमवेहि जगणमन्तमनुधेहि ॥––शब्दार्थचिन्तामणि (सुखानन्द), प्रथम भाग, पृ० २७३।

४, आभीरयुवतीना तु द्विवेणीधरमेव च।
शिर परिगमप्रायो [illegible] । [illegible] २३ ६५ चौखम्बा संस्करण।

५ आभीरा नाहिका [illegible] आदि शब्देन ढक्कादिपरिग्रह तेषां गिरो भाषा अपभ्रंश इति [illegible] पम

क्षेत्र समूचा राजपूताना, पंजाब[1] (पूर्व मे व्यास नदी से पश्चिम में सिन्धु नदी तक का प्रदेश), और मादानक कहते है। इस से यह स्पष्ट हो जाता है कि दसवी शताब्दी तक उत्तर-पश्चिम भारत मे अपभ्रंश बोली जाती रही है। किन्तु पश्चिम में ही नही पूरब में भी अपभ्रंश का प्रचार रहा है। आभीरो के स्थानान्तरण के साथ ही आभीरी भी फैलती रही है। गुप्त युग मे आभीर राजाओ का प्रभुत्व भी रहा है। पर इतिहास मे उन्हे महत्त्व नही मिला। इस का कारण सामाजिकता के अतिरिक्त हेय भावना भी कहा जा सकता है। समाज मे आभीर शूद्र माने जाते रहे है और क्षात्रियत्व का पद प्रदान करने के लिए समाज उन के लिए प्रतिकूल रहा है। यह निश्चय है कि ढक्क भाषा अपभ्रंश की बोली रही है, जिस पर मागधी का विशेष प्रभाव है। किन्तु यह एक बडा प्रश्न है कि अपभ्रश जैन-साहित्य की भाषा कब और कैसे बनी? जैन और बौद्ध आचार्य बहुत कर जन-बोलियो मे उपदेश देने तथा ग्रन्थ लिखने के पक्षपाती रहे है। सम्भवत: जब आभीरों के दल नेपाल और मालवा से कई दलो में विभक्त हो कर दक्षिण और पूरब की ओर बढ़े होंगे तभी लिच्छवियों से उन की मुठभेड़ हुई होगी तथा अपनी संस्कृति और भाषा से प्रभावित किया होगा। यद्यपि उस युग में भाषागत एकरूपता किसी न किसी रूप मे अवश्य होगी पर जातिगत भिन्नता और विभिन्न संस्कृतियों के मेल से परिवर्तन होना स्वाभाविक है। और इसीलिए ढक्क विभाषा पर हम एक ओर अपभ्रंश की छाप देखते है तो दूसरी ओर मागधी का पूर्ण प्रभाव। ऐतिहासिक प्रमाणो से यह सिद्ध है कि आभीर त्रिकूटो की भाँति सफल शासक थे। पाँचवीं शताब्दी में उत्तर महाराष्ट्र और उत्तर गुजरात त्रिकूटों के अधिकार मे थे, जो उन्हे आभीर राजा से प्राप्त हुए थे[2]: यही नही, छठी शताब्दी के प्रारम्भ में ही आभीरो ने लिच्छवि राज्य पर आक्रमण कर उसे जीत लिया था और कुछ समय तक शासन भी किया था।[3] शिलालेखों के प्रमाण से भी इस की पुष्टि होती है। इस प्रकार उक्त सन्दर्भो से पता लगता है कि अपभ्रंश उत्तर-पश्चिम प्रदेशों की भाषा थी जिस का सम्बन्ध विशेष रूप से निम्न जातियो से था और प्रामाणिक रूप से जो आभीरों तथा जन सामान्य की बोली थी।

अपभ्रंश : विकार या विकास—संस्कृत के व्याडि, भर्तृहरि और पतंजलि आदि वैयाकरण उच्चारण की असावधानी से पहले जिसे अपशब्द कह कर भाषा का बोध कराते थे बाद मे अपशब्द एवं भ्रष्ट शब्दों का बाहुल्य देख कर उसी को 'अपभ्रष्ट गिरः' या अपभ्रंश कहने लगे। वैयाकरणो का स्पष्ट मत है कि साधु प्रयोग संस्कृत है और विकृत अपभ्रंश। उन का यह भी कथन है कि शब्दो को बिगाड़ कर बोलने की

---

१ पंजाब में चेहका महत्त्वपूर्ण राज्य कहा जाता है जो टक्क से अभिन्न है। उस की राजधानी सियालकोट के पास थी। टक्क पूर्व में व्यास नदी मे लेकर पश्चिम मे सिन्धु तक विस्तृत था। दे०, द क्लासिकल एज, जिल्द तृतीय, पृ० १११।

२. वही, पृ० १६३।

३ वही पृ० ८४।

प्रवृत्ति परम्परागत है और इसलिए शब्दों की प्रकृति ही अपभ्रंश है।[1] किन्तु महर्षि पतंजलि का कथन है कि एक ही शब्द के कई बिगड़े हुए रूप मिलते हैं और इसलिए वे सब अपभ्रंश हैं। यथा—एक गौ शब्द के वाचक गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका आदि अनेक अपभ्रंश शब्द हैं।[2] किन्तु किसी एक वस्तु के बोधक अनेक शब्दों के होने से तो कोई भाषा अपभ्रंश नहीं मानी जा सकती है। क्योंकि एक ही भाषा में एक पदार्थ के वाचक अनेक शब्द हैं। इसलिए पतंजलि का यह अभिप्राय नहीं कहा जा सकता कि एक अर्थ के बोधक कई शब्दों के होने से वह अपभ्रंश है। इस के दो ही कारण हो सकते हैं। एक तो यह कि ये शब्द आर्येतर प्रजाओं द्वारा ही प्रयुक्त होते हों या शूद्रों अथवा म्लेच्छों में व्यवहृत हो और दूसरे व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ के वाचक न हों। महाभाष्य के विवरण से भी इस का किंचित् संकेत मिलता है।[3] स्पष्ट ही महाभाष्य में कथित अपभ्रंश शब्दों में से गोणी प्राकृत में, पाली में और सिन्धी में तथा गावी (ग्राह्मी) बंगला में प्रयुक्त है। गाय का वाचक 'गावी' शब्द पाली में भी देखा जाता है। गोपोतलिका का अर्थ जवान गाय कहा जाता है। सम्भवतः गोता त्रस्त गाय को कहते थे[4]। महाभाष्य के आदि पद से गोणा तथा गोण शब्द का ग्रहण किया जा सकता है। प्राकृत में 'गोणा' तथा 'गोला' शब्द भी गाय के अर्थ में प्रचलित रहा है।[5] पाली में 'गोण' शब्द गाय का बोधक है।[6] देशीनाममाला की टीका में भी गाय अर्थ में 'गोण' शब्द प्रयुक्त हुआ है।[7] गोण का एक अर्थ पाली और प्राकृत में बैल भी है। हेमचन्द्र ने इस का एक अर्थ सन का वस्त्र कहा है।[8] अतएव अपभ्रष्ट शब्दों से भरित किसी भाषा को अपभ्रंश नहीं कहा जा सकता। वैयाकरणों का यह दृष्टिकोण सीमित एवं संकुचित कहा जा सकता है। यद्यपि महर्षि पाणिनि ने आर्येतर प्रजाओं तथा म्लेच्छों की बोलियों से संस्कृत को बचाने का अप्रतिम प्रयत्न किया, किन्तु असीरियन, मिश्र, फिनोउग्रियन आदि भाषाओं से समय-समय पर प्रभावित हो कर संस्कृत भाषा नाम-रूपों को ग्रहण

---

१ पारम्पर्यादपभ्रंशा विगुणेष्वभिधातृषु।
प्रसिद्धिमागता येषु तेषां साधुरवाचकः ॥—वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड, १५४।

२ एकैकस्य हि शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः। तद्यथा गौरित्यस्य शब्दस्य गावी गोणी गोता गोपोतलिकेत्यादयो बहवोऽपभ्रंशाः।—महाभाष्य, १, १, १।

3. वेदान्नो वैदिकाः शब्दाः सिद्धा लोकाच्च लौकिकाः, अनर्थकं व्याकरणम् इति। यदि तावच्छब्दोपदेशः क्रियते, गौरित्येतस्मिन्नुपदिष्टे गम्यत एतद्-गाव्यादयोऽपशब्दा इति। अथाप्यपशब्दोपदेशः क्रियते, गाव्यादिषूपदिष्टेषु गम्यत एतद् गौरित्येष शब्द—इति। किं पुनरत्र ज्यायः।
—वही, १, १, १।

४ दे०, गोत्तास शब्द, जैनागम शब्दसंग्रह (अर्द्ध मागधी गुजराती कोष), पृ० ३००। प्रथम संस्करण

५. नदी तंबा बहुला गिट्ठी गोला य रोहिणी सुरटी।—पाइअलच्छी नाममाला, ४५।

६, गोण नाम्हि वा सुहिना सुच।—कच्चायन पाली व्याकरण, २।१, २६, ३०। सहग्गहणेन स्यादिसेसेसु पुब्बुत्तरवचनेसुपि गोण गु गवयादेसा होति।

७ गोणशब्दस्तु गवि शब्दानुशासने साधितोऽपि गोणादिप्रपञ्चत्वादस्य प्रबन्धस्येहोपात्तः।
रत्नावली टीका २ १०४

८ शाणी गोणी छिद्रवस्त्रे ३ ९९

करती रही है। प्राकृत और अपभ्रंश लोक-परम्परा की भाषाएँ है जो देशी पानी पीकर परिपुष्ट होती रही है। उन मे जातीय और विजातीय सभी मेल के तत्त्व तथा उपादान लक्षित होते है। निश्चित ही ये देशी भाषाएँ रही है और इन मे लिखा हुआ साहित्य भी बहुत कुछ लोक-साहित्य है। महाराष्ट्र में तो अभी तक अपनी भाषा को प्राकृत कहने की परम्परा बनी हुई है। मराठी भाषा के आदि कवि मुकुन्दराज कहते है कि यदि गन्ना ऊपर से काला भी हो तो उस का रस तो मीठा है न? इसी प्रकार मेरे बोल प्राकृत में होने पर भी उन मे विवेक तो भरा हुआ है। इसी प्रकार यदि कल्पतरु के फल घर के ही झाड़ में फलें तो फिर उन्हे कौन ग्रहण न करेगा? भाषा चाहे देशी हो या मराठी पर यदि उस में उपनिषदों का सार है तो हम उसे गाँठ मे क्यो न बाँधेंगे?[1] गोस्वामी तुलसीदास ने भी 'गिरा ग्राम्य' कह कर देशी भाषा का महत्त्व दर्शाया है।[2] वस्तुतः प्राकृत और देशी भाषा में कोई अन्तर नहीं है, केवल कथन मात्र का भेद है। दक्षिण भारत मे आलवारो ने और उत्तर मे सन्तो ने अपने ग्रन्थो की रचना बहुतकर देशी भाषा में ही की है। महाराष्ट्र के एकनाथ और उत्तर भारत के तुलसीदास और कबीरदास प्राकृत और भाषा का ही गुण-गान गाते हैं।[3] अतएव वैयाकरण जिसे अपभ्रष्ट तथा विकृत कहते है वह भाषा का विकार न हो कर विकास है। भाषा का यह विकास शब्दों मे ही नहीं अर्थ मे भी देखा जाता है। संस्कृत के जो प्रयोग वैदिक युग मे प्रचलित थे वे कालिदास के युग मे नहीं दिखाई देते और जो विशिष्ट शब्द-प्रयोग कालिदास में है वे परवर्ती रचनाओ मे नही मिलते। उदाहरण के लिए भले ही कुछ शब्दों को हम ढूँढ कर गिना दें पर चलन मे बहुत से शब्द निरन्तर घटते ही चले गये है। यशस्तिलक चम्पू मे सोमदेव ने कुछ वैदिक शब्दों का प्रयोग किया है पर वे अर्थ में भिन्न है।[4] यथार्थतः परिवर्तन भाषा का स्वभाव है और उस की गतिशीलता का भी यही सब से बड़ा प्रमाण है। जहाँ वैयाकरण शिष्टों के प्रयोग से हीन भाषा को अपभ्रंश कहते हैं वही साहित्यशास्त्री अश्लील तथा ग्राम्यपदो को सदोष मानते है और काव्य मे उन का निषेध करते है। स्पष्ट ही निम्न वर्ग के लोगो के शब्द-

---

१. कल्पतरूचेनि पाडें, जरी फलती घरची झाडें।
तरी तिये आवडीचेनि कोडें, न लावावीं कां?
देशी हो का महाराठी, परी उपनिषदाची च राहाटी।
तरी हा अर्थ जीवाचिया गाठी, का बाधावा?—विवेकसिन्धु
तथा—"महाराष्ट्रीपदेन प्राकृतग्रहणम्"—कात्यायन—सूत्रवृत्ति (भामह)।

२. स्याम सुरभि पय विसद अति, गुनद करहिं सब पान।
गिरा ग्राम्य सिय राम जस, गावहि सुनहि सुजान॥—रामचरितमानस, बालकाण्ड १० (ख)

३. आता संस्कृता अथवा प्राकृता। भाषा जाली जे हरिकथा॥—एकनाथ
जे प्राकृत कवि परम सयाने, भाषा जिन्ह हरि चरित बखाने।
—रामचरितमानस, बालकाण्ड, गुटका, पृ० ४४।
कबिरा संसकिरत कूप जल, भाखा बहता नीर।
जब चाहे तब ही लहे होवे सान्त सरीर॥—कबीर

४ देखिए यशस्तिलकम् (सोमदेव) की भूमिका पृ० ८

प्रयोग सुनने में बुरे लगते है और सम्भवतः इसीलिए वे काव्य में अनुचित माने जाते है। भोज ने भी कहा है कि लोक को छोड कर और कहीं ग्राम्य प्रयोग नहीं चलते। अश्लील, अमंगल और घृणासूचक शब्द को ग्राम्य कहते है।[1] यही कारण है कि संस्कृत-साहित्य एक दो रचनाओ मे छोड़ कर यथार्थ की कठोर भूमि पर पैर नहीं फैला सका है। फिर, जीवन्त यथार्थ मे बीभत्स और रौद्र को रस रूप में अभिव्यक्त करना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है। काव्य में ऐसे सन्दर्भों में घृणा व्यंजक चित्रों को भी ग्राम्य भाषा में अभिव्यंजित करना ही पड़ता है और पाठक अत्यन्त रुचि के साथ उस का रसास्वाद करता है। यही नही, प्रकृति, स्थान आदि के भेद से प्रबन्ध में परवर्ती युग में ग्राम्य और देशी भाषाओं का प्रयोग भी विहित माना जाने लगा था।[2] नाट्य तथा रूपकों मे स्पष्टतः अपभ्रंश कही जाने वाली भाषा का प्रयोग होता था। यद्यपि उस पर प्राकृतो का पानी चढा दिया जाता था पर उस की चेतना तो झलकती ही रहती थी। यदि समूचे भारतीय वाङ्मय का आलोडन किया जाय तो एक नहीं अनेकों ऐसी रचनाएँ मिलेंगी जिन मे प्राकृत के साथ ही अपभ्रंश का भी प्रयोग है। अभिनवगुप्त के तन्त्रसार मे भी प्राकृत के साथ कुछ अपभ्रंश के दोहे मिलते है।[3] इन के अतिरिक्त ग्राम्यदोष के जो उदाहरण मिलते है उन मे जिस विशिष्ट शब्द से ग्राम्यत्व की प्रतीति करायी जाती है वह प्रायः द्व्यर्थक होता है। वस्तुतः लक्षण-शास्त्रों मे ग्राम्य और अश्लील दोष की कल्पना हेय है। समाज में ये इतने घुले-मिले शब्द होते हैं कि सामान्य जनता उन पर ध्यान ही नही देती है। इस प्रकार जन सामान्य की कुरुचि का परिणाम न हो कर यह शिष्टता का द्योतन मात्र है, जिस में वर्ग-भेद की मूल भावना निहित है। समाज में उच्च जनों के बीच गाली देना सब से बुरा समझा जाता है। किन्तु लोक मे विवाह जैसे मांगलिक कार्यों मे रुचि पूर्वक गारी गायी जाती है, फाग खेली जाती है। छोटे-बड़े सभी मिल कर उन में भाग लेते है। ग्राम्य गीत, लावनी और बारहमासा आदि इसी प्रकार की काव्यगत विधाएँ हैं।

उक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि वैयाकरण और साहित्यशास्त्री जिसे भ्रष्ट, अश्लील और ग्राम्य तथा काव्य के लिए अनुपादेय एवं हेय समझते है वह जन-जन की चेतनात्मक अभिव्यक्ति का प्रकाशन है। वस्तुतः शब्द और अपशब्दों में मनुष्य की वैयक्तिक और सामाजिक भावना की मुख्यता रहती है, न कि शब्दो के याथार्थ्य की। फिर शब्दों का बिगडना और बदलना लोक-जीवन की प्रवृत्ति मे निहित रहता है।

---

१. अश्लीलामङ्गलघृणावदर्थं ग्राम्यमुच्यते।
देश्यातिरिक्तं लोकमात्रप्रयुक्तं ग्राम्यम्। तत्त्रिधा व्रीडाजुगुप्सातङ्कदायित्वात्। तत्राद्यमश्लीलं श्रीर्यस्यास्ति तच्छ्लीलम्। न श्लीलमश्लीलम्।—सरस्वतीकण्ठाभरण, १, १४४।

२. प्रकृतिस्थादिभेदेन ग्राम्यादिभिरथापि या।
अपदं तस्य चानुज्ञा भाषाचित्रे विधीयते॥—वही, १, ११८।
यथा—ऐसे सच्च जि बोल्लु। इत्यादि। १, १५६।

३. जह जह जस्सु जहिं चिव पफुरइ अज्झवसाउ।
तह तस्सु तहिं चिव तारिसु होइ पहाउ ४१।

भाषाशास्त्री उस के नियम गढ़ नहीं सकता। शब्दों का अनुशासन मात्र करना उस का ध्येय होता है। यह लोकप्रवृत्ति है कि वह सरलता और लाघव की ओर बढ़ती है। यदि भाषा भी जटिलता से सरलता की ओर बढ़े तो क्या उसे अस्वाभाविक कहा जायेगा? इतना ही नहीं, ऐसी प्रवृत्तियों को जनता भी अत्यन्त चाव से अपनाती है। भाषा संस्कृति और समाज से अपने को अलग नहीं कर सकती। यही कारण है कि भारतीय साहित्य के मध्ययुग में स्त्री-पुरुष तथा व्यावहारिक वस्तुओं के नाम अपभ्रंश के साँचे में ढले हुए मिलते हैं। डॉ० अग्रवाल ने राष्ट्रकूट युग के कुछ मध्यकालीन अपभ्रंश नामों का उल्लेख किया है जो उस युग के शिलालेखों तथा जैन पुस्तक-प्रशस्तियों में मिलते हैं।[१] इस प्रकार भाषागत विकास की प्रवृत्ति को अपभ्रष्ट या विकृत कहना रूढ़िबद्धता का परिचय देना है। आज भी जो प्राचीनता के पक्षपाती हैं, वे ऐसे नामों में भ्रष्टता की गन्ध पाते हैं। पर वस्तुतः यह प्राचीनता के नाम पर वर्तमान की घोर उपेक्षा है जिसे आने वाला युग कभी नहीं भुला सकता। और फिर जिसे आज हम संस्कृत और शिष्टता का पानी पिला कर सम्मान प्रदान कर रहे हैं कल वही लोक-ढाँचे में ढलती-निखरती किसी दूसरी ही भाषा के रूप को ग्रहण करने लगती है। भाषा का यह स्वभाव है, जिसे कोई बदल नहीं सकता। केवल हमारी मानसिक प्रवृत्ति ही उस के इस स्वभाव के कारण अच्छा-बुरा नाम दे कर अपना समाधान करती रहे पर वह समाज में स्थान बनाये बिना रहती नहीं। कौन जानता था कि सदियों से अपभ्रष्ट कह कर जिस की उपेक्षा होती रही है उसी की बेटी बीसवीं शताब्दी में जन-जागरण का कार्य कर समूचे भारत राष्ट्र की राष्ट्रीय भाषा बनेगी। ये कुछ ऐसे तथ्य हैं, जिन्हें हम अब अधिक समय तक अँधेरे में नहीं रख सकते।

अपभ्रंश और पुरानी हिन्दी

अपभ्रंश मध्ययुगीन आर्य भाषाओं के विकास की अन्तिम अवस्था का नाम है। इस युग में भारतीय संस्कृति, समाज, साहित्य और भाषा तथा कला में अत्यन्त उलट-फेर दिखाई देते हैं, जिस का मुख्य कारण विभिन्न जातियों का संगम, मिश्रण तथा प्रभाव है। गुप्त युग से ही अपभ्रंश का प्रचार और प्रसार-क्षेत्र बढ़ने लगता है। दसवीं शताब्दी तक वह राजपूताना, मालवा, गुजरात, महाराष्ट्र और दक्षिण भारत के कुछ भागों से लगा कर पश्चिमी सीमान्त प्रदेशों तक लोक-बोलियों में फैली रही है। यही कारण है कि अपभ्रंश की उकारान्त प्रवृत्ति सिन्धी, सौराष्ट्री और अवधी में ही नहीं तेलुगु में भी दिखाई देती है। यही नहीं, टेसिटोरी जिसे प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी कहते हैं उसे ही कई विद्वान जूनी या पुरानी गुजराती मानते हैं और दोनों का ही उद्भव

लगता ही है पर दोनो की एकरूपता का भी निश्चय हो जाता है। पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी अपभ्रंश की ही एक स्थिति को पुरानी हिन्दी मानते हैं और उस से हिन्दी का विकास हुआ स्वीकार करते हैं। उन का कथन है कि विक्रम की सातवी शताब्दी से ग्यारहवी तक अपभ्रंश की प्रधानता रही और फिर यह पुरानी हिन्दी में परिणत हो गयी।[१] इस मे उन्होंने देशी का प्राधान्य माना है। किन्तु तथ्य यह है कि जिसे वह पुरानी हिन्दी कहते हैं उसी का विद्यापति अवहट्ठ कह कर परिचय देते हैं। और यह अवहट्ठ या अवहंस अपभ्रंश के अतिरिक्त अन्य कोई भाषा नही है। इस मे ग्राम्य और देशी परम्परा के तत्त्व प्राचीन काल से ही विद्यमान हैं। इस लिए इसे अपभ्रंशकालीन परवर्ती रूप अर्थात् उत्तरकालीन पश्चिमी अपभ्रंश माना जाता है। भाषा-विकास के इतिहास से पता लगता है कि किसी समय दक्षिणी सौराष्ट्री और गुजराती तथा मेवाडी (राजस्थानी) एक था। इसी प्रकार व्रज, कन्नौजी और बुन्देली भी एक थी।[२] किन्तु उत्तर काल मे राजनैतिक उथल-पुथल और छोटे-छोटे राज्यो मे बँट जाने के कारण उन मे कई भेदोपभेद हो गये।

प्राकृत भाषा की प्राचीनतम रचनाओं को देखने से प्रतीत होता है कि प्राकृत युग में ही बोली के रूप में अपभ्रंश का जन्म हो गया था। केवल वैदिक भाषा में ही नही आर्मेनियन, ग्रीक और लेटिन आदि मे भी बोलियाँ सुरक्षित हैं।[3] वस्तुतः पाली और प्राकृतों का विकास विभिन्न बोलियों के योग से हुआ है। फिर, भाषा का यह सामान्य तत्त्व है कि कोई भी भाषा किसी बोली को जन्म नही दे सकती। इस लिए जब हम कहते हैं कि हिन्दी का विकास अपभ्रंश से हुआ तो इस का यही अर्थ है कि अपभ्रंश के योग से उस का जीवन फूलता-फलता रहता है। किन्तु भाषा के पद पर समासीन हो जाने के बाद प्राय: भाषाओं का जीवन शास्त्रीय एवं कृत्रिम हो जाता है। इसीलिए विद्यापति ने देशी भाषा मे कीतिलता की रचना कर लोक-रुचि का परिचय दिया है। भारतीय भाषाओ में दशवी शताब्दी के अनन्तर लोक-भाषाओं का प्रभाव बढ-चढ गया था इस लिए साहित्य मे भी उन का स्थान बनने लगा था। यथार्थ में यह भाषा का संक्रमण काल था, जिस में नवीन प्रवृत्तियाँ जन्म ले रही थी। इसीलिए कोई इस काल की उत्तर-पश्चिम भारत मे फैली हुई भाषा को प्राचीन राजस्थानी, जूनी गुजराती, पश्चिमी अवहट्ठ और कोई शौरसेनी अपभ्रंश से मिलती-जुलती भाषा कहते हैं।[४] वस्तुत: इन सभी भाषा-रूपो पर आ० हेमचन्द्र के व्याकरण मे उदाहृत अपभ्रंश दोहो की छाप लगी हुई मिलती है। अतएव नाना-रूपो की कल्पना करने की अपेक्षा

नाम देने म लाघव है भाषा-विकास की सूचक नयी अवस्था के लिए इसे

परवर्ती अपभ्रंश नाम दिया जा सकता है। यदि हम तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो परवर्ती अपभ्रंश में हमें अत्यधिक अन्तर मिलता है। परवर्ती अपभ्रंश मे लिखी गयी रचनाएँ देशी बोलियो से युक्त है। उक्ति रत्नाकर, उक्ति व्यक्ति प्रकरण और गुर्जर रासक आदि ऐसी ही रचनाएँ है। अतएव अपभ्रंश में बंगला, मराठी, गुजराती, राजस्थानी, बुन्देलखण्डी तथा व्रज आदि भाषाओ और बोलियो के शब्द-रूप मिलते है, जिन मे भाषा और रचना मे अत्यन्त साम्य है।

अपभ्रंश साहित्य का युग

ऐतिहासिक विकास के अनुसार अपभ्रंश साहित्य का युग छठी शताब्दी से पन्द्रहवी सदी तक माना जा सकता है। सालहवी और सतरहवी सदी में लिखी गयी रचनाएँ बहुत कम मिलती है। आ० भामह के लगभग सौ-डेढ़ सौ वर्ष पहले नही तो उन के युग मे संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश मे प्रबन्ध काव्य अवश्य लिखे जाते रहे होंगे तभी तो उन्होने काव्य के रूप में उन का उल्लेख किया है। अपभ्रंश साहित्य का यह युग इतिहास मे राजपूत और गुर्जरो का समसामयिक युग रहा है। आभीरों का उत्कर्ष काल भी यही है। तीसरी शताब्दी से ही आभीर राजाओं के शासन का विवरण मिलने लगता है और पुराणो के अनुसार यह कहा जा सकता है कि दस आभीर राजाओ ने आन्ध्रों के पश्चात् साठ-सत्तर वर्ष तक राज्य किया था। पश्चिमी भारत के शक क्षत्रप और ईश्वरसेन सम्भवतः (२३५-४० ई०) इस वंश के प्रतिष्ठापक थे।[१] इतिहास मे भी इस के प्रमाण विरल नही है। चन्द्रवल्ली के शिलालेख से पता लगता है कि मयूरशर्मन् ने त्रिकूट, आभीर, पल्लव, पारियात्रिक, शकस्थान, स्यन्दक, पुन्नट और मोकरी वंश के राजाओ को पराजित किया था।[२] नेपाल की एक वंशावली के अनुसार वहाँ का राजा वसन्तदेव आभीरों से पराजित हो गया था[३]। गुप्त युग में आभीर पूर्वी राजपूताना, और मालवा में बसे हुए थे तथा वहाँ और चम्बल की ओर उन का शासन विस्थापित था। उस समय पंजाब, पूर्वी राजपूताना और मालवा के कई भागो में जातीय गणतन्त्र राज्य थे।[४]

मध्य युग मे गुर्जरो की स्थिति अच्छी थी। परिहार राजपूत गुर्जर या गूजरों की एक शाखा है। दसवी, ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दी में इन मे कई अच्छे राजा हुए है। राजा भोज गूजरों के प्रतिहार वंश के थे।[५] राजपूतों का देश के सभी भागो

---

१. के० ए० नीलकान्त शास्त्री ' हिस्ट्री ऑव इण्डिया, प्रथम भाग, द्वितीय संस्करण, पृ० १४०।
२. चन्द्रवल्ली इन्स्क्रिपशन आव मयूरशर्मन् आर्कालाजिकल सर्वे आव मैसूर एनल रिपोर्ट १९२९, प्लेट ११, प्रकाशित १९३१, पृ० ५०।
३. द क्लासिकल एज, खण्ड तृतीय, पृ० ८४ (प्रथम संस्करण)।
४. विनसेण्ट ए० स्मिथ . द अर्ली हिस्ट्री ऑव इण्डिया, चतुर्थ संस्करण, पृ० ३०२
५ वही पृ ४२०

में प्राबल्य रहा है। उत्तरी भारत के राजपूतों में चौहान, परिहार, तोमर और पवार तथा दक्षिण में चन्देल, कलचुरि या हैहय, गाहड़वाल और राष्ट्रकूट मुख्य रहे हैं। राजपूत परवर्ती काल मे गुजरात के सभी प्रदेशों मे फैल गये थे। इस लिए उन प्रदेशों तथा जनपदों की बोली और भाषा में अत्यन्त साम्य है। आलोच्य काल मे कन्नौज में गुर्जर-प्रतिहार, गाहड़वाल; शाकम्भरी और अजमेर में चौहान; बुन्देलखण्ड में चन्देल; मालवा में परमार, अन्हिलवाड में सोलंकी; त्रिपुरि मे कलचुरि और बंगाल में पाल तथा सेन वंश के राज्य विस्थापित थे। दक्षिण राज्यों में मान्यखेट के राष्ट्रकूट, कल्याण के पश्चिमी चालुक्य, देवगिरि के यादव और कदम्बकुल के राज्य प्रमुख थे।

राजनैतिक स्थिति—गुप्त साम्राज्य के पतन के पश्चात् उत्तरी भारत कई छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त हो गया। दिल्ली के समीपवर्ती प्रदेश तोमरवंश के अधिकार में थे। इस वंश का प्रसिद्ध राजा अनंगपाल था। जब अजमेर के राजा वीसलदेव (विग्रहपाल चतुर्थ) ने दिल्ली के तोमरो को युद्ध में पराजित कर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया तब दिल्लो राज्य भी अजमेर राज्य के अन्तर्गत हो गया। गुजरात मे सोलंकियों का राज्य था। गुजरात की राजधानी अन्हलवाड़ा में थी। सोलंकी राज-पूत पहले के प्रतिहारो के अधीन थे पर बाद में स्वतन्त्र हो गये। जैन रचनाओं में इन का पूरा विवरण मिलता है। नवी शताब्दी में कन्नौज पर प्रतिहारों का आधिपत्य स्थापित हुआ। दक्षिण राजपूताना के गुर्जर प्रतिहारों ने भीनमाल में सातवी शताब्दी के आरम्भ मे ही राजधानी बना ली थी। इस के पूर्व तक कन्नौज का वही महत्त्व था जो मुगल-युग में दिल्ली का था। कन्नौज और कश्मीर इस काल में संस्कृत-साहित्य के दो प्रमुख केन्द्र थे। गुर्जर-प्रतिहार वंश का अन्तिम शासक राज्यपाल १०१२ ई० मे महमूद गजनवी से पराजित हो गया। कन्नौज के पतन के पश्चात् उसने अपनी राजधानी गंगा के दक्षिणी तट पर हटा ली थी; किन्तु अब उस का भी पतन हो गया। इसी समय प्रतिहार राज्य अनेक छोटे राज्यों मे विभक्त हो गया—गुजरात में चालुक्य, मालवा में परमार, अजमेर मे चौहान, मथुरा में यादव, चेदि मे घाहल, देहली में तोमर और बंगाल में सेन।

यवन लोग इस देश को एक साथ पूर्ण रूप से नहीं जीत सके। वे अपने राज्य का विस्तार क्रमशः लगभग पाँच सौ वर्षों में कर सके। इस युग के राजा लोग युद्धप्रेमी होने के साथ ही विद्या तथा कला के भी प्रेमी होते थे। इसी काल में प्रतिहार शक्ति के क्षीण होते ही अधीनस्थ चन्देल, कलचुरि तथा चौहान राज्य स्वतन्त्र हो गये थे। इसी प्रकार गुर्जर सोलंकी, चालुक्य और मालवा के परमार भी स्वाधीन हो गये थे। स्प ही ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दी में उत्तरी भारत की शक्ति अधिक क्षीण हो गयी थी तथा ७ छिन्न-भिन्न हो गये थे इस युग में कई तत्त्वों में जहाँ जातीय

प्रभुत्व बढ़ रहा था वही विदेशी शक्तियाँ अत्यन्त प्रभावशील हो उठी थी। इस लिए कई प्रकार के संघर्ष हुए, जिन से भारत की राजनैतिक चेतना दिनों दिन धुँधली होती गयी। सिकन्दर के आक्रमण के पश्चात् इस देश पर यूनानी, शक, सिथियाई, हूण, अरब, तुर्क, और मंगोल आदि निरन्तर आक्रमण करते रहे। ग्रीकों के पश्चात् शको का शासन स्थापित हुआ। उन के केन्द्रस्थल थे—सिन्ध, तक्षशिला, मथुरा, उज्जैन और महाराष्ट्र। शकों की ही भाँति आभीरों और कुषाणो ने भी भारतीय वर्ण-व्यवस्था पर जाने-अनजाने आक्रमण किये। कुषाणों का शासन किसी न किसी रूप मे उत्तर भारत में दूसरी सदी ईसवी के अन्त तक जमा रहा। शकों ने अपने शासन के सिन्ध, पंजाब, मथुरा, मालवा और महाराष्ट्र ये पाँच केन्द्र बनाये थे। आभीर उन के पश्चिम में स्थानापन्न हुए, कुषाण उत्तर मे।[१] गुप्त सामाज्य को छिन्न-भिन्न करने में हूणो का आक्रमण प्रमुख था। हूण अत्यन्त बर्बर थे। स्मिथ ने गुर्जरो को श्वेत हूणों से मिश्रित जाति कहा है।[२] जो भी हो, विभिन्न जातिया के सम्पर्क और संगम से उस काल में समाज और राजनीति मे नयी चेतना का प्रसार हुआ। शकों के युग में ही आभीर भारतीय सत्ता पर छाप लगाने लगे थे। गुप्त युग मे उन का और भी जोर बढा और धीरे-धीरे मध्य भारत तक छा गये। इसी समय पार्थव और पल्लवो का प्रभुत्व बिलकुल क्षीण हो जाने से कुषाणों का आधिपत्य स्थापित हुआ। कनिष्क के शासन-काल मे बौद्ध धर्म का विशेष प्रचार हुआ। उत्तर काल में गणतन्त्र राज्यो का प्राबल्य रहा, जिन का संचालन-सूत्र प्राय: आयुधजीवी जातियों के हाथ रहा। यह युग जन-जीवन के विग्रह का था जो इतिहास में मध्यकाल के नाम से जाना जाता है। यद्यपि विरोधी शक्तियाँ अब भारतीय जीवन मे घुल-मिल सी गयी थी, किन्तु पौरोहित्य और पुराण-वाद के विरुद्ध एक नयी क्रान्ति का सूत्रपात होने लगा था। यही वह समय था जब चालुक्य सत्ता राष्ट्रकूटों के हाथ पहुँच कर उन की दासी बन गयी थी। सुदूर दक्षिण में चोल शासन राजतन्त्रात्मक व्यवस्था पर प्रभावशील था। दक्षिण भारत के इतिहास मे यह स्वर्ण युग माना जाता है जब समूची राजनैतिक सत्ता एक ही तन्त्र मे केन्द्रित रही है। यह इस बात का प्रमाण है कि समय-समय पर देश की राजनैतिक चेतना विविध जातीय तथा विभिन्न विजातीय शक्तियों के द्वारा मथी जाने पर भी अपने अस्तित्व को बनाये रही है और परिस्थितियो के अनुकूल उस मे भावनात्मक एकता को वह्नि प्रज्वलित होती रही है।

सामाजिक स्थिति—ग्रीको और शकों के भारत आगमन के पश्चात् ही समाज कई विरोधो से अस्त-व्यस्त हो उठा था। कुषाणों ने आते ही उसे प्रभावित एव आन्दोलित कर बहु देवी-देवताओं का प्रचार किया। इतिहास मे वे मध्य एशियाई, ग्रीक और भारतीय संस्कृतियों के पारस्परिक सम्मिश्रण के साधन बने। कनिष्क अनेक

---

१ भगवतशरण उपाध्याय : भारतीय समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण, प्रथम सस्करण, पृ० १०१।

२ विनसेण्ट ए० स्मिथ द अर्ली हिस्ट्री ऑव इण्डिया चतुर्थ संस्करण पृ० ३४०

संस्कृतियों के देवताओ मे विश्वास करता था और उस के सिक्कों पर ग्रीक, मिश्रीय, पारसी तथा भारतीय देवताओं का अपूर्व समारोह है।[१] कुषाणकालीन समाज, वेश-भूषा, कला, शिल्प तथा स्थापत्य आदि में आगे चल कर बहुविध विकार हुआ जो गुप्त काल मे गौरव गरिमा को प्राप्त हुआ। यद्यपि ग्रीक, शक, कुषाण, आभीर, हूण और गुर्जरो ने भारतीय सामाजिक विधान तथा वर्णाश्रम के रूप में प्रतिपालित वर्गवाद के विरुद्ध क्रान्ति की रचना की थी, किन्तु कई जातिगत इकाइयाँ उसे न अपना सकी थी। अतएव परवर्ती काल मे अनेक सम्प्रदाय उठ खडे हुए। परिणामत सामाजिक शक्ति बिखरने लगी। जाति और नियम पर अधिक बल दिया जाने लगा। ब्राह्मणों का प्रभुत्व समाज में विशेष था। किन्तु साथ ही कई प्रकार के परिवर्तन होने लगे थे। वैवाहिक बन्धनो मे पहले जैसी दृढता नही थी। राजाओ मे क्षत्रियो का प्रभुत्व बढ़ चुका था। धीरे-धीरे आक्रान्ताओ की भाँति राजनीति का प्रभाव समाज पर भी पड़ने लगा।

आलोच्य काल में दक्षिण भारत में ही नही उत्तर भारत में भी कला की बहुत उन्नति हुई। खजुराहो और आबू तथा कश्मीर और दक्षिण में समीपवर्ती प्रदेशों में स्थित मन्दिर इस युग की चित्रकला के जीवन्त निदर्शन है। राजा भोज के समय वास्तुविद्या, व्याकरण, अलंकार, योगशास्त्र और ज्योतिष आदि विषयों पर कई उपयोगी और विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ लिखे गये।[२] इस युग मे जातिभेद बहुत ही बढ गया था। सदाचार की दृष्टि से उच्च वर्गों का रहन-सहन ऊँचा था। ऊँचे कुल की स्त्रियाँ शासन मे भाग लेती थी, समाज के मागलिक कार्यो में हाथ बँटाती थी। चालुक्य नरेश जयसिंह द्वितीय की बड़ी बहिन अक्कादेवी एक प्रान्त पर शासन करती थी।[3] दक्षिण मे संगीत, नृत्य एवं ललित कलाओं का बहुत प्रचार था। वैश्य कृषि-कर्म छोड कर अब पूर्ण रूप से वाणिज्य व्यवसाय करने लगे थे। किन्तु सामाजिक विधान लगभग ज्यो के त्यो थे। वैयक्तिक आचार-विचार की अपेक्षा सामाजिक नैतिकता का महत्त्व था।

धार्मिक स्थिति—पाँचवी या छठी शताब्दी में विभिन्न धर्म और सम्प्रदाय के लोग इस देश में मिल-जुल कर रहते थे। किन्तु सातवी शताब्दी में विशेष कर तमिल की परिस्थितियो मे कई प्रकार के परिवर्तन हुए। अत्यन्त प्राचीन काल से भारतवर्ष में वैदिक यज्ञ-याग, मूर्ति-पूजा, देवी-देवताओ की उपासना और बलि-दान की प्रथाएँ प्रचलित रही हैं। किन्तु आन्दोलन के रूप मे इसी समय दक्षिण भारत से एक लहर उठी, जिस का उद्देश्य जैन और बौद्ध धर्म का प्रभाव क्षीण कर शिव तथा विष्णु की उपासना का प्रचार करना था।[४] शैव और वैष्णव धर्म के प्रचारक ये सन्त एक मूर्ति

---

१ भगवतशरण उपाध्याय ' भारतीय समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण, पृ० ७५।

२ गौरीशंकर हीराचद ओझा मध्यकालीन भारतीय संस्कृति तृतीय संस्करण पृ० ३५

३. के० ए० नीलकान्त शास्त्री हिस्ट्री ऑफ इण्डिया प्रथम भाग पृ० २९२

४ वही पृ० २६६

से दूसरी मूर्ति तक नाचते, गाते, विवाद करते तमिल भाषा मे स्तोत्र और पदो को बोलते हुए अपने मत का प्रचार करते थे। वैष्णव सन्त आलवार के नाम से तथा शैव सन्त नायनवार के नाम से प्रसिद्ध हैं। भक्ति के जिस रूप का इन्होंने प्रसार किया आगे चल कर वही आ० रामानुज और रामानन्द के द्वारा उत्तर भारत के जन-जीवन में प्रचलित हो गया। वस्तुतः उक्त सन्त क्रान्तदर्शी थे, जिन्होंने जन-भाषा, साहित्य और भक्ति के विविध अगो का प्रचार किया। परवर्ती काल में आचार्य रामानुज और वल्लभ ने उन्हे सैद्धान्तिक रूप मे प्रतिष्ठित कर वर्णवाद तथा उत्तरकालीन सिद्धान्तो का विरोध कर भक्ति की पूर्णतया स्थापना की।

दक्षिण मे ही नही उत्तर भारत मे भी शैव मत का अधिक प्राबल्य रहा है। इस की विभिन्न शाखाएँ और सम्प्रदाय समूचे देश में व्याप्त है। दक्षिण के सन्त भक्तो से इस मत की भक्ति में अन्तर है। इस के मुख्य सम्प्रदाय है—पाशुपत, कालामुख और कापालिक। दक्षिण भारत के सातवीं शताब्दी के लिखे हुए शिलालेखो तथा साहित्य में इस के उल्लेख मिलते है।[1] आगे चल कर पाशुपत से ही लकुलीश सम्प्रदाय का जन्म हुआ। शाक्त और कौल भी इन्हीं से विकसित हुए। दसवी शताब्दी मे सोमानन्द ने कश्मीर मे शैव सम्प्रदाय की एक नयी शाखा का प्रचार किया, जो प्रत्यभिज्ञा के नाम से प्रचलित हुई।[2] पुष्पदन्त के जसहरचरिउ मे काली चण्डमारी देवी तथा भैरवानन्द का वर्णन है, जिस से ज्ञात होता है कि ग्यारहवी शताब्दी मे पशु-बलि और नाथ सम्प्रदाय का बड़ा प्रचार था।[3] इसी प्रकार सूफी मत का प्रचार भी इस समय तक भलीभाँति हो चला था। बारहवी शताब्दी मे वृन्दावन मे आचार्य निम्बार्क ने वैष्णव भक्ति का प्रचार किया। तदनन्तर बंगाल मे महाप्रभु चैतन्य, जयदेव, चण्डीदास और विद्यापति ने तथा गुजरात मे मध्वाचार्य ने कृष्ण-भक्ति का प्रचार किया। दसवी शताब्दी मे लोकायत सम्प्रदाय का बड़ा जोर था।[4] यशस्तिलक चम्पू मे शैव, पाशुपत, लोकायत, नाथ और वैष्णव आदि सम्प्रदायों का उल्लेख मिलता है जो दसवीं सदी का जीता-जागता चित्र कहा जा सकता है। यद्यपि आठवी शताब्दी मे आचार्य शंकर ने समूचे भारत में शैव सम्प्रदाय तथा अद्वैत वेदान्त का प्रचार कर जैन और बौद्ध को अत्यन्त हानि पहुँचायी थी, किन्तु दसवी सदी में जैमिनि, कपिल और कणाद की भाँति जिन, चार्वाक तथा बुद्ध का आदर के साथ स्मरण किया जाता था।[5] इस युग में खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति विशेष थी। प्राय. सभी साहित्यिक और दार्शनिक तान्त्रिक

---

१. के० ए० नीलकान्त शास्त्री ' हिस्ट्री ऑव इंडिया, प्रथम भाग, पृ० २७०।

२. गौरीशकर हीराचन्द ओझा मध्यकालीन भारतीय सस्कृति, पृ० १८।

३ पुष्पदन्त ' जसहरचरिउ, १,६, १,६।

४ के० के० हान्दीकी ' यशस्तिलक एण्ड इण्डियन कल्चर, प्रथम संस्करण, पृ० २३०।

५ कदाचित् --खण्डनखकाण्डमण्डलीमण्डनाडम्बरगोगुम्फसरम्भेषु जिनजैमिनिकपिलकणचरचार्वाक-शाक्यप्रणीतप्रमाणसवीणतया विदुष्विणीना परिषदो चित्तभित्तिष्वात्मयशःप्रशस्तीरुल्लिलेख। वही पृ० १२ से उद्धृत

साधना, हिंसा और भोगवादी प्रवृत्ति का विरोध करते हैं। इस प्रकार धार्मिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से आलोच्य काल अत्यधिक चिन्तनशील रहा है।

साहित्य-साधना और संस्कृति

यह युग साहित्य-साधना की दृष्टि से अत्यन्त गौरवपूर्ण है। विभिन्न भाषाओं में, विविध रूपों तथा शैलियों में, अनेक विधाओं में साहित्य-रचना इस की मुख्य विशेषताएँ हैं। नवी शताब्दी से बारहवी शताब्दी तक कश्मीर और कन्नौज संस्कृत-साहित्य के दो बड़े केन्द्र थे। प्राकृत के साथ ही संस्कृत काव्य तथा नाटकों का विकास इसी युग मे हुआ। काव्यशास्त्र एवं लक्षणग्रन्थों की अधिकांश रचनाएँ मध्य काल में हुईं। भारतीय विचारों की पूर्णता का द्योतक यह श्रेष्ठ युग कहा जाता है। जैन, वैष्णव, शैव, बौद्ध, सूफ़ी और सन्त तथा नाथ सभी ने निर्दिष्ट काल में उत्तम साहित्य एवं कला को समृद्ध बना कर मध्यकालीन जन-जीवन को प्रभावित किया, जिस की छाप आज भी किसी न किसी रूप मे हमें दिखाई देती है। यद्यपि पूर्व गुप्त युग में अश्वघोष के बुद्धचरित से चरित काव्य की धारा आरम्भ हुई प्रतीत होती है किन्तु ऐतिहासिक व्यक्ति को लेकर बाणभट्ट ने ही कदाचित् पहले पहल हर्षचरित के रूप में रचना की। इस युग मे शास्त्र और पुराण, दर्शन और काव्य तथा नाटकों मे आशातीत उन्नति हुई। संस्कृत-साहित्य के समालोचक इसी युग की देन है। वस्तुतः साहित्यशास्त्र का यह स्वर्णकाल कहा जा सकता है। भामह, दण्डी, लोल्लट, उद्भट, वामन, शंकुक, रुद्रट, आनन्दवर्धन, राजशेखर, मुकुल, प्रतिहारेन्दुराज, भट्टनायक, भट्टतौत, कुन्तक, धनंजय, अभिनवगुप्त, भोज, महिमभट्ट, क्षेमेन्द्र, मम्मट, रुय्यक, हेमचन्द्र, रामचन्द्रगुण-चन्द्र, माणिक्यचन्द्र, अजितसेन, नमिसाधु, वाग्भट्ट और अमरचन्द्र तथा विनयचन्द्र आदि इस काल के प्रसिद्ध आचार्य थे। चम्पू-लेखकों में त्रिविक्रम भट्ट, सोमदेव, हरिचन्द्र, अर्हद्दास और नागचन्द्र मुख्य हैं। नाटक-रचयिताओं में भवभूति, राजशेखर, हस्तिमल्ल, रामचन्द्रसूरि और जयसिंहसूरि का उल्लेख किया जाता है।[1] मोहपराजय, मदनपराजय (संस्कृत), मयणपराजय, ज्ञानसूर्योदय आदि रूपक काव्य (Allegory) भी इस युग मे लिखे गये। इन के अतिरिक्त ऐतिहासिक काव्य, रासा-साहित्य और जैन पुराण तथा दार्शनिक ग्रन्थ भी विशेष रूप से इस काल में लिखे गये।

छठी से आठवी शताब्दी तक तमिल साहित्य की अधिकांश रचना हुई। यद्यपि तमिल-साहित्य की प्राचीनतम रचनाएँ उपलब्ध नही हैं पर प्राप्त रचनाओं से ज्ञात होता है कि संघोत्तर-काल या काव्यकाल मे जैन साहित्यकारों का सब से अधिक योग रहा है। इस युग मे पंच बृहत्काव्य तथा पंच लघुकाव्य की रचना मुख्य बतायी जाती है। पाँच महाकाव्यों में से इळंगो विरचित शिलप्पदिकारम् और जैन मुनि तिरुत्तक्कदेवर

१ वाचस्पति गैरोला : संस्कृत साहित्य का इतिहास, प्रथम संस्करण पृ० ८१२

कृत जीवकचिन्तामणि प्रसिद्ध प्रबन्ध काव्य है। इन मे नीति और रीति का भी उचित समावेश है। पाँच लघु काव्य है :– नीलकेशि, शूलामणि, यशोदरकावियम्, नागकुमारकावियम् और उदयणन् कदै। कौतूहल का विषय है कि ये दसों काव्य जैन और बौद्ध मुनियों तथा कवियो द्वारा रचित है।[१] तेलुगु मे भी जैन कवि अथर्वण, विजयराघव आदि उल्लेखनीय है। किन्तु तेलुगु भाषा मे जैन-साहित्य अत्यन्त अल्प है।

कन्नड़ की सब से प्राचीन रचना 'कविराजमार्ग' कही जाती है। इस के रचयिता जैन कवि श्रीविजय माने जाते है। इस साहित्य के इतिहास मे पम्प-युग (९५०-११५० ई०) अत्यन्त समृद्ध रहा है, जो स्वर्णकाल के नाम से अभिहित किया जाता है। इस का दूसरा नाम जैनयुग भी है, क्योकि इस काल मे कन्नड़-साहित्य की श्रीवृद्धि करने मे जैन-कवियो का प्रधान योग रहा है। इस साहित्य पर पम्परामायण का विशेष प्रभाव कहा जाता है। प्रत्येक कवि ने धार्मिक काव्य के साथ ही लौकिक अथवा शुद्ध काव्य रचे है।[२] इस युग मे जैन कवियो द्वारा विकसित चम्पूशैली परवर्ती काल में वीर शैव कवियो के द्वारा भी अपनायी गयी।[३]

शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से यह समूचा युग प्रबन्ध काव्य का रहा है। इस में मत-वादो की प्रबलता के साथ ही विष्णु और शिव तथा शिव और जिन की समन्वयात्मक प्रवृत्ति भी मिलती है। राष्ट्रकूटो के युग मे जैन धर्म और साहित्य ने अत्यन्त गरिमा प्राप्त की। आचार्य शंकर, कुमारिल भट्ट, प्रभाकर, देवसेन, विद्यानन्द, मण्डनमिश्र, अकलंक, वीरसेन, सायण, विज्ञानेश्वर, धर्मकीर्ति, उदयन, उद्योतकर, प्रभाचन्द्र, समन्तभद्र आदि प्रकाण्ड दार्शनिक इसी युग में हुए। संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश तथा लोकभाषाओं मे विशेषत. गीत इसी समय लिखे गये। संक्षेप मे, यह युग साहित्य की प्रायः सभी विधाओ से पूर्ण भारतीय वाङ्मय से अनुरंजित तथा काव्यमार्गों एवं दार्शनिक, लाक्षणिक, पौराणिक और धार्मिक शास्त्रो से समन्वित रहा है। भारतीय मध्ययुगीन साहित्य में जहाँ एक ओर चौल शासनकाल (८५०-१२०० ई०) मे जो कि तमिल साहित्य का स्वर्ण युग कहा जाता है – प्रबन्ध काव्य की प्रमुखता थी वही चौलुक्य शासन काल मे उत्तरी गुजरात में एक नवीन साहित्यिक चेतना जागृत रही, परिणामतः संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा प्राचीन गुजराती भाषा मे धार्मिक तथा साहित्यिक रचनाओ की एक नयी लहर ही फैल गयी।[४] जूनी गुजराती में मुख्य रूप से रासो रचनाएँ ही मिलती है। तेलुगु साहित्य मे भी इस काल में प्रबन्ध और गीत काव्य की प्रमुखता थी। प्राकृत और अपभ्रंश में भी गीतियों की भाँति कथा और प्रबन्ध काव्य लिखे गये। संस्कृत मे

---

१ पूर्ण सोमसुन्दरम् . तमिल और उसका साहित्य, पृ० १३।
२. हिन्दी साहित्य कोश, पृ० १८७।
३ वही, पृ० १९१।
४ लक्ष्मीशंकर व्यास ' चौलुक्य कुमारपाल, प्रथम संस्करण, पृ० २३६।

भी भारवि, माघ, हरिचन्द्र, देवनन्दि, रविदेव, भट्टि, कुमारदास, रत्नाकर[1], शिव-स्वामी, वादीभसिंह, क्षेमेन्द्र, मंखक, हर्ष और कविराज आदि इसी काल में हुए। महा-काव्यों के अभ्युत्थान का यह काल ही रहा है। महाकाव्यों का अभ्युत्थान-युग महाकवि कालिदास से प्रारम्भ हो कर श्रीहर्ष मे पर्यवसित हो जाता है।[2] इस के पश्चात् जैन महाकाव्योका प्राधान्य रहा है जो उन्नीसवी शताब्दी तक बराबर लिखे जाते रहे हैं। गीति काव्य के लेखकों में अमरुक, भर्तृहरि, गोवर्धनाचार्य, जिनदास और जयदेव मुख्य है। यद्यपि आठवी शताब्दी से ही अपभ्रंश में लिखे गये प्रबन्ध मिलने लगते है पर विशेष रूप से दसवी शताब्दी उन का उत्कर्ष काल रहा है। इस प्रकार ऐतिहासिक और साहित्यिक दृष्टि से ही नहीं, बल्कि ललित कलाओं के उत्थान की दृष्टि से भी यह युग स्वर्ण काल कहा जा सकता है।

■

१ वाचस्पति गैरोला : अमर अमर रहें- प्रथम सस्करण. पृ० १३२। देखिए रत्नाकर और

२ वही पृ० १३३

द्वितीय अध्याय

अपभ्रंश-साहित्य : सामान्य परिचय

श्री रिचर्ड पिशेल ने सन् १९०२ मे जब 'माटेरियालियन् सुर-केण्टनिस डेस अपभ्रंश' नामक पुस्तक को प्राकृत के व्याकरण के परिशिष्ट रूप मे प्रकाशित किया था[1] तब तक अपभ्रंश-ग्रन्थो की बहुत कम जानकारी उन्हे मिल सकी थी। अपभ्रंश के नाम पर हेमचन्द्र के व्याकरण में उद्धृत दोहों तथा संस्कृत नाटको मे बिखरे हुए दोहों तक ही वे अपभ्रंश-साहित्य को सीमित समझ सके थे। उन का अनुमान था कि इस भाषा का साहित्य विलुप्त हो गया है। सर्वप्रथम १८७७ ई० में रिचर्ड पिशेल ने हेमचन्द्र कृत 'सिद्धहेमशब्दानुशासन' का प्रकाशन किया, जिस में अपभ्रंश का व्याकरण भी सम्मिलित था। किन्तु अपभ्रंश के उपलब्ध प्रथम प्रबन्ध काव्य के प्रकाशन का श्रेय हर्मन जेकोबी को है। उन्होने पहली बार सन् १९१८ ई० मे 'भविसयत्त कहा' का प्रकाशन जर्मन भाषा में किया था। भारतवर्ष में सन् १९२३ ई० मे गुणे और दलाल के सम्पादकत्व मे बड़ौदा, गायकवाड़ ओरियन्टल सीरिज़, से यह प्रकाशित हुआ। इस के पश्चात् कई अपभ्रंश रचनाएँ प्रकाश में आयी और आती जा रही है। प्राप्त सूचनाओं तथा खोज के आधार पर उपलब्ध प्रबन्ध काव्यो की संख्या लगभग एक सौ तक पहुँच गयी है। कई अपभ्रंश कथाएँ तथा अन्य छन्दोबद्ध रचनाएँ भी है जो अभी तक प्रकाश में नही आयीं[2]। इसी प्रकार कई काव्यों की प्रतियाँ हमे आगरा और भरतपुर के भण्डारों से मिली है जो उल्लेखनीय है। कई छोटी-छोटी रचनाओ की हम ने दिल्ली तथा अन्य भण्डारों से प्रतिलिपि की थी। डॉ० हीरालाल जैन, पं० परमानन्द शास्त्री और अगरचन्द नाहटा के निजी संग्रह में भी कई छोटी-बड़ी अपभ्रंश की रचनाएँ है। इस प्रकार अभी कई अपभ्रंश ग्रन्थ प्रकाशनीय है। इस क्षेत्र में डॉ० हर्मन जेकोबी पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने अपभ्रंशव्याकरण, भविसयत्त कहा, सनत्कुमारचरित (१९२१ ई०) आदि ग्रन्थों का पहली बार प्रकाशन किया था। भविसयत्त कहा के पश्चात् जसहरचरिउ, णायकुमार चरिउ, करकण्डु चरिउ, महापुराण, पउमचरिउ, पउमसिरी चरिउ आदि काव्य तथा अपभ्रंश काव्यत्रयी, प्राचीन गुर्जर-काव्यसंग्रह दोहाकोष पाहुडदोहा सावयधम्म दोहा संजम मंजरी चूनडी फागु आदि रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं

उपलब्ध अपभ्रंश साहित्य मुख्यतः कथा और चरितमूलक है। प्राकृत-साहित्य की परम्परागत प्रायः सभी प्रमुख प्रवृत्तियाँ इस साहित्य में प्राप्त होती हैं। प्राकृत का कथा-साहित्य अत्यन्त विस्तृत है। इस में दृष्टान्त, लघुकथा, धर्मकथा, आख्यान, आख्यायिका, अनुयोग, पृच्छा, चरित, प्रबन्ध, पुराण, संवाद तथा प्रेमाख्यान आदि बीसियों रूप मिलते हैं। गद्य, चम्पू, नाटक, गीति, रास आदि विभिन्न साहित्यिक विधाओं का विकास भी प्राकृत-साहित्य में दृष्टिगोचर होता है। साहित्यिक रूप में वह काव्य-सौष्ठव से अनुरंजित तथा कल्पनात्मक वैभव से पूर्ण है। प्राकृत-साहित्य ने अपभ्रंश और आधुनिक भाषाओं के साहित्य को ही नहीं, बहुत कुछ अंशों में संस्कृत-साहित्य को भी प्रभावित किया है। कितनी ही नवीन परम्पराएँ और छन्द आदि उस के अपने हैं।[1] संस्कृत के नाटकों में नृत्य, संगीत और कला एवं सामान्य पात्रों की भाषा पर प्राकृत का प्रभाव और प्रयोग स्पष्ट है[2]। हिन्दी के चौपाई, छप्पय, दोहा, रोला, दुर्मिल, सोरठा, गीति, कुण्डलिया; उल्लाला, पद्धड़ी या पद्धरी आदि छन्द निश्चित रूप से प्राकृत के हैं। इन के अतिरिक्त कई छन्दों का विकास अपभ्रंश में तथा परवर्ती साहित्य में प्राप्त होता है। संस्कृत के आर्या तथा गीति, मराठी का ओवी और अभंग तथा गीतिमूलक छन्दों का निकास और विकास प्राकृत एवं अपभ्रंश के मात्रिक छन्दों से हुआ है।[3] मराठी, गुजराती, राजस्थानी और हिन्दी में प्रयुक्त अनेक मात्रिक छन्दों का स्रोत प्राकृत-अपभ्रंश-साहित्य में निहित है। संस्कृत में अन्त्यानुप्रास अपभ्रंश की ही देन है।

बाल और यौवन-काल के सर्वांगपूर्ण चित्र इस साहित्य में प्राप्त होते हैं। संयोग और वियोग की विविध दशाओं का आकलन भी इस में हुआ है। कथा-काव्यों में जहाँ एक ओर कथाओं का विवरण है वहाँ काव्यात्मक वर्णन, प्रकृति-चित्रण, रसात्मक व्यंजना, अलंकरणात्मकता तथा मनोवैज्ञानिकता प्राप्त होती है। अपभ्रंशकाव्य गीति, संवाद और चित्र-विधान से अत्यन्त भरित है। उन में लौकिक और शास्त्रीय दोनों प्रकार की शैलियों का समावेश है। लोक-पक्ष की सबल अभिव्यक्ति इस साहित्य का जीवन-दर्शन है। इस में पुराण काव्य और चरित काव्य अधिक हैं, किन्तु कथाकाव्य भी उपलब्ध हैं, जो अनुबन्धमें प्रबन्ध की भाँति हैं। मुक्तकों में चर्यागीति, दोहा, गीत, बारहमासा आदि प्राप्त होते हैं। इस साहित्य में गद्य स्वतन्त्र रूप से नहीं मिलता। कुवलयमाला कहा,

---

१ डॉ० रामसिंह तोमर 'प्राकृत-अपभ्रंश-साहित्य और उस का हिन्दी साहित्य पर प्रभाव', आलोचना, जुलाई १९५३, पृ० ५६।

२. डॉ० हरदेव बाहरी : प्राकृत और उस का साहित्य, पृ० १४३।

३ विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य है—लेखक का शीर्षक लेख हिन्दुस्तानी भाग २२ अंक ३-४ पृ० ४५

संस्कृत नाटको मे, श्वेताम्बर जैन ग्रन्थो की टीकाओं मे[1] तथा उक्तिव्यक्तिप्रकरण आदि ग्रन्थों में प्रकीर्णक रूप मे अपभ्रंश-गद्य दृष्टिगोचर होता है। परन्तु अभी तक स्वतन्त्र रूप मे गद्य मे कोई रचना उपलब्ध नही हो सकी है। हाँ, साहित्य के अतिरिक्त वैद्यक, योग और पूजा-रचनाएँ भी छन्दोबद्ध उपलब्ध है। मुनि यशःकीर्ति विरचित 'जगसुन्दरी-प्रयोगमाला' आयुर्वेद का सुन्दर ग्रन्थ है। समूचा ग्रन्थ पद्यबद्ध है। सरस्वतीस्तोत्र, दशलक्षण पूजा और अपभ्रंश भाषा मे लिखित कई छोटी-छोटी धार्मिक रचनाएँ तथा फुटकर बातें भी मिलती है।

अपभ्रंश-साहित्य के मुख्य केन्द्र राजस्थान, गुजरात, मालवा (धार), हरियाना और बुन्देलखण्ड रहे है। मलखेडा (हैदराबाद) या मान्यखेट का नाम केवल महाकवि पुष्पदन्त के कारण कहा जा सकता है। पूर्वी अपभ्रंश-साहित्य का क्षेत्र मिथिला, बगाल और उड़ीसा कहा जा सकता है। यद्यपि बुन्देलखण्ड से प्राप्त साहित्य प्रकाश मे नही आया है, पर वह प्रकाशनीय है। दक्षिण के राष्ट्रकूट राज्य मे संस्कृत-प्राकृत की भाँति अपभ्रंश भाषा मे भी साहित्य लिखा गया। आ० रत्नश्री ज्ञान ने राष्ट्रकूट राजा तुंग के समय दण्डीके काव्यादर्श की काव्यलक्षण नामक टीका लिखी थी। पुष्पदन्त तो वहाँ जीवन भर रहे। स्वयम्भू मूलतः कोशली थे। बाद में दाक्षिणात्य कर्णाटकवासी बन गये।[2] सामान्यतः मध्यदेश में मध्ययुगीन संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश का साहित्य समानान्तर रूप से शताब्दियो तक लिखा जाता रहा है। वरार और कर्णाटक से भी अपभ्रंश साहित्य मिलने की सूचनाएँ मिलती है। अपभ्रंश की छोटी-बड़ी रचनाएँ मुख्य रूप से जहाँ-जहाँ जैन विद्वान् रहे हैं, लिखी जाती रही है। कुछ स्थानों के नाम इस प्रकार है—अणहिलपुर, श्रीवालपुर, अचलपुर, गोनंद नगर (मालवा), बिलरामपुर (एटा), गोध्रा (गुजरात), चन्द्रवाड (उत्तरप्रदेश), जोगिनीपुर (दिल्ली), करहल (इटावा), हिसार, ग्वालियर, टिहड़ा नगरी, मेदपाट (मेवाड), दिल्ली, सोनीपत, नागरमण्डल (गुजरात), हिसारकोट, जेरहटनगर (माण्डू) तथा रोहतक आदि।

साहित्यिक प्रवृत्तियाँ

संस्कृत, प्राकृत की भाँति अपभ्रंश के प्रबन्ध काव्यों में भी कथानुबन्ध के साथ काव्यगत रूढियो का परिपालन प्राप्त होता है। किन्तु अपभ्रंश मे इस प्रकार के कथा-काव्यो का महत्त्व घटनाओ के क्रमिक विकास या चरित्रों के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण में न हो कर पुराण-कथाओं तथा लोक-कथाओं के सामाजिक अभिप्राय तथा

वर्णन में हैं। कहीं-कहीं प्रबन्ध की लोक का अनुसरण भी उन मे लक्षित होता है। काव्यगत रूढ़ियों में निम्न-लिखित मुख्य हैं—मंगलाचरण, आत्मपरिचय, विनय-प्रदर्शन, सज्जन-दुर्जन वर्णन, काव्य के वास्तविक अध्येता और रचना का उद्देश्य। संस्कृत के महाकाव्यो की रचना सर्गों मे, प्राकृतोंकी आश्वासो तथा उद्देशोंमे और अपभ्रंश के महाकाव्यो की सन्धियो मे हुई। सन्धि कई कडवकोंसे मिल कर बनती है। कुछ महाकाव्य काण्डों मे विभक्त हैं। प्रत्येक काण्ड कई सन्धियों के मेल से बनता है। काण्डो मे विभाजन की यह शैली वाल्मीकिरामायण में मिलती है और हिन्दी में भी दिखाई देती है, यहाँ तक कि रामचरितमानस को भी सोपानोंके साथ ही काण्डों मे विभाजित कर देखा जाता है।[1] रासो ग्रन्थोंमे घटनाओं की प्रधानता के साथ ही कथा-बन्ध ठवणि, प्रक्रम और भासों में तथा ठवणि वस्तु में विभाजित देखा जाता है। इसी प्रकार बेलि रचनाएँ कड़ियों तथा कई बेलों मे विभक्त प्राप्त होती है। बेलि और फागु रचनाएँ प्राय. खण्ड काव्य संज्ञक होती थी। यद्यपि ऐसा कोई नियम नहीं था, पर अधिकाश रचनाएँ खण्ड काव्य है। उन मे खण्डकाव्य के विषय हैं[2]। रास, फागु, बेलि, विलास आदि शब्द रूढ हो जाने से काव्य के ही वाचक रहे है; निश्चित काव्यात्मक प्रवृत्ति के बोधक नही।[3] उद्देश्य के अनुसार अवश्य रास और फागु रचनाएँ अभिनयमूलक होती थी और उन के अभिनय मे नृत्यगीत मुख्य रूप से सहायक होते थे।[4] कथा के प्रवाह मे लगभग समस्त रचनाओ मे गीत तत्त्व भरपूर है। गीतमूलक कई प्रकार की शैलियाँ तथा गीत इन रचनाओंमें मिलते है। चर्चरी रचनाएँ तो लोकनाट्य ही रही है, जो नृत्य और संगीत प्रधान होती थीं। कई प्रकार के विनय और भक्तिपरक गीत भी चूनडी, रास, सन्धि, पृच्छा, अनुप्रेक्षा और जन्मकल्याणक आदि मे लिखे जाते थे। सम्भवत: मराठी की भाँति पोवाड़ा या पवाड़ा (वीर गीत) तथा ढवल या धवल गीतों का प्रचलन अपभ्रंश काव्यो मे तथा मुक्तको मे रहा है। अतएव इन काव्य-रूपों में भेद लक्षित होता है।

वर्गीकरण

अपभ्रंश-साहित्य मुख्यत: पौराणिक और लौकिक है। प्रबन्ध-काव्यो मे कुछ काव्य पुराणों के आख्यान ले कर लिखे गये है और कुछ लौकिक (लोक-प्रचलित)

---

१. डॉ० हरिवंश कोछड़ ' अपभ्रंश-साहित्य, प्रथम संस्करण, पृ० ५१।

२ कृष्णचन्द्र, 'राजस्थानी का बेलि साहित्य ' कुछ नयी कृतियाँ', शोध-पत्रिका, वर्ष १२ अंक १, सितम्बर १९६०, पृ० ७५।

३ - लेखक का सन्देशरासक तथा परवर्ती हिन्दी काव्यधारा नामक लघु प्रबन्ध, अप्रकाशित, पृ० ३२

डॉ० दशरथ ओझा और शर्मा रास और रासान्वयी काव्य प्रथम संस्करण पृ० ८७

कथाओ से भरित है। महाकाव्यो में पौराणिकता के साथ ही लोकतत्त्व का भी समावेश मिलता है। किन्तु कुछ ग्रन्थ बिलकुल पौराणिक हैं। ऐसे काव्यों मे से अधिकाश पुराणसंज्ञक हैं। डॉ० शम्भुनाथ सिंह ने प्रबन्धकाव्य के मुख्यतः दो रूप माने हैं[1]—शास्त्रीय प्रबन्ध काव्य और चरितकाव्य। किन्तु जिन मे कथानक की प्रधानता है और जो कई अवान्तर कथाओ से समन्वित हैं उन्हे हम पुराण की श्रेणी मे रखना चाहेंगे। क्योंकि अपभ्रंश के प्रबन्ध काव्यों का विकास एक रूप में न हो कर बहुविध हुआ है, जिस में हमे पुराण, लोकाख्यान, घटनामूलक तथा शास्त्रीय बन्ध की शैलियाँ तथा वर्णन-प्रवृत्ति लक्षित होती है। कुछ पुराण-कथाएँ लोक-काव्य के साँचे में ढली हुई मिलती हैं जो न तो पुराण काव्य के अन्तर्गत आती है और न लोककाव्य के ही। प्रबन्ध काव्य का यह वर्गीकरण शैली की दृष्टि से किया जाता है। वस्तु की दृष्टि से भी अपभ्रंश की उन छोटी-छोटी रचनाओ पर विचार करना आवश्यक हो जाता है जो केवल विवरण मात्र है और जो शुद्ध धार्मिक भावना से प्रेरित हो कर लिखी गयी। ये रचनाएँ न तो चरितकाव्य के अन्तर्गत आती हैं और न कथाकाव्य के ही। उन्हें पुराण-कथा ही कहा जा सकता है। ऐसी जैन कथाओं की रचना का उद्देश्य जनता में दान, शील, तप, व्रत और धर्म तथा जीवन में आस्था आदि सद्भाव रूप धार्मिक गुणों का विकास करना रहा है। डॉ० वेबर, लायमन, जेकोबी, ब्युह्लर, हर्टेल और अल्सडोर्फ आदि ने जैन कथा साहित्य के इस महत्त्व का मूल्याकन बहुत पहले किया था[2]। फिर भी, बन्ध की दृष्टि से इन का साहित्य में बराबर महत्त्व है। इस प्रकार अपभ्रंश मे एक ओर व्रत-माहात्म्य तथा उद्देश्य विशेष से वर्णित छन्दोबद्ध कथाएँ मिलती है और दूसरी ओर पुराण, चरित और कथा-काव्य प्रबन्ध काव्य की शैली में उपलब्ध होते हैं। पुराणकाव्यो मे जो आकार-प्रकार मे बृहत् तथा शास्त्रीय शैली मे निबद्ध हैं वे महाकाव्य संज्ञक है और महापुरुष के जीवन चरित को ले कर लिखी गयी प्रबन्ध रचनाएँ चरितकाव्य के अन्तर्गत आती है।

अपभ्रंश-साहित्य मे चरित काव्यों की संख्या अधिक है। भारतीय साहित्य मे चरितकाव्य का प्रचलन महापुरुषो के जीवनचरित वर्णन के निमित्त हुआ है, जिस में आदि से अन्त तक नायक का चरित-कीर्तन वर्णित रहता है। हिन्दी मे राम, कृष्ण, महावीर तथा जैन साहित्य में त्रेसठ शलाकापुरुषों का जीवनचरित्र हमे दो रूपो मे ही अधिकतर मिलता है—पुराणकाव्य के रूप मे और चरितकाव्य के रूप मे। वस्तुतः पुराणकाव्य और चरितकाव्य का भेद शैली के आधार पर लक्षित होता है। पुराण काव्य में विस्तार तथा पौराणिक रूढ़ियाँ अधिक होती हैं जब कि चरितकाव्य में

संक्षेप होता है। संक्षेप में, अपभ्रंश-साहित्य का वर्गीकरण इस प्रकार है—
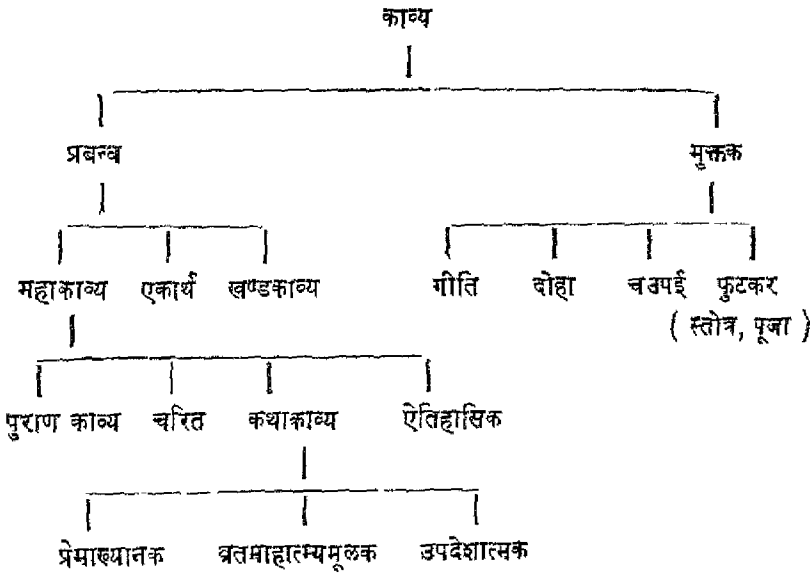
पुराणकाव्य—हरिवंशपुराण (श्रुतकीर्ति) ४४ सन्धियों में निबद्ध, हरिवंशपुराण (धवल) एक सौ बाईस सन्धियों का काव्य, पुष्पदन्त रचित एक सौ दो सन्धियों मे निबद्ध महापुराण, महाकवि स्वयम्भू विरचित एक सौ बारह सन्धियो का हरिवंशपुराण (रिट्ठणेमिचरिउ) तथा नब्बे सन्धियो मे निबद्ध पउमचरिउ इत्यादि।

चरितकाव्य—णेमिणाहचरिउ, पासणाहचरिउ, चन्दप्पहचरिउ, संभवणाहचरिउ, सातिणाहचरिउ, बाहुबलिचरिउ, पज्जुण्णचरिउ, सम्मइजिणचरिउ, जम्बुसामिचरिउ, सुकुमालचरिउ, महावीरचरिउ, जसहरचरिउ, करकण्डचरिउ, जीवंधरचरिउ, सुकोसलचरिउ, मेहेसरचरिउ, पउमचरिउ इत्यादि।

कथाकाव्य—भविसयत्तकहा, जिनदत्तकहा, विलासवईकहा, सत्तवसणकहा, सिद्धचक्ककहा, सिरिपालकहा आदि।

ऐतिहासिक काव्य में विद्यापति की कीर्तिलता तथा खण्डकाव्य में अब्दुलरहमान कृत सन्देशरासक मात्र उपलब्ध हैं। दोहाबन्ध रचनाओं में सावयधम्मदोहा, पाहुडदोहा, सुप्पयदोहा तथा गीति-साहित्य में नेमिगीत, नेमीश्वरगीत (वल्हव), गुणस्थानगीत (ब्र० श्रीवर्द्धन), जबूस्वामी गीत, पार्श्वगीत, चेतन गीत, रावलियो गीत, पंचेन्द्रीवेलि आदि रचनाएँ प्राप्त हुई हैं बौद्धों की चर्यागीति संक्षेपमेंहि तथा

पद आदि इसी विधा की रचनाएँ हैं। इसी प्रकार नेमिनाथचउपई, पद्मावती चौपाई, तथा जिनदत्तचउपई अपभ्रंश की चउपई रचनाएँ है।

उक्त रचनाओं को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि अपभ्रंश-साहित्य काव्यात्मक विधाओ से अत्यन्त समृद्ध है। रासो-साहित्य इस मे एक स्वतन्त्र ही काव्य-प्रकार है जो शैली के भेद से अन्य रचनाओ से भिन्न देखा जाता है। इसी प्रकार फागु और चर्चरी रचनाएँ बन्ध की दृष्टि से अपना पृथक् महत्त्व रखती है। इनके अतिरिक्त प्राकृत मे चम्पू, रूपक और गद्यकाव्य की विशेष विधाएँ है। अपभ्रंश मे—मयणपराजयचरिउ, मयणजुज्झ, मनकरहारास आदि रूपक काव्य तो दृष्टिगोचर हैं पर नाटक-साहित्य अभी तक उपलब्ध नही हो सका है। इसी प्रकार स्वतन्त्र गद्य-रचना भी अभी तक नही मिला है। यद्यपि आख्यानो मे तथा अन्य रचनाओ मे कही-कही अपभ्रंश का गद्य देखने को मिलता है, किन्तु अलग से गद्यबन्ध कोई रचना मेरे देखने मे नही आयी। नाट्य-रचना भी इस साहित्य मे उपलब्ध नही है। इस से यही विचार बार-बार मन मे उठता है कि हो न हो यह समूचा साहित्य पद्यबद्ध ही है। यहाँ तक कि मुनि यशःकीर्ति कृत 'जगसुन्दरी प्रयोगमाला' (आयुर्वेद ग्रन्थ) तथा श्रुतकीर्ति विरचित 'योगशास्त्र' दोनो ही छन्दोबद्ध है। डॉ० कोछड़ ने 'उवएसमालकहाणय-छप्पय' नामक रचना का उल्लेख किया है, जिस से पता चलता है कि छप्पयबन्ध रचनाएँ भी परवर्ती अपभ्रंश-साहित्य में लिखी जाने लगी थी।[1] अतएव काव्य-विधा मे अपभ्रंश-साहित्य की बहुमुखी प्रगति का पता लगता है, जो पुरोगामी आधुनिक भारतीय आर्य-साहित्य का प्रेरक रहा है।

सामग्री

गत दशक में हुई शोध-खोज से यह स्पष्ट हो गया है कि अपभ्रंश में प्रबन्धकाव्यो के साथ ही कथा-साहित्य प्रचुर उपलब्ध है। किन्तु अधिकांश रचनाएँ व्रतकथाएँ है जो धार्मिक महत्त्व दर्शाने के उद्देश्य से लिखी गयी। इन कथाओं मे व्रत का विधान तथा माहात्म्य विशेष रूप से वर्णित है। जिन कथाओ में व्रत का विधान नही है वे भी धार्मिक भावना से प्रेरित शुद्ध उपदेशात्मक कथाएँ है। माणिक्कचन्द विरचित 'सत्तवसणकहा' ऐसी ही रचना है जिस में सात व्यसनो (आखेट खेलना, मदिरा-पान करना, वेश्यागमन करना, मास खाना, चोरी करना, जुआ खेलना और परस्त्री गमन करना) के त्याग का उपदेश कथाओ के दृष्टान्तो के माध्यम से वर्णित है। ये कथाएँ सन्धिबद्ध तथा सन्धिमुक्त दोनो ही शैलियो मे लिखी हुई मिलती है। कुछ कथाएँ आकार मे बडी है और कुछ छोटी है। व्रतकथाएँ सामान्यत. अधिक से अधिक दो सन्धियो मे निबद्ध है। कुछ कथाएँ आकार मे बहुत ही छोटी है। ब्रह्म साधारण कृत कोई मुकुटसप्तमी क्षीरद्वादशी रविव्रासर त्रिकालचउवीसी पुष्पांजलि

निर्दुखसप्तमी, निर्झरपंचमी आदि कथाएँ पाँच-पाँच कडवकों की रचनाएँ हैं। पं० रइधू की 'अणथमीकहा' तो केवल चार ही कडवकों की रचना है। कुछ कथाएँ इन से आकार में बडी भी हैं; किन्तु अधिक बडी नहीं। उदाहरण के लिए, हरिचन्द की 'अणत्थमियकहा' सोलह कडवको में निबद्ध है। विमलकीर्ति विरचित 'सुखवइविहाण कहा', 'सुयंधदहमीकहा' तथा देवनन्दि रचित 'रोहिणीविहाणकहा' और यति विनयचन्द्र कृत 'णिज्झरपंचमीविहाणकहा' आदि इसी आकार की रचनाएँ हैं। इसी प्रकार मुनि गुणभद्र लिखित सोलह कथाओं का पता मिलता है जो सभी छोटी-छोटी कथाएँ हैं। भ० ललितकीर्ति, यश.कीर्ति, नेमचन्द्र और विनयचन्द्र आदि की अधिकतर रचनाएँ इसी प्रकार की हैं। इन रचनाओं को देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि अधिकांश कथाएँ व्रत-माहात्म्य को प्रदर्शित करने वाली तथा आकार में छोटी और विवरणप्रधान हैं। केवल इन में वस्तु है; विवरण नहीं। रचनाएँ वस्तुमूलक होने से संक्षिप्त तथा वर्णनरहित हैं। अतएव काव्यात्मक दृष्टि से इन का मूल्यांकन करने का प्रश्न ही नहीं उठता।

उक्त लघु या क्षुल्लक कथाओं के अतिरिक्त कुछ बृहत् कथाओ की संकलना भी प्राप्त होती है। इस प्रकार की रचनाएँ 'कथाकोष' हैं, जिन में धार्मिक कथाओं का संकलन दिखाई पड़ता है। ये संग्रहात्मक ग्रन्थ हैं जो काव्यरूप में निबद्ध हैं। श्रीचन्दकृत 'कहाकोसु' ५३ सन्धियों में निबद्ध ऐसा ही कथाकोष है। पं० रइधू रचित 'पुण्णासवकहाकोसु' भी इसी प्रकार की रचना है। वस्तुगत वर्णन में अवश्य कहीं-कहीं लेखक की मौलिकता परिलक्षित होती है। अन्य स्फुट कथाकोष भी मिलते हैं, जिन में संस्कृत-अपभ्रंश या अपभ्रंश-हिन्दी की कथाओ का संग्रह मात्र दिखलाई पड़ता है। इन कथाकोषो के लेखक अज्ञात ही हैं।

तीसरे प्रकार की कथाएँ कथाकाव्य हैं, जिन में कथा और काव्य का सुन्दर कलात्मक संयोजन लक्षित होता है। यद्यपि इन मे वर्णित कथाएँ लोककथाएँ हैं, नायक जन-जीवन का विशिष्ट व्यक्ति है, पर अपने कार्यों मे वह महान् तथा आदर्श है। वह यथार्थ जीवन से परे का व्यक्ति नही है। उस की महत्ता जन्मजात नहीं, जीवन के गुरुतर संघर्षो के बीच प्रतिफलित होती है। वह साधारण से महान् बनता है। ऐसे कथाकाव्यों में प्रसिद्ध तथा प्रमुख रचना है—भविष्यदत्तकथा। यह पचमी व्रतकथा के नाम से भी प्रसिद्ध रही है। इस में श्रुतपंचमी व्रत का माहात्म्य काव्यात्मक ढंग से वर्णित है। विबुध श्रीधर रचित 'भविसयत्तकहा' भी ऐसी ही रचना है। लाखू विरचित 'जिणयत्तकहा' और साधारण सिद्धसेन कृत 'विलासवईकहा' अपभ्रंश के सुन्दर कलात्मक कथाकाव्य है। इधर अपभ्रंश के अन्य कथाकाव्य भी जैन भण्डारों में देखने को मिले हैं जिन का अनुशीलन इस पुस्तक में किया गया है

संक्षेप में अपभ्रंश का कथा-साहित्य इस प्रकार है :

१. अनन्तकीर्ति गुरु : पुष्फंजलिकहा
२. अभ्रदेव : सवणवारसिविहाणकहा, सोडसकारणविहाणकहा, सुयक्खंध-विहाणकहा, विज्जुचोरकहा।
३. अमरकीर्तिगणि : पुरंदरविहाणकहा (वि० सं० १२७५), छक्कम्मोवएस (वि० सं० १२४७)।
४. उदयचन्द्र : सुअंधदहमीकहा (१९६६ ई० में भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित)।
५. कवि ठकुरसी : मेघमालावयकहा (वि० सं० १५८०)
६. कवि देवदत्त : सुयन्धदसमीकहा
७. गुणभद्र भट्टारक : अणंतवयकहा, सवणावारसिविहाणकहा, पक्खवइकहा, णहपंचमीकहा, चंदायणकहा, चंदणछट्ठी कहा, णरयउतारीदुद्धारसकहा, णिद्दुहसत्तमीकहा, मउडसत्तमीकहा, पुष्फंजलिवयकहा, रयणत्तयविहाणकहा, दहलक्खणवयकहा, लद्धविहाणकहा, सोडसकारणवयविहि, सुयंधदहमीकहा।
८. देवनन्दि : रोहिणिविहाणकहा
९. धनपाल : भविसयत्तकहा
१०. धाहिल : पउमसिरीचरिउ
११. नयनन्दी : सुदंसणचरिउ
१२. नरसेन : सिद्धचक्ककहा, जिणरत्तिविहाणकहा
१३. नेमचन्द : रविवयकहा, अणंतवयकहा
१४. भगवतीदास : मउडसत्तमीकहा, सुयंधदसमीकहा
१५. भट्टारक ललितकीर्ति : जिनरात्रिकथा, ज्येष्ठजिनवरकथा, दशलक्षणीव्रतकथा, धनकलशकथा, कंजिकाव्रतकथा, कर्मनिर्जराचतुर्दशीकथा।
१६. माणिक्यचन्द्र : सत्तवसणवज्जणकहा
१७. मुनि बालचन्द्र : निरयदुहसत्तमीकहा, रविवयकहा, णरयउतारीदुद्धारसीकहा।
१८. यति विनयचन्द्र : णिज्झरपंचमीविहाणकहा, णरयउतारीदुद्धारसीकहा।
१९. यश कीर्ति : जिणरत्तिविहाणकहा, रविवयकहा।
दशलक्षणधर्मकथा (सरस्वती भवन, बम्बई)
२० रइधू सु, रविवत-
कहा

२३. विनयचन्द : णिज्झरपंचमीकहा, दुद्धारसकहा ।
२४. विमलकीर्ति : सुखसंपइविहाणकहा, सुयंधदसमीकहा, चंदायणवउकहा ।
२५. विबुध श्रीधर : भविसयत्तकहा
२६. श्रीचन्द : कहाकोसु
२७. साधारण ब्रह्म : कोकिलापंचमीकहा, मउडसत्तमीकहा, दुद्धारसीकहा, रविवउकहा, तिणचउवीसीकहा, पुप्फंजलिवयकहा, निर्दुहसत्तमीकहा, णिज्झरपंचमीकहा ।
२८. साधारण सिद्धसेन : विलासवईकहा (वि० सं० ११२३)
२९. हरिचन्द : अणत्थमीकहा, दहलक्खणकहा, नारिकेरकहा ।
३०. हरिचन्द्र ' पुष्पांजलिकथा

इन के अतिरिक्त कुछ अज्ञात लेखकों की कथा-रचनाएँ भी देखने को मिलती हैं, जिन में से कुछ निम्नलिखित हैं—

मुक्तावलिविधानकथा, पुरन्दरविधानकथा, सुगन्धदशमीकथा, चन्दनषष्ठीकथा, निर्दोषसप्तमीकथा, रोहिणीविधान, अनन्तव्रतकथा, जिनरात्रिविधान, सुगन्धदशमीकथा, मालारोहणकथा इत्यादि । सम्भावना यह भी है कि नागौर, जैसलमेर, पाटण तथा ईडर आदि के जैन भण्डारों में कुछ अन्य कथाएँ तथा कथाकाव्य भी उपलब्ध हो सकें। सम्प्रति इसी सामग्री का विचार करना समुचित होगा ।

कथा बनाम आख्यान

'कथा' भारतीय साहित्य का अत्यन्त प्राचीन अंग है। कथा पहले है काव्य बाद में । कदाचित् कथाओं का चलन सब से पहले प्रकृतिविषयक रहस्य को समझने और समझाने के निमित्त हुआ था । तब उन्हें कथा नहीं कहा जाता था । कथा का सब से पुराना नाम आख्यान मिलता है। वेदों में आख्यानों के विविध उल्लेख मिलते हैं। इन आख्यानों का सम्बन्ध विशेष रूप से अतिमानवीय घटनाओं से युक्त है : वैदिक आख्यानों का उपयोग मुख्य रूप से मन्त्रों की अलौकिक शक्ति के प्रदर्शन के लिए हुआ है । वे मन्त्र और यज्ञ-विधि से पूर्णत सम्बद्ध है। अतएव उन में आख्यानों का उल्लेख मात्र है, विवरण नहीं मिलता । ब्राह्मण भागों में अवश्य उन का विवरण प्राप्त होता है । किन्तु वे यथास्थान बिखरे हुए है। उन में संवाद एवं वार्तालाप एक ही शैली में अनुस्यूत दिखाई देते हैं। उपनिषदों मे इस शैली का विकास वार्त्ताओं तथा आख्यानों के माध्यम से हुआ । वार्ताएँ दृष्टान्त रूप में सम्भवत इसी युग मे प्रचलित हुई । पुराण-काल में पौराणिक रचनाएँ इतिवृत्त को ले कर विकसित हुई, जिन में धार्मिक भावना मुख्य है। युग और समाज के परिवर्तन के साथ ही लोक-परम्परा में जो वार्ताएँ जड़ जमा चुकी थीं वे ही आगे चल कर किंवदन्ती नाम से अभिहित हुई किंवदन्ती ही साहित्यिक विधा

मे परवर्ती काल मे 'लोककथा' नाम से ख्यात रही। किन्तु पौराणिक कथा का माहात्म्य आज भी धार्मिकता के विवरण तथा वर्णन से बना हुआ है।

यद्यपि कथाएँ रूपक मात्र हैं पर उन में भारतीय जीवन के अनुभवपूर्ण अभिप्राय निहित है। कथा के बहाने धर्म, नीति, आचार-व्यवहार का ही उन में समावेश नही है वरन् लोक-जीवन का जीता-जागता चित्र तथा भारतीय संस्कृति और समाज का चित्र भी स्वाभाविक रूप से उन में प्रतिबिम्बित है। कई आख्यान श्रुति के अंग बन कर युगों-युगो तक प्रचलित रहे हैं। पुराण-युग में उन मे विविध परिवर्तन और संशोधन हुए। यों तो वेदकाल से ले कर पुराण-युग तक उन मे बहुविध विकास हुआ[1] पर कथा का वास्तविक ढाँचा उन्हे तभी (पुराण-युग मे ही) मिल सका जब धार्मिक वृत्तो से भरपूर होने पर भी लोक-जीवन तथा घटनाओं का समावेश भी उन में होने लगा था।

प्रत्येक देश मे कथाओ का प्रचलन मन्दिर, मसजिद, गिर्जाघर या अन्य किसी धार्मिक स्थान से हुआ है जहाँ समाज परस्पर प्रेम-सूत्र का गठबन्धन करती है। लोक-धर्मी परम्परा में कथातत्त्व अत्यन्त विकसित हुआ। जातीय भावनाओ तथा अभिप्रायो का सुन्दर घोल कथाओं के रूप मे जन-मानस मे परिव्याप्त लक्षित होता है। केवल भारतीय साहित्य मे ही नही, पाश्चात्य एवं युरॅपोय साहित्य में भी लोकवार्त्ताओ के माध्यम से धार्मिक भावनाओं का प्रसार हुआ। लोकवार्त्ताएँ धार्मिक आख्यानों के रूप में वैदिक काल से प्रतिष्ठित रही है। प्राग्वैदिक काल मे भी वे श्रुति के रूप में प्रचलित थीं। मिस्र, इजिप्ट, चीन तथा अन्य देशों की अवदान कथाएँ वर्षों तक लोक-जीवन मे मौखिक ही सुरक्षित रही है।[2] श्रुतियों और स्मृतियों मे आख्यानों का यही रूप मिलता है। उन का परवर्ती विकास पौराणिक युग के जीवन का यथार्थ धरातल है, जिस में कल्पना और आदर्श का सुन्दर मेल है।

मिस्र, चीन, भारत आदि देशो में देवी-देवताओं की मान्यता प्राग्-ऐतिहासिक काल से बराबर बनी हुई है। पूजा की विधि और उपासना में ही देश और काल के अनुसार परिवर्तन होते रहे हैं। इस सृष्टि का जन्म प्रायः सभी किसी न किसी देवी या देवता से हुआ मानते है। देवत्व की प्रतिष्ठा एवं स्थापना ऋग्वेद मे ही हो गयी थी।[3] पुराणों में ऐसी कई रूपक कथाएँ मिलती हैं जिन में आध्यात्मिक तत्त्व बीज रूप में निहित है। इसीलिए समाज में आज भी उन का महत्त्व है। भारतीय वाङ्मय में राम और कृष्ण के आख्यान शताब्दियों पश्चात् भी गौरवपूर्ण बने हुए है। इस का कारण यही प्रतीत होता है कि साहित्य की यह विधा लोकवार्त्ताओं से विकसित हुई है। भारतीय साहित्य की भाँति अन्य भाषाओं के साहित्य में भी जातीय अभिप्राय

---

१. एच० एल० हरियप्पा ऋग्वेदिक लीजेन्ड्स थ्रू दि एजेज, भूमिका, पृ० १५।

२. राबर्ट ग्रेमस लारोस, इन्साइक्लोपीडिया ऑब माइथालॉजी, पृ० ६।

३ त्रिवेणीप्रसाद सिंह हिन्दू धार्मिक कथाओं के भौतिक अर्थ प्रथम संस्करण पृ० ११२

(National motifs) लोकवार्त्ताओंसे ग्रहण किये जाते रहे है।[1] कालान्तर में आख्यायिकाओ और कथाओं के वे ही अंग-रूप बन कर प्रचलित हो गये।

आचार्य यास्क ने निरुक्त मे ऋषि विश्वामित्र, राजा सुदास, कुशिक, देवापि तथा शान्तनु आदि की कथाओ का सक्षिप्त विवरण दिया है।[2] आख्यानों की दृष्टि से व्याख्या करने वालो को 'ऐतिहासिक' कहा गया है।[3] इस से स्पष्ट ही संकेत मिलता है कि लोकप्रचलित आख्यान इतिहास के रूप में माने जाते रहे हैं। ब्राह्मणों में प्राप्त 'आख्यान' शब्द इतिहास का वाचक है। निरुक्त में भी इतिहास और आख्यान शब्द सम्भवतः एक ही अर्थ मे प्रयुक्त है। 'आख्यान' शब्द का स्पष्ट उल्लेख उस में मिलता है।[4] 'बृहद्देवता' में विभिन्न वैदिक आख्यानो का सुन्दर संकलन है। भारतीय कथा-साहित्य का यह प्राचीनतम संग्रह है।

मूल रूप मे साहित्य आख्यान कहा जा सकता है। पौराणिक, कल्पित तथा निजन्धरी वृत्तो को ले कर परवर्ती काल में भारतीय साहित्य की सृष्टि हुई। साहित्य मात्र मे धार्मिक आख्यान और लोकवृत्त अतिशयोक्ति पूर्ण कल्पनाओ तथा अलंकरणात्मकता से अनुरजित है। और कथन-भेद से साहित्य के विभिन्न अंगो की रचना का विकास सम्भव हो सका है। इसीलिए शैली-भेद से आख्यान, आख्यायिका तथा कथा आदि नाम प्रचलित हुए। वस्तु-भेद बहुत पीछे की वस्तु है। वस्तुतः इन तीनो का विकास एक ही परम्परा में हुआ। इतिहास और पुराण भी इसी श्रेणी के है।[5] आख्यानों का वास्तविक विकास पुराण और काव्य-साहित्य मे मिलता है। ब्रह्मवैवर्त पुराण तथा श्रीमद्भागवत आदि मे सुन्दर आख्यानो के साथ काव्यसौष्ठव भरपूर है। उन में आख्यान तथा उपाख्यान वर्णनो के बीच चलते हुए लक्षित होते हैं। उन के इस रूप को देख कर सहज में ही निश्चय हो जाता है कि प्रबन्धकाव्यों के पश्चात् ही पुराणो की रचना हुई है। पुराण अठारह कहे जाते है।[6] उन का मूल स्रोत वैदिक आख्यानों में निहित माना जाता है। मन्त्रभाग और विधितत्त्व भी पुराणों के मूल में रक्षित है। यथार्थ मे कुछ देवी-देवताओं को मान कर ही उन को प्रतिष्ठा तथा माहात्म्य बनाये रखने के लिए पुराणों की रचना हुई। पुराणो मे अग्नि, विष्णु और शिव की उपासना मुख्यतः वर्णित है। लिंग, स्कन्द और अग्निपुराण में अग्नि तथा ब्रह्म, नारद, ब्रह्मवैवर्त,

---

१ डॉ० सत्येन्द्र मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोकतात्त्विक अध्ययन, प्रथम सस्करण, पृ० ५२।

२ यास्क : निरुक्त, अ० २, पा० ३, ख० १२।

३ "तत्रेतिहासमाचक्षते। यस्मिन्सूक्ते प्रधाना नद्य एव तत्र इममितिहासं पुरावृत्तं निदानभूतमाचक्षते आचार्या' कथयन्ति।"—निरुक्त, २.७,२४। दुर्गाचार्य की टीका।

४ यास्क निरुक्त, अ० ५, पा० ४, ख० २१।

५. "आख्यानाख्यायिकेतिहासपुराणेभ्यश्च' इति।—महाभाष्य, पा० ४-२-६०।

६. ब्राह्मं पाद्मं वैष्णवं च शैवं लैङ्गं सगारुडम्।
नारदीयं भागवतमाग्नेयं स्कान्दसंज्ञितम्॥
भविष्यं [illegible] मार्कण्डेयं सवामनम्
वाराहं मात्स्यं कौर्मं च [illegible] ति त्रिषट।

[illegible] २३-२४

वराह और वामनपुराण में विष्णु एवं मार्कण्डेय और शिव पुराण मे शिव की प्रधान रूप से भक्ति वर्णित है। अन्य पुराणो मे अवतार, परमपुरुष की लीला तथा लोक गाथाओं का सुन्दर संकलन है। यद्यपि पौराणिक आख्यान मानव-जीवन से सम्बन्धित है पर अतिलौकिक घटनाओं का समावेश भी उन मे प्राप्त होता है। फिर, उपनिषद् कालिक विचारधारा में आत्मतत्त्व को समझाने के लिए दृष्टान्त शैली का विकास हो गया था। इसलिए पुराणो मे कथाओं और उपाख्यानों का सुन्दर मेल दिखाई देता है। विश्व मे सम्भवतः महाभारत से बढ़ कर कोई कथाकोश नहीं मिलता। एक चौथाई महाभारत उपाख्यानों से भरपूर है।[1] रामायण मे भी विविध अवान्तर कथाओं का सुन्दर संयोग है। णायाधम्मकहा में अनेक दृष्टान्त परक रूपक कथाएँ मिलती हैं। इस में वर्णित कथाएँ उपदेशात्मक एवं ललित हैं। जातक कथाएँ लोककथाओं के मूल में विकसित हुई जान पड़ती हैं। पृच्छा रचनाओं में कथा धार्मिक गाथाओं में लिपटी हुई मिलती है। किन्तु णिज्जुत्तियों में कथा और उपाख्यान दोनों ही प्राप्त होते हैं। व्याख्या भाग को पृथक् कर देने पर निर्युक्तियों और चूर्णियों मे सुन्दर आख्यान दिखाई देते हैं। जैन शास्त्रों एवं पुराणों मे लोकाख्यान तथा कथाओं का सुन्दर संकलन है, जिन मे व्रत, उपवास, धर्म और ज्ञान का माहात्म्य वर्णित है। डॉ० उपाध्ये ने सोलह कथाकोशों का परिचय दिया है जो धार्मिक कथाओं से भरपूर हैं।[2] जिनेश्वरसूरि का कथाकोषप्रकरण, राजशेखरसूरि का प्रबन्धकोश, मुनि सिंहसूरि का बृहदाराधना कथाकोश, हरिषेण कृत बृहत्कथाकोश, नेमिचन्द्र रचित कथामणिकोश, देवभद्रसूरि विरचित कथारत्नकोश, उत्तमर्षि कृत कथारत्नाकर, हेमविजयगणि रचित कथारत्नाकर, श्रुतसागर विरचित व्रतकथाकोश, आ० मल्लिषेण, धर्मचन्द, सकलकीर्ति आदि कृत व्रतकथाकोश, ब्रह्म नेमिदत्त, प्रभाचन्द्र, सिंहनन्दिन्, छत्रसेन, ब्रह्मदेव ब्रह्मचारी, रत्नकीर्ति आदि विरचित आराधनाकथाकोश[3] तथा संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और भाषा मे लिखित पुण्याश्रवकथाकोश आदि उपलब्ध होते हैं। इसी प्रकार अन्य भारतीय भाषाओं में भी जैनकथाकोशों के लिखे जाने का उल्लेख मिलता है।

गुणाढ्य की पैशाची प्राकृत में लिखित 'वड्ढकहा' लौकिक आख्यानों का मनोहर संकलन है। जनरुचि के अनुसार जनभाषा मे लिखित यह कथाकोश भारतीय जीवन में अत्यन्त प्रचलित रहा है। कथासरित्सागर उसी का संक्षिप्त संस्करण मात्र है। उस में कथातत्त्व को प्रवाहपूर्ण बनाने के लिए काव्यांश की संयोजना हुई है।[4] क्षेमेन्द्र कृत

---

१. चतुर्विंशतिसाहस्री चक्रे भारतसंहिताम्।
उपाख्यानैर्विना तावद् भारतं प्रोच्यते बुधैः॥—महाभारत, आदि पर्व, १, १२०।

२. डॉ० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये, बृहत्कथाकोश की भूमिका।

३. हरि दामोदर वेलणकर जिनरत्नकोश, खण्ड प्रथम, १९४४, पृ० ३२।

४. यथामूलं तथैवैतन्न मनागप्यतिक्रमः।
ग्रन्थविस्तरसंक्षेपमात्रं भाषा च भिद्यते॥
औचित्यान्वयरक्षा च यथाशक्ति विधीयते।
कथारसविघातेन काव्यांशस्य च योजना॥—कथासरित्सागर, १ १० ११

'बृहत्कथामंजरी' और बुद्धस्वामी का 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' बृहत्कथा के ही अन्य संस्करण है।[1] इसी प्रकार जातको तथा अवदानो के भी कई सग्रहों का पता लगता है। चीनी भाषा में भी उन के कई संस्करणों के लिखे जाने के उल्लेख मिलते है। इसी परम्परा में आगे चल कर भोजप्रबन्ध, वैताल पंचविंशतिका, सिंहासन द्वात्रिंशतिका आदि रचनाएँ लिखी गयी। हिन्दी में इन को आधार मान कर शुकबहत्तरी, माधवानल-कामकन्दला, सुदामाचरित जैसी लोककथाएँ पिछली तीन-चार शताब्दियों में रची गयी। किन्तु सस्कृत मे पंचतन्त्र की शैली उन सब से भिन्न है। उस मे लोकज्ञान का सजीव वर्णन है। यद्यपि दशकुमारचरित की रचना प्रौढ है, पर उस में तत्कालीन लोक-जीवन की पूरी झलक मिलती है। सम्भवतः बाणभट्ट और वसुबन्धु की कथाएँ भी इसी परम्परा की है। धनपाल की तिलकमंजरी भी बहुत कुछ इस लीक पर चलती हुई जान पड़ती है। इन कथाओ के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि कथा का मूल जन-जीवन मे सुरक्षित रहा है। किसी विशेष अभिप्राय, उद्देश्य या धार्मिक भावना से प्रेरित हो कर ही पौराणिक कथाएँ समय-समय पर जातीय भावनाओं के अनुसार लिखी जाती रही है। अधिकाश जैन कथाएँ आचार्यों, मुनियों या यतियो तथा भट्टारकों के द्वारा लिखी गयी है। जैन धर्म, साहित्य और संस्कृति की रक्षा मे भट्टारको का प्रमुख हाथ रहा है। वे कई भाषाओं के जानकार तथा अधिकारी विद्वान् होते थे। तन्त्र, मन्त्र और शास्त्रो की रचना में उन का महत्त्वपूर्ण योग रहा है। आज भी राजस्थान, सौराष्ट्र—गुजरात, बरार, उत्तर प्रदेश और दक्षिण आदि मे जो बड़े-बड़े भण्डार मिलते है वे सब यतियो तथा भट्टारको की देन है। जैन समाज में यतियो तथा भट्टारकों की परम्परा प्राचीन मानी जाती है। उन के कई स्थानो का प्रामाणिक परिचय भी मिलता है।[2] इस प्रकार कथा की सृष्टि मूल रूप में जन-वार्त्ताओं से हुई प्रतीत होती है। जहाँ उन में अति-मानवीय घटनाओ का सयोग हो गया है वहाँ से धार्मिक आख्यान बन कर पुराणो में अथवा पौराणिक रचनाओ मे निरूढ़ हो गयी है। अतएव उन में कथा का वह शुद्ध स्वरूप नहीं दिखाई देता जो लोककथाओं में मिलता है। वैदिक युग मे असुर तथा दानवो से सम्बन्धित कथाएँ जन-जीवन में प्रचलित रही है[3] पर वेदों में प्राप्त श्यावाश्व, पुरुरवा-उर्वशी, तथा सवाद सूक्तो मे प्रकृति की अलौकिक सत्ता ही मुख्य है; मनुष्य के भावनात्मक सौन्दर्य और प्रकृतिगत सौन्दर्य से उन का कोई विशेष सम्बन्ध नही है। ब्राह्मण ग्रन्थो में प्रतीकात्मक देवकथाएँ (Myths) ही मुख्य रूप से मिलती हैं। यद्यपि उपनिषदो मे दृष्टान्त और संवाद शैली का जन्म बहुत पूर्व ही हो गया था पर उन का

---

१ वाचस्पति गैरोला संस्कृत साहित्य का इतिहास, प्रथम संस्करण, पृ० ११६।

२ अनूपचन्द जैन न्यायतीर्थ आमेर गादी के भट्टारकों की साहित्यिक एवं सांस्कृतिक सेवा, महावीर जयन्ती स्मारिका, अप्रैल ६२, पृ० १२७। विशेष जानकारी के लिए प्रो० वी० पी० जोहरापुरकर की पुस्तक 'भट्टारक (शोलापुर १९५८) द्रष्टव्य है

३ ई० वाशबर्न हापकिन्स इपिक प्रथम संस्करण पृ० ६१।

पूर्ण विकास कथा-साहित्य में देखा जाता है। प्राकृत के प्रबन्ध काव्यो मे कथन की यह विशेष शैली रही है, जिस में वार्तालाप एवं संवाद कथा के अंग है। उस मे कथाएँ गद्य और पद्य दोनो मे ही लिखी हुई मिलती है। कथाकोषप्रकरण में संग्रहीत कथाएँ प्राकृत गद्य मे लिखी गयी हैं। प्रसंगत: कुछ संस्कृत और अपभ्रंश के भी पद्य आ गये है। देशी राग मे गायी जाने वाली अपभ्रंश चौपाई भी उस मे संकलित है।[1] कथा-ग्रन्थों में से कुछ तो पुराणो की पद्धति पर रचे गये है और कुछ आख्यायिकाओ की शैली पर। उपलब्ध ग्रन्थों मे 'वसुदेव हिण्डी' सब से प्राचीन और सब से बड़ी कथा-रचना है।[2] इस मे विभिन्न संक्षिप्त कथाओं का सुन्दर संकलन है। इस के संग्राहक संघदास क्षमाश्रमण कहे जाते है। इस की रचना पुराण-पद्धति पर हुई है। श्री हरिभद्रसूरि का धूर्ताख्यान अत्यन्त ललित कथा-रचना है। जयसिंहसूरि कृत धर्मोपदेशमाला, महेन्द्रसूरि विरचित नर्मदासुन्दरी और सुमतिगणि रचित जिनदत्ताख्यान आदि प्राकृत की मनोहर कथाकृतियाँ है। महेश्वरसूरि कृत ज्ञानपंचमीकथा प्राकृत की प्रसिद्ध कथाओ का काव्यात्मक संकलन है। आलंकारिक शैली मे लिखी गयी कथाएँ भी देखी जाती है, पर अधिकतर लोकाख्यान मूलक पद्धति पर उन की रचना हुई है। प्राकृत और अपभ्रंश के कथाकाव्य अधिकतर शास्त्रीय मार्ग से हट कर लोकाख्यानक शैली पर रचे गये हैं। कुछ प्राकृत कथाकाव्य इस प्रकार हैं—तरंगवई (पादलिप्तसूरि), समराइच्च कहा (हरिभद्र सूरि), भुवनसुन्दरी (विजयसिंह सूरि) तथा निर्वाण लीलावती (जिनेश्वरसूरि) आदि। प्राकृत में प्रेमाख्यानक काव्यो की लम्बी परम्परा दिखाई देती है, जिस मे शृंगार की साभिराम योजना हुई है। उन में से कुछ के नाम है—रयणसेहरकहा (जिनहर्षगणि), तरंगवई (पादलिप्तसूरि), लीलावई (कोऊहल), सुरसुन्दरीचरिउ (धनेसरसूरि), भुवनसुन्दरीचरिउ (विजयसिंह), लीलावई (भूषणभट्टतनय), कथा-सुरसुन्दरी[3] और मलयसुन्दरी कथा आदि। प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश की भाँति गुजराती तथा दक्षिण की भाषाओं मे भी लिखित प्रेमाख्यानक कथाकाव्य प्राप्त होते है। जान पड़ता है कि आभीरों के प्रबुद्ध होने पर छठी-सातवी शताब्दी के लगभग कथा-रचना में गीत और शृंगार-भावना का समावेश हो चला था। प्राय. कथाकाव्य लोकाख्यान को ले कर लिखे जाते थे। तमिल मे सातवी शताब्दी मे शास्त्रीयता से हट कर लोककथाएँ लिखी जाने लगी थी। हिन्दी मे तो प्रेमाख्यानक काव्यों की रचना लोक कथाओं को ले कर ही हुई हैं। उन के अतिरिक्त तोता-मैना, वैतालपच्चीसी, सिंहासन-बत्तीसी, सुवाबत्तीसी तथा ढोलामारू आदि मौलिक कथाएँ भी भारतीय जनता मे शताब्दियों से प्रचलित रही हैं लोककथाओं म पशु-पक्षी, पेड़-पौधे जड़-चेतन सभी कथा के विषय मिलते हैं

कथा और आख्यायिका

प्राकृत में कथा के लिए 'कत्थ' तथा आख्यायिका के लिए 'आइक्खिया' शब्द मिलते हैं। ठाणांगसुत्त में स्पष्ट रूप से कथा काव्य का एक भेद कही गयी है।[1] आख्यायिका का अर्थ अंग ग्रन्थों में 'वार्ता' या 'विवरण' प्राप्त होता है।[2] यद्यपि आरण्यक ग्रन्थों और यास्क के निरुक्त में भी कथा शब्द देखा जाता है, पर वहाँ वह 'कथं' (क्यों, कैसे) का वाचक है।[3] इसी प्रकार 'आख्यान' शब्द कथन अर्थ में प्रयुक्त है। प्रतीत होता है कि पुराण-युग के पूर्व साहित्य में कथा का स्थान महत्त्वपूर्ण नहीं समझा जाता था। जब से प्रबन्ध काव्यों में रसाभिनिवेश के लिए कथा की संयोजना हुई, संभवतः तभी से कथा का महत्त्व एवं गौरव प्रतिष्ठित हुआ। प्रबन्ध काव्य के रूप में आदि ग्रन्थ वाल्मीकीय रामायण का उल्लेख मिलता है पर उस के पूर्व भी कथाकाव्य लिखे जाते थे। रामायण मे कथा कहने की प्राचीन परम्परा का संकेत मिलता है।[4] 'वार्त्ता' शब्द कथा से समीचीन जान पड़ता है। कालान्तर मे वार्त्ता, विवरण, कथा आदि शब्दों का प्रयोग समान अर्थ में किया जाने लगा। महाकवि कालिदास ने 'वार्त्ता' अर्थ मे इस का प्रयोग किया है।[5] किन्तु श्रीमद्भागवत में 'वार्त्ता' और 'कथा' शब्द समान अर्थ में प्रयुक्त है।[6] आचार्य चाणक्य के समय (ई० पू० चौथी शताब्दी) तक कथा शब्द सामान्य अर्थ में प्रयुक्त होता था। आख्यान और कथा से अभिप्राय तब 'कथन' प्रचलित था।[7] आ० भामह ने आख्यायिका और कथा दोनों का ही प्रयोजन 'अभिनय' माना है।[8] किन्तु रामायण में स्पष्टतः दोनों समान अर्थ के वाचक हैं।[9] वस्तुतः इस विषय में लक्षणग्रन्थकारों में विभिन्न मत हैं। सामान्यतः कथा का अर्थ

---

१ चउव्विहे कव्वे गज्जे, पज्जे, कत्थे, गेये।—स्थानांगसूत्र, ४, ४, ४३।

२ अट्ठाइहेऊति पसिणाइं कारणाइं वाकरणाइं आइक्खंति।—ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र, १,१ १३४।

३. यथा तु कथा च ब्रुवन्वा ब्रुवन्त वा।
ब्रुयादभ्याशमेव यत्तथा स्यात, इति॥—ऐतरेयारण्यकम्, ३, १, ३।

४. सनत्कुमारो भगवान् पुरा कथितवान्कथाम्।
भविष्यं विदुषां मध्ये तव पुत्र समुद्भवम्॥ —रामायण, १, ८, ६।

५. अभितप्तमयोऽपि मार्दवं भजते कैव कथा शरीरिषु।—रघुवंश, ८, ४३।

६ यत्र भागवती वार्त्ता तत्र भक्त्यादिकं व्रजेत्।
कथाशब्दं समाकर्ण्य तात्त्विकं तरुणायते॥—श्रीमद्भागवत, ३, ६।
दुर्लभैव कथा लोके श्रीमद्भागवतोद्भवा।
कोटिजन्मसमुत्थेन पुण्येनैव तु लभ्यते॥—वही, ३, ४८।

७ कथानुरूपं प्रतिवचनं।—चाणक्यसूत्र, ३२८।
कथितं षष्ठ्युपाख्यानं ब्रह्मपुत्र यथागमम्।
देवी मङ्गलचण्डी या तदाख्यानं निशामय॥—ब्रह्मवैवर्त पुराण, अध्याय ४१, प्रकृति खण्ड।

८. सर्गबन्धोऽभिनेयार्थं तथैवाख्यायिकाकथे।—काव्यालंकार, १, १८।

९ मामुष्यं पठन् नर
सपुत्रपौत्र सगण प्रेत्य स्वर्गे महीयते। मायण १ ९९

वार्त्ता तथा दृश्य और श्रव्य काव्य में वह काव्य की मूल निबन्धिनी समझी जाती रही है।[1]

'आख्यान' शब्द का सामान्य अर्थ 'वृत्त' या 'विवरण' कहा जाता है। किन्तु कथा की भाँति इस का सम्बन्ध इतिहास पुराण से होता है।[2] आ० विश्वनाथ ने पूर्व वृत्त (इतिहास) को 'आख्यान' कहा है।[3] वृत्त का अर्थ कथा भी है।[4] काव्यों की रचना विभिन्न आख्यानों मे हुई है। यद्यपि आख्यायिकाओं का विकास आख्यान से कहा जा सकता है, पर साहित्यिक विधा में उन मे अन्तर है। लोक में वार्त्ता, जनश्रुति और आख्यायिका का अर्थ समान रूप में प्रचलित रहा है। किसी समय आख्यान, आख्यायिका और कथा तीनों शब्दों का अर्थ एक था, पर आज उन में बहुत अन्तर है। अब 'आख्यान' का अर्थ पुराण-कथा तथा 'आख्यायिका' का लघुकथा एवं यथार्थ जीवन-वृत्त है। जीवन-वृत्त पहले भी 'आख्यायिका' के अन्तर्गत आते थे। छोटे-छोटे ऐतिहासिक वृत्त तथा जीवन-वृत्त भी आख्यायिका कहे जाते थे। बाण का 'हर्षचरित' प्रसिद्ध आख्यायिका रचना है, पर कादम्बरी कथा है। परन्तु कथा का प्रयोग अब सीमित नहीं है। उपन्यास, नाटक, कहानी, रूपक, नीति-दन्त-लोकवार्त्ताओं आदि मे कथा प्रधान है और साधारणतः वही उन सब मे मुख्य है। आधुनिक युग में 'परीक्षागुरु' से ले कर 'परती : परिकथा' तक विभिन्न रूपों में कथा-साहित्य की चर्चा की जाती रही है। शैली की दृष्टि से जो सूक्ष्म भेद उन मे पहले था वह आज भी है, परन्तु वस्तु और विषय के भेद से युगान्तरकारी परिवर्तन मुख्यतः दिखाई देता है। सभव है कि अभी और परिवर्तन हों और आचलिक कथाओ से आगे लोकभाषाओं मे वास्तविक लोक-कथाओं की रचना हो तथा नये-नये नाम-रूपों का प्रत्याख्यान हो।

अपभ्रंश मे कथा को 'कहा' कहते हैं। प्राकृत की भाँति अपभ्रंश में भी कथाओं के तीन प्रकार (Type) दृष्टिगोचर होते हैं। कुछ कथाएँ प्रबन्ध है, जिन में महाकाव्य के गुण मिलते है और कुछ चरित्र प्रधान है जो प्रबन्धकाव्य की शैली मे लिखी गयी है तथा कुछ धार्मिक विवरण मात्र हैं। अतएव स्वयम्भू की रामायण चरितकाव्य होने पर भी कवि ने उसे रामकथा कहा है।[5] इस से यह भी सूचित होता है कि अपभ्रंश के कवि चरित और कथा में अन्तर नहीं मानते थे। हस्तलिखित प्रतियों में भी 'भविष्य-

---

१. यक्षकन्यास्तथा नाग्यः पिशाच्यः सुरयोषितः।
वशमायान्ति सुभगे नरनारीषु का कथा॥—तन्त्रालोक, तृतीय आह्निक।
रसबन्धोक्तमौचित्यं भाति सर्वत्र संश्रिता।
रचनाविषयापेक्षं तत्तु किंचिद्विभेदवत्॥—ध्वन्यालोक, ३, ६।

२ आख्यानानीतिहासाश्च पुराणानि खिलानि च।—मनुस्मृति, ३, २३२।

३ आख्यानं पूर्ववृत्तोक्तिः।—साहित्यदर्पण, ६, २११।

४ नाटकं ख्यातवृत्तं स्यात् पञ्चसन्धिसमन्वितम्।—वही, ६, ७।

५ तिहुअणलग्गणखम्भु गुरु परमेट्ठिणवेप्पिणु।
पुणु आरम्भिय रामकह आरिसु जोएप्पिणु॥—पउमचरिउ १ १।

दत्तकथा' का नाम भविष्यदत्त चरित्र लिखा मिलता है। किन्तु वस्तु और रचना-भेद से उन मे अन्तर मानना समीचीन है। डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन पुराण काव्य और चरित काव्य नाम से दो ही भेद मानते है।[1] उन का कथन है कि अपभ्रंश लेखक चरित और कथाकाव्य मे कोई भेद नही करते। लेकिन यदि हम अपभ्रंश के कवियो के द्वारा अपने सम्बन्ध मे कहे हुए विचारों को लक्षण मान कर चलें तो कई विरोध उपस्थित होते है। जैन पौराणिक साहित्य में सप्तव्यसनवर्जन कथा ख्यात आख्यानक है। अपभ्रंश मे प० माणिकचन्द्र विरचित 'सत्तवसणवज्जणकहा' अकेली रचना उपलब्ध हुई है। ग्रन्थ के प्रारम्भ मे ही कवि ने उसे 'चरिउ' और 'कहा' लिखा है, परन्तु शेष सभी स्थलों पर उसे कथा कहा है।[2] इस से स्पष्ट है कि वे इस प्रकार का कोई भेद नहीं मानते थे और न भेदमूलक विधा ही उन के सामने थी, पर आकार, रचना-बन्ध, सन्धि-निबन्ध, रीति आदि में कई रचनाएँ एक-दूसरे से भिन्न है। छोटी-छोटी कथाएँ नितान्त विवरणात्मक तथा पौराणिक हैं, जब कि बड़ी कथाएँ काव्यतत्त्वो मे तथा अभि-प्रायों से भरपूर है। फिर, जीवन के समूचे चरित्र का कीर्तन करना कथाओं का उद्देश्य नही है। वे किसी एक या विभिन्न घटनाओ से चमत्कृत हैं जो जनता पर प्रभाव डाल सकती है। यदि हम केवल कथा-काव्य को ही मानें तो महापुरुषो के जीवन-चरित्र का वर्णन करने वाली रचनाओ को भी कोई नाम देना होगा। क्योंकि अपभ्रंश कथाकाव्य की यह विशेषता है कि समाज का कोई भी व्यक्ति रचना का नायक हो सकता है। नायक बनने के लिए महापुरुष होने का नियम कथाकाव्य के लिए आवश्यक नही था। इसलिए कई लोककथाएँ इस साहित्य में प्रतिष्ठित दिखाई देती है।

आ० विश्वनाथ ने आख्यायिका को कथा को भाँति माना है। उस में कवि-वंश आदि का विवरण (स्वयं का तथा अन्य का) गद्य में कहा जाता है। वह आश्वासों में निबद्ध होती है।[3] रुद्रट के मत में कथा की भाँति आख्यायिका भी गद्य में लिखी जाती है। अन्तर इतना ही है कि आख्यायिका में कवि का वंशवृत्त एवं आत्मचरित पद्य में नही होता।[4] रुद्रट के विचारो को स्पष्ट करते हुए अधिकारी विद्वान् नमिसाधु ने लिखा है कि संस्कृत में कथा गद्य में तथा प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं में अधिकतर पद्य मे

---

१. डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन अपभ्रंश साहित्य, होलकर कॉलेज मेगजीन, १९५७–५८, पृ० १११।

२ सत्वेवे अक्खिमि जिह हउं लक्खमि सत्तवसणवज्जणचरिउ। —सप्तव्यसनवर्जन कथा, १, १।
कहि सत्तवसनवज्जणकहाणु।—वही, १, १।
इय सत्तवसणवज्जणकहाए।—वही, गद्य।

३ आख्यायिका कथावत् स्यात् कवेर्वंशादिकीर्तनम्।
अस्यामन्यकवीनां च वृत्तं पद्य क्वचित् क्वचित्॥
कथांशाना व्यवच्छेद आश्वास इति बध्यते।
आर्यावक्त्रापवक्त्राणां छन्दसा येन केनचित्॥ —साहित्यदर्पण, ६. ३३५ ३३६।

अथ तेन कथैव यथा गद्य न
निजवंश स्व स्वगद्य न १६ २६

लिखी जानी चाहिए ।[1] आचार्य हेमचन्द्र ने भी आख्यायिका को गद्ययुक्त माना है । वस्तुत: कथा का मूल अन्तर छन्द, कथावस्तु तथा शैली पर निर्भर है । कथा में कथा-वस्तु कल्पित, अधिकतर आश्वासादि रहित गद्य में लिखित (हेमचन्द्र के अनुसार पद्य में भी) तथा पद्यों में लिखित कविवंशवृत्त से युक्त होती है । किन्तु आख्यायिका में वस्तु ऐतिहासिक, आश्वास आदि में विभक्त तथा गद्य में लिखित कविवृत्त से युक्त होती है ।

कथा का स्वरूप

कथा प्रबन्ध की मूल वस्तु है । उस में वस्तु-विवरण मुख्य होता है, किन्तु घटनाओं का विस्तार भी महत्त्वपूर्ण नही होता। कथा को गतिशील बनाये रखने के लिए काव्य में घटनाओं की योजना तथा अवान्तर कथाएँ भी सम्बद्ध देखी जाती है । इसी लिए सम्भवत. आलंकारिकों ने कथा को अलग से काव्य का भेद नहीं माना । किन्तु इस देश की लगभग सभी भाषाओं में पौराणिक और आधुनिक कथा-साहित्य वर्तमान है । आ० भामह ने कथा को इतिहासाश्रय कहा है ।[2] इस से यह भी संकेत मिलता है कि पुरावृत्त तथा आख्यान जन-जीवन में शताब्दियों से प्रचलित रहे हैं । यद्यपि संरचना में तथा रूपों में आश्चर्यजनक परिवर्तन होता रहा है, पर कथा अत्यन्त प्राचीन काल से कही जाती रही है और बाद में भी लिखी जाती रही है और लिखी जाती रहेगी—भले ही प्रकारगत रूपों में भेद बना रहे । क्योंकि वह ऐसी वार्त्ता होती है जिसे कहे बिना मनुष्य अपनी भावनाओं में बँध कर रह नहीं सकता ।

गद्य प्रबन्ध के दो भेद कहे गये है—आख्यायिका और कथा । दण्डी के अनुसार कथा और आख्यायिका में मौलिक भेद नही है ।[3] हेमचन्द्र ने कथा और आख्यायिका का भेद नायक के आधार पर किया है । कथा का नायक धीर शान्त और आख्यायिका का ख्यात होता है । कथा सभी भाषाओं में तथा गद्य-पद्य में कही जाती है, पर आख्यायिका केवल संस्कृत में तथा गद्य में[4] । कथा में उच्छ्वासों का विभाग तथा वक्त्र, अपरवक्त्र में निबद्ध होने का संस्कृत में नियम नही है ।[5] किन्तु प्राकृत, अपभ्रंश में प्राय कथाएँ सन्धि, परिच्छेद तथा आश्वासों में निबद्ध मिलती हैं । अधिकतर कथाएँ पद्यबद्ध है, पर संस्कृत में गद्य में ही लिखी गयी है । आ० आनन्दवर्द्धन के कथन से और भी स्पष्ट हो

---

१ इत्येवं संस्कृतेन कथा कुर्यात् । अन्येन प्राकृतादिभाषान्तरेण त्वगद्येन गाथाभि प्रभृतं कुर्यात् ।
—नमिसाधु . काव्यालंकार की टीका, १६, २३ ।

२. शब्दश्छन्दोऽभिधानार्था इतिहासाश्रया कथा ।
लोको युक्ति कलाश्चेति मन्तव्या. काव्यगैर्ह्यमी ॥ —काव्यालंकार १, ९ ।

३ तत् कथाख्यायिकेत्येका जाति संज्ञाद्वयाङ्किता ।—काव्यादर्श, १, २८ ।

४ नायकख्यातस्ववृत्ता भाव्यर्थशंसिवक्त्रादिः सोच्छ्वासा संस्कृता गद्ययुक्ताख्यायिका । यथा—हर्षचरितादि । धीरशान्तनायका गद्येन पद्येन वा सर्वभाषा कथा । गद्यमयी-कादम्बरी, पद्यमयी-लीलावती ।—काव्यानुशासन, अध्याय ८ ।

५. आख्यायिकोच्छ्वासादिना वक्त्रापरवक्त्रादिना च युक्ता । कथा तद्विरहिता ।
—अभिनवगुप्त - ध्वन्यालोकलोचन ३ ७

जाता है कि कथा मे विकट बन्ध की प्रचुरता होने पर भी गद्य का रस से समन्वित तथा औचित्य पूर्ण होना आवश्यक है।[1] इस प्रकार आ० आनन्दवर्द्धन काव्य के सम्बन्ध मे रसान्विति की जिस मान्यता को आवश्यक बताते है, कथा के सम्बन्ध मे भी उसी को दुहराते है।

प्रबन्ध और कथाकाव्य

वस्तु रूप मे प्रबन्ध और कथाकाव्य मे कोई अन्तर नही है। यदि कोई भेदक रेखा खीचनी ही पडे तो वह शैली भेद के अनुसार निर्धारित होगी। संरचना में भी कहीं-कही भेद देखा जाता है पर वह बहुत ही सूक्ष्म है और सभी रचनाओ मे नही मिलता। अतएव यह नि सन्देह रूप से कहा जा सकता है कि अपभ्रंश के प्रबन्ध और कथाकाव्य मे कोई अन्तर नही है। डॉ० भायाणी तो स्वरूप की दृष्टि से पौराणिक और चरितकाव्य में बहुत अन्तर नही मानते। रचना-प्रकार दोनों मे समान होता है। दोनो ही सन्धिबद्ध होते है। चरितकाव्य मे विषय सीमित और सन्धियो की संख्या कम रहती है, पर पौराणिक काव्य मे विषय विस्तृत तथा सन्धियो की सख्या पचास मे सवा सौ तक होती है।[2] किन्तु दोनो मे अन्तर सन्धियो का नहीं है, विषय और शैली का है। उदाहरण के लिए—यश कीर्ति का पाण्डवपुराण चौतीस सन्धियों की, हरिवंशपुराण तेरह सन्धियों की तथा श्रुतकीर्तिकृत हरिवंशपुराण चवालीस सन्धियो की और बुध विजयसिंह रचित 'अजितपुराण' दस सन्धियों की रचना है। डॉ० शम्भुनाथ सिंह अपभ्रंश के काव्यो को दो प्रकार की शैलियों में लिखे हुए मानते हैं।[3] वस्तुत. शैलीभेद स्पष्ट देखा जा सकता है और इसी लिए 'पउमचरिउ', 'हरिवंशपुराण' और 'महापुराण' जिस शैली मे और बन्ध-रचना मे निबद्ध है वह हमें 'णायकुमारचरिउ' में नहीं दिखाई देती तथा उन से भिन्न 'भविसयत्तकहा' और 'सिद्धचक्ककहा' में दृष्टिगोचर होती है।

कथाकाव्य का स्वरूप

यद्यपि अपभ्रंश मे कथा और चरित काव्यो की प्रचुरता है, पर साहित्य के अन्य अंगो पर लिखी जाने वाली रचनाओ का संकेत उन मे मिलता है। अन्तर दरशाने के लिए हम चरित और कथाकाव्य में वस्तु-विवरण, आकार तथा शैली-भेद मान सकते है। चरितकाव्य पुरुष विशेष या त्रेसठशलाकापुरुषो के जीवनचरित से सम्बद्ध होते है और कथाकाव्य जन सामान्य के जीवन से। महापुराणो में स्पष्ट ही त्रेसठशलाका-पुरुषो के समूचे जीवन के साथ ही उन के पूर्व भवो, प्रासंगिक विभिन्न घटनाओं, अवान्तर कथाओं तथा जीवन से सम्बद्ध सभी कार्य-व्यापारो का विवरण अतिशयता के

---

१. कथायां तु विकटबन्धप्राचुर्येऽपि गद्यस्य रसबन्धोक्तमौचित्यमनुसर्तव्यम्।—ध्वन्यालोक, ३,८।

२ डॉ० हरिवल्लभ भायाणी पउमसिरीचरिउ की भूमिका पृ० १५।

३ डॉ० शम्भुनाथ सिंह हिन्दी स्वरूप विकास प्रथम संस्करण पृ० १७२

साथ वर्णित मिलता है। किन्तु चरित काव्यो में उद्देश्य विशेष से नियोजित पौराणिक कथावस्तु पौराणिक या लोकशैली मे वर्णित होती है। पुराण-काव्यों में साहित्यिक सौष्ठव के दर्शन और सैद्धान्तिक विचारों का समन्वय भी मिलता है। प्राकृत से ही कथाकाव्य प्रबन्ध के रूप में मिलने लगते है। अपभ्रंश के कथाकाव्यों मे सन्धिनिर्वाह तथा काव्य रूढ़ियों का पूर्ण औचित्य दिखाई देता है। उपलब्ध सभी कथाकाव्य सन्धियों मे विभक्त हैं। उन मे एक से अधिक रसों का परिपाक है। कथा के विकास मे नाटक में प्राप्त होने वाले तत्त्वो की पूर्ण संयोजना देखी जाती है। घटनाओ मे भी कार्यकारण योजना समान रूप से व्याप्त है। उन मे धार्मिक प्रभाव वातावरण तथा कथानक से लिपटा रहता है। जिन कथाकाव्यो की वस्तु लोक-जीवन से गृहीत है उन मे विस्मयकारी घटनाओ का योग भी मिलता है।

कथाकाव्य प्रबन्ध का ही काव्यात्मक भेद है, जिस मे शास्त्रीयता से हट कर काव्य रूप का विकास देखा जा सकता है। उस मे लक्षणग्रन्थकारो द्वारा प्रतिपादित कुछ बातों को छोड़ कर सभी गुणों का पूर्ण समावेश प्राप्त होता है। शैली तथा वर्णन की प्रवृत्ति और शिल्प-सरचना मे अन्तर अवश्य है। डॉ० शम्भुनाथ सिंह के मत में कथा-काव्यों की भाँति प्रबन्धकाव्य मे लोकतत्त्वो और कथानक रूढियो की अधिकता नही होती है, जिस से उस मे कथाकाव्यो की तरह की एकरूपता और एकरसता नही होती[1]। इस प्रकार सामान्य रूप से अपभ्रंश मे प्रबन्ध और कथाकाव्य में कोई भेद नही होता। क्योंकि प्रबन्ध की भाँति, प्रकृति का जीवन का अंग बन जाना, साहित्यिक रूढियो का पालन, अलंकारो का भावो के पीछे चलना, नाटकीय सन्धियों से समन्वित होना, सन्धिबद्ध होना, सन्धि के अन्त में छन्द मे परिवर्तन हो जाना, कथा का विकास मनोवैज्ञानिकता के साथ होना तथा ग्राम नगर, प्रकृति आदि का वर्णन आदि विशेषताएँ कथाकाव्य में भी दिखाई देती है। फिर, डॉ० शम्भुनाथ सिंह ने परम्परागत परिभाषा के अनुसार अपभ्रंश के पुराण, चरित और कथाकाव्य भेदो को निराधार बताया है, पर प्रबन्ध काव्य मानते है[2]। किन्तु डॉ० नामवरसिंह कल्पित अथवा लोक-कथा के आधार पर लिखे गये आख्यान-काव्य को कथाकाव्य कहते है[3]। वास्तव मे अपभ्रंश मे लिखे गये कथाकाव्य चरितकाव्यों से भिन्न है, जिन का स्पष्ट अन्तर 'कथाकाव्यानुशीलन' के प्रसंग में विवेचित है।

कथाकाव्य और चरितकाव्य में अन्तर

कई बातों में अपभ्रंश के कथाकाव्य और चरितकाव्य मे स्पष्ट अन्तर दृष्टिगोचर होता है वस्तु की दृष्टि से म लोकवार्ताएँ काव्य रूप म निबद्ध हैं जिन्ह

कवि की कल्पना ने जातीय अभिप्रायों तथा कथानक रूढ़ियों में गूँथ दिया है। किन्तु चरितकाव्य की कथावस्तु पुराणों से उद्धृत एवं ऐतिहासिक अनुश्रुतियों से सम्बद्ध देखी जाती है। सामान्यत कथा या कथाकाव्य की वस्तु कल्पित अथवा कल्पनाओं से अनुरंजित होती है। संस्कृत भाषा में लिखित कादम्बरी ऐसी ही रचना है। अपभ्रंश के कथाकाव्यों की कथाएँ इस देश के विभिन्न-प्रदेशों में प्रचलित लोक-कहानियों के रूप में आज भी जनश्रुतियों से सुनने को मिल सकती हैं। जिन्हे सुन कर यह निश्चय हो जाता है कि कथाकाव्य के रूप में प्रयुक्त कथाएँ जन-मानस की लोककथाएँ हैं, जो उद्देश्य विशेष से काव्य में नियोजित हुई हैं। और इसी लिए कथा एक उद्देश्य या ध्येय ले कर कही जाती है और जहाँ उस की पूर्णता होती है, वही काव्य की समाप्ति हो जाती है। किन्तु चरितकाव्यों मे यह बात नही मिलती।

चरितकाव्य मे नायक के समूचे जीवन की विभिन्न घटनाओं तथा संघर्षों का वर्णन होता है। इस लिए आ० आनन्दवर्द्धन ने इसे सकलकथा कहा है और आ० हेमचन्द्र सकलकथा को ही चरितकाव्य कहते हैं।[1] हरिभद्रसूरि का 'णेमिणाहचरिउ' (नेमिनाथचरित) चरितकाव्य है। किन्तु उस के अन्तर्गत सनत्कुमार की कथा 'कथा' है, जिसे खण्डकथा कहा जा सकता है।[2] वस्तुत. हेमचन्द्र की परिभाषा के अनुसार अपभ्रंश के कथाकाव्य वस्तु रूप में बृहत्कथाएँ है जो चरितकाव्य जैसे जान पड़ते है।[3] अतएव किसी रचना के पीछे 'चरित' शब्द जुड़ा होने से हम इसे चरितकाव्य नही मान सकते। क्योंकि स्वयम्भू कृत 'रिट्ठणेमिचरिउ' निश्चय ही चरितकाव्य न हो कर महाकाव्य है। संस्कृत मे भी 'दशकुमारचरित' प्रसिद्ध कथाकाव्य है जो गद्यकाव्य का उत्तम निदर्शन माना जाता है। इसी प्रकार किसी काव्य के पीछे 'कहा' या 'कथा' शब्द जुड़ा होने से वह कथाकाव्य ही नही हो सकता। उस का पूरा विचार किये बिना कुछ नही कहा जा सकता। उदाहरण के लिए, नरसेन रचित तथा जयमित्रहल विरचित 'वर्द्धमानकथा' कथाकाव्य न हो कर चरितकाव्य है। वस्तुत' काव्य के नाम के पीछे कथा, चरित, विलास, रास, काव्य और विजय आदि शब्द जोड़ देने से वह रचना उस अभिधा की वाचक नही हो सकती। यद्यपि कुछ नामो की सार्थकता भी मिलती है, पर उत्तरवर्ती मध्ययुगीन साहित्य में कई रचनाओं के पीछे उक्त नाम जोड देने की रूढ़ि ही प्रचलित हो गयी थी। इस लिए उन में से वस्तुपरक रचना का निर्णय करना कठिन-सा प्रतीत होता है। संस्कृत के अधिकांश चरितकाव्य ऐतिहासिक व्यक्ति को ले कर लिखे गये हैं। किन्तु कथाकाव्य की वस्तु लोकप्रचलित या उत्पाद्य होती है

---

१. सकलकथेति चरितमित्यर्थ । —काव्यानुशासन, ८,८ की वृत्ति।

२. ग्रन्थान्तरप्रसिद्धं यस्यामितिवृत्तमुच्यते विबुधैः।
मध्यादुपान्ततो वा सा खण्डकथा यथेन्दुमती ॥ वही।

३ महाविषया
बृहत्कथा भवति। वही

उत्पाद्य वस्तु हमें तीन रूपों में मिलती है — कवि-कल्पना प्रसूत, लोकजीवन मे प्रचलित तथा जनश्रुतियो से अथवा पुराणो से गृहीत लोककथा। अतएव वस्तु के भेद से कथा-काव्य और चरितकाव्य में स्पष्ट अन्तर है।

यथार्थ में चरित लोक मे देखा जाता है, काव्य में तो कथा ही उस की चेतना होती है। कथा तथा कथा काव्य में कहानी के तत्त्वों का समावेश रहता है। इस लिए उन मे आदि से अन्त तक जिज्ञासा, कुतूहल, गतिशीलता, संयोग, दैवी संयोग, संघर्ष तथा जीवन का कोई तथ्य कथा मे परिव्याप्त रहता है। परन्तु चरितकाव्य में कथा रुक-रुक कर चलती है। उस मे नायक के चरित्र का ही विस्तार से कीर्तन होता है। और नायक का फल ही काव्य-रचना का फलागम माना जाता है। अतएव कार्यावस्थाओ के भेद से भी इन दोनों मे अन्तर दरशाया जा सकता है।

काव्य में कार्य की मुख्य पाँच अवस्थाएँ मानी गयी है। इन का सम्बन्ध अर्थ-प्रकृतियों से रहता है। अर्थप्रकृति प्रयोजन की सिद्धि के लिए हेतु रूप है। कथा मे अवस्था और अर्थप्रकृति को जोडने वाली सन्धि होती है। गर्भ सन्धि से ही इष्ट प्राप्ति का बीज रूप जाता है। यह बीज प्राप्त्याशा और पताका की मिलन की स्थिति मे स्फुट होता है। किन्तु आ० धनंजय के अनुसार पताका का होना आवश्यक नही है। बिना पताका के भी प्राप्ति सम्भव है।[१] अतएव कथा मे पताका अनिवार्य रूप से नहीं मिलती। इसी प्रकार पंच सन्धियो का भी पूर्ण समावेश कथा काव्य मे दृष्टिगोचर नही होता। किन्तु चरित काव्य मे मिलता है। आ० भरत मुनि ने—सहेतुक पचसन्धियों से हीन रचना भी विहित मानी है।[२] वस्तुतः पताका और प्रकरी तथा विमर्श सन्धि आदि का पूर्ण निर्वाह कथाकाव्य मे लक्षित नही होता। यदि हम पाश्चात्य समीक्षको के अनुसार कथानक की अवस्था का विचार करे तो हमें कथा मे एक के बाद एक घटनाओं का उठना, उतार-चढ़ाव, चरम परिणति, निगति तथा शमन आदि छहो अवस्थाएँ दृष्टि-गोचर होती है। लेकिन चरितकाव्य मे कथा के इन तत्त्वों का निर्वाह नही मिलता।

अपभ्रंश के आलोच्यमान कथाकाव्यो में कथा की सब से बडी जो विशेषता दिखाई देती है वह यह कि नायक, प्रतिनायक या अन्य कोई पात्र कथा को संक्षेप मे दुहराते है। उदाहरण के लिए, भविष्यदत्त भविष्यानुरूपा को घर से चल कर वहाँ तक पहुँचने तथा भाई के छल-कपट की घटनाओं को सुनाता है। और जब घर वापस लौट

१. गर्भस्तु दृष्टनष्टस्य बीजस्यान्वेषणं मुहुः।
द्वादशाङ्गः पताका स्यान्न वा स्यात्प्राप्तिसभव॥ —दशरूपक, १, ३६।

२. पूर्णसन्धि तु तत्कार्यं हीनसन्ध्यपि वा पुनः।
नियमात्पञ्चसन्धि स्याद् हीनसन्ध्यथ कारणात्॥ —नाट्यशास्त्र, १९, १८।
रूपकगत चरित-रचना की पृथक् अभिधा ही 'प्रकरण' है। यथा—
विप्रवणिक्सचिवाना पुरोहितामात्यसार्थवाहानाम्।
चरित यत्रेकविधं ज्ञेयं तत्प्रकरण नाम॥ —वही, १८, ९९।

कर पहुँचता है तब माता को वापस आने तक की समस्त घटनाओं को कह सुनाता है। इसी प्रकार राजा के यहाँ राजसभा में फिर से सभी घटनाएँ दुहरायी जाती है। चरित-काव्य मे कथा का यह गुण नही मिलता। कई विद्वान् कथानक के दुहराने को कवि की असमर्थता कह कर दोषोद्भावना कर सकते है। क्योंकि संस्कृत के वाल्मीकि रामायण, रघुवंश आदि महाकाव्यो मे कवि अपनी कुशलता से कथा को दुहरा नही सके है। यह सच है कि महाकाव्य मे कथा की आवृत्ति दोषमूलक ही है। किन्तु कथा में वस्तु-विवरण के साथ ही स्थान-स्थान पर पात्रों के मुख से पूर्व घटनाओं का आकलन तथा वर्णन करना ही पडता है। प्रसंगत. उस में कई कथासूत्रों की भी योजना होती है। यदि कवि ऐसा न करे तो कथा कथा न रह कर घटना मात्र रह जायेगी। अतएव संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश तथा अन्य भारतीय भाषाओं की कथाओ में यह गुण विशेष रूप से देखा जाता है। उदाहरण के लिए, जिनदत्त जब राजा की कन्या से विवाह करने के लिए तैयार हो जाता है तब राजा उस का परिचय चाहता है। अब उस का परिचय, वहाँ आने का कारण चाहे जिनदत्त स्वयं बताये अथवा राजा से और कोई कहे, कहना तो पडेगा ही। इसी प्रकार जब उस की पत्नी सास-ससुर के सम्बन्ध में, ससुराल के सम्बन्ध मे जानकारी चाहे तब जिनदत्त को बताना ही पडेगा। अतएव कथा का यह दोष न हो कर गुण ही है। इसी प्रकार घर लौटने पर स्वजनो, माता-पिता से भी बाहर जाने-आने की कथा पूछने पर सुनानी ही पडेगी। और फिर, कथा में कहानी कहना ही मुख्य है। इस लिए किसी-किसी कथा मे अवान्तर कथाएँ भी ऐसी जुड जाती है जिन का आधिकारिक कथा से तनिक भी सम्बन्ध नहीं होता। जिनदत्त का सिंहलद्वीप में राजकुमारी को कथा सुनाना ऐसी ही घटना है। परन्तु कथा में—हम इन वस्तुओं को व्यर्थ नही मान सकते; क्योंकि कथा धार्मिक या लौकिक हो कर भी किसी न किसी अभिप्राय से कही जाती है। यह बात सभी कथा तथा कथाकाव्यों के सम्बन्ध में चरितार्थ होती है। इसी लिए हिन्दी में 'मधुमालती' एक कथाकाव्य है; किन्तु रामचरितमानस चरितकाव्य है। चरितकाव्य में जीवन की समूची घटनाओं का तथा नायक के चरित्र का विशेष रूप से वर्णन रहता है। तमिल भाषा का जीवकचिन्तामणि जीवन्धर स्वामी की पौराणिक कथा को ले कर जन्म से निर्वाण तक की सम्पूर्ण घटनाओं एवं जीवन-चरित्र का वर्णन करने वाला चरितकाव्य है।[1] यही दोनों में अन्तर है।

कथा और काव्य के भेद

संस्कृत मे कथा गद्यकाव्य के अन्तर्गत परिगणित की गयी है। क्योंकि संस्कृत भाषा में आख्यायिकाएँ और कथाएँ प्राय. गद्य में ही लिखी गयी है। किन्तु प्राकृत और अपभ्रंश मे पद्यबद्ध मिलती हैं। तरंगवती (पादलिप्ताचार्य), तरंगलोला, मही-

१ सी एस मल्लिनाथन् तमिल भाषा का जैन साहित्य पृ० ८ जयपुर १९५१

पालकथा (वीरदेवगणि), धनदत्तकथा (अमरचन्द्र), सदयवत्सकथा (हर्षवर्द्धनगणि), वत्सराजकथा तथा सर्वांगसुन्दरीकथा प्राकृत के प्रमुख कथाकाव्य हैं।

जैन आगम में कथा और विकथा के भेद से उन के कई भेदोपभेद मिलते है। आ० जिनसेन ने त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) की कथन करने वाली कथा कही है।[1] इस लिए सामान्यत धर्म, अर्थ और काम के भेद से तीन प्रकार की कथाएँ कही जाती है। ये तीनो प्रकार की कथाएँ वस्तुतः धर्ममूलक होती है। अतएव संयम मे बाधक वचन-पद्धति (अश्लील) विकथा कही गयी है।[2] धर्मकथा के चार भेद हैं – आक्षेपिणी, विक्षेपिणी, संवेदनी और निर्वेदिनी।[3] इसी प्रकार विकथा के भी चार भेद है – स्त्रीकथा, भोजनकथा, राजकथा और देशकथा।[4] धर्मकथा के चारों भेदों में से प्रत्येक के चार-चार उपभेदो का विवरण मिलता है।[5] इसी प्रकार विकथा के प्रत्येक भेद चार-चार उपभेदों में स्थानांगसूत्र के चतुर्थ अंग मे विभाजित दृष्टिगोचर होते है। वस्तुतः कथा-विकथाओ का यह भेद एकदम पौराणिक तथा रूढ है। क्योकि कथाओं के मूल मे धार्मिक भावनाएँ तथा सामाजिक अभिप्राय ही लक्षित होते है।

अग्निपुराण मे गद्यकाव्य के पाँच भेद कहे गये है[6] – आख्यायिका, कथा, खण्डकथा, परिकथा और कथानक। आ० रुद्रट ने प्रबन्ध काव्य के मुख्य दो भेद माने हैं – उत्पाद्य (कल्पित) और अनुत्पाद्य (पौराणिक या ऐतिहासिक)। आकार में बडे महाकाव्य, महाकथा आदि कहे जाते है तथा छोटे लघु काव्य, लघु कथा इत्यादि।[7] आ० आनन्दवर्द्धन ने बन्ध की दृष्टि से तथा वस्तु को ध्यान मे रख कर परिकथा, खण्डकथा, सकलकथा तथा आख्यायिका आदि भेदों का उल्लेख किया है।[8] लेकिन आ० हेमचन्द्र ने कथा के सब से अधिक भेदों की चर्चा की है। उन के मत में आख्यान, निदर्शन, प्रवल्हिका, मतल्लिका, मणिकुल्या, परिकथा, खण्डकथा और उपकथा ये नौ कथा के भेद है।[9]

---

१. पुरुषार्थोपयोगित्वात्त्रिवर्गकथनं कथा।
तत्रापि सत्कथां धर्म्यामामनन्ति मनीषिणः ।—महापुराण, प्रथम पर्व, ११८।

२. संयमबाधकत्वेन वचनपद्धतिर्विकथा।—स्थानांगसूत्र सटीक, पूर्वार्द्ध।

३. महापुराण, १, १३७। स्थानांगसूत्र में संवेदिनी और निर्वेदिनी के स्थान पर संवेगिनी और निर्वेगिनी नाम मिलते है। देखिए, वही, सटीक, ४, २, २८२।

४. समवायांगसूत्र, १, ४।

५. ज्ञानचन्द्र 'जैनागमों में कथा-साहित्य का वर्गीकरण' 'साहित्य' मासिक वर्ष १२, अंक २, पृ० ४७।

६ गद्यं पद्यं च मिश्रं च काव्यादि त्रिविधं स्मृतम्।
आख्यायिका कथा खण्डकथा परिकथा तथा।
कथानिकेति मन्यन्ते गद्यकाव्यं च पञ्चधा ॥—अग्निपुराण, ३३७,१२।

७ सन्ति द्विधा प्रबन्धाः काव्यकथाख्यायिकादयः काव्ये।
उत्पाद्यानुत्पाद्या महल्लघुत्वेन भूयोऽपि ॥—काव्यालंकार, १६, २।

८. पर्यायबन्ध परिकथा खण्डकथा सकलकथे सर्गबन्धोऽभिनेयार्थमाख्यायिकाकथे—इत्येवमादयः। तदाश्रयेणापि संघटना विशेषवती भवति।—ध्वन्यालोक, ३, ७।

९ हेमचन्द्र आठवाँ

मुख्यरूप से कथा या कथावस्तु दो प्रकार की होती है – उत्पाद्य और अनुत्पाद्य। उत्पाद्यकथा में कवि या लेखक की कल्पना तथा मौलिकता का प्राधान्य रहता है, किन्तु अनुत्पाद्य में पौराणिक या ऐतिहासिक कथा को ज्यों-का-त्यों अपना लिया जाता है। उत्पाद्य कथा भी दो रूपों में देखी जाती है – लोक कथा और दृष्टान्त कथा। प्रायः लोक कथाएँ मनगढन्त होती है। आ० हेमचन्द्र के अनुसार सकलकथा और खण्डकथा मे वस्तु का अन्तर विशेष है। सकलकथा ही चरितकाव्य है। सकलकथा तथा खण्डकथा मे कोई विरोध नही है[1] – शैली की दृष्टि से। कथाकाव्य में भी यही बात लक्षित होती है। अपभ्रंश में पद्यबद्ध सरस कथा से युक्त काव्य ही कथाकाव्य की संज्ञा से अभिहित है। प्राकृत की दीर्घ परम्परा में ही इन का विकास हुआ है। प० रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार प्रबन्धकाव्य में मानव-जीवन का पूर्ण दृश्य होता है[2] जो इन कथाकाव्यों में भलीभाँति प्राप्त होता है। उन में पद्मावत, रामचरितमानस आदि प्रबन्धकाव्यों की भाँति मर्मस्थल, संवाद, प्रकृति-वर्णन, घटनाओं मे सम्बद्धता और स्वाभाविक क्रम तथा रसात्मकता का सन्निवेश लक्षित होता है। इस लिए हम सरलता से उन्हें प्रबन्धकाव्य की कोटि का मान सकते है। शैली के अनुसार प्रबन्धकाव्य के कथाकाव्य, चरितकाव्य (पुराणकाव्य), प्रेमाख्यानक और ऐतिहासिक काव्य भेद माने जा सकते हैं। क्योंकि 'भविष्यदत्तकथा' जैसे लोकाख्यानक काव्यवस्तु रूप में चरित काव्य न हो कर शुद्ध कथाकाव्य हैं, जिन में वस्तुव्यंजना के साथ ही लोकजीवन की यथार्थ झलक मिलती है। यदि इन काव्यों में से धार्मिक तत्त्व अलग कर दिया जाय तो लोककथा मात्र रह जाती है। इन के लिखने का उद्देश्य भी चरित-कीर्तन न हो कर व्रत का माहात्म्य प्रदर्शित करना है, जो प्रत्येक धार्मिक कथा का अभिप्राय होता है। अपभ्रंश साहित्य में ऐसी कथाएँ पौराणिक न हो कर अनुश्रुतियों पर आधारित रही हैं। गौतम गणधर के संवाद के रूप में ये युग-युगों से प्रचलित परम्परा में कही-सुनी जाती रही है। संस्कृत के कवि विबुध श्रीधर ने इस ओर संकेत भी किया है।[3] फिर, त्रेसठशलाकापुरुषों के चरित लिखने की प्रथा विशेष रूप से जैन साहित्य में देखी जाती है। यद्यपि परवर्ती काल में धन्यकुमार, चारुदत्त, प्रद्युम्नकुमार आदि से सम्बन्धित चरित काव्य भी लिखे गये, किन्तु वस्तुव्यंजना के साथ ही उन मे पौराणिकता विशेष दिखाई देती है। उन में लोककथाओं का वह रस प्राप्त नहीं होता जो कथाकाव्यों मे व्याप्त है। इस के अतिरिक्त संघटना में भी अन्तर मिलता है। अतएव काव्यगत शैली तथा वस्तु के अभिनिवेश को ध्यान में रख कर कथाकाव्य और चरितकाव्य जैसे भेदों को मान लेने मे कोई अनौचित्य नहीं प्रतीत होता है। जन-जीवन की सामान्य घटनाओं का वर्णन

---

१. खण्डकथासकलकथयोस्तु प्राकृतप्रसिद्धयो: कुलकादिनिबन्धनभूयस्त्वाद्दीर्घसमासायामपि न विरोध।—ध्वन्यालोक, ३,७।

२. पं० रामचन्द्र शुक्ल : पद्मावत (जायसी-ग्रन्थावली) की भूमिका, पृ० ६६।

३ क्रमेण ज्ञाता जैन्य १६ ६२

करने वाली रचनाएँ भारतीय साहित्य की प्राचीन परम्परा में कम ही मिलती हैं इस लिए इन्हें विधा-विशेष में वर्गीकृत किया जाय तो उचित ही होगा। फिर, व्रतमूलक कथाओं को किसी न किसी नाम से अभिहित करना होगा। अतएव निरी उपदेशात्मक कथाओं से प्रबन्धात्मक कथाओं का पृथक् अभिधान 'कथाकाव्य' नाम से करना समीचीन होगा।

तृतीय अध्याय

भविसयत्तकहा : एक अध्ययन

परिचय

भविसयत्तकहा अपभ्रंश के प्रकाशित कथाकाव्यों में एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इस के रचयिता कवि धनपाल हैं। यह काव्य बाईस सन्धियों मे निबद्ध है।[1] इस में श्रुतपंचमी व्रत के फलवर्णन स्वरूप भविष्यदत्त की कथा का वर्णन है। इस लिए इसे श्रुतपंचमी कथा भी कहते है। इस का प्रकाशन सब से पहली बार एच० जेकोबी ने सन् १९१८ मे मचन (जर्मन) से कराया था। अपभ्रंश भाषा के प्रकाशित होने वाले काव्यों में यह सर्वप्रथम काव्य है। भारतवर्ष में इसे प्रकाशित करने का श्रेय सी० डी० दलाल और पी० डी० गुणे को है। पहली बार यह प्रबन्ध काव्य सन् १९२३ में गायकवाड़ ओरियण्टल सीरिज, बड़ौदा से प्रकाशित हुआ था। पहले भाषा की दृष्टि से इस का महत्त्व आँका जाता था, पर अब काव्य-कला, लोक-तत्त्व, देशी शब्द और भाषा आदि की दृष्टि से यह रचना और भी महत्त्वपूर्ण समझी जाती है। वस्तु और शैली में भी विशेषता दृष्टिगोचर होती है। इसी लिए इस रचना ने विद्वानों का ध्यान अपनी ओर अधिक आकृष्ट किया है।

यद्यपि कवि धनपाल के सम्बन्ध मे विशेष जानकारी अभी तक नही मिल सकी है, पर स्वयं ग्रन्थकार ने अपना जो परिचय दिया है वह संक्षिप्त होने पर भी महत्त्वपूर्ण है। कवि ने धक्कड नामक वैश्य वंश मे जन्म लिया था। पिता का नाम माएसर (मातेश्वर) और माता का नाम धनश्री था।[2] कहा जाता है कि उन्हे सरस्वती का वर प्राप्त था।[3] अन्य किसी रचना के लिखे जाने का उल्लेख इस काव्य-ग्रन्थ में नही मिलता। अतएव कवि के समय का निर्धारण करना बहुत ही कठिन प्रतीत होता है। अकेली इस रचना के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि कवि प्रतिभाशाली विद्वान् रहे होंगे और उन्होने अन्य रचनाएँ भी लिखी होंगी। किन्तु आज उन को खोज निकालना असम्भव सा प्रतीत होता है। क्योंकि धनपाल नाम के कई विद्वानों का पता लगता है। पं० परमानन्द शास्त्री ने धनपाल नाम के चार विद्वानों का परिचय दिया है।[4] ये चारों ही भिन्न-भिन्न काल के विभिन्न विद्वान् हैं। उन मे

---

१. विरइउ एउ चरिउ धणवालिं विहि खण्डहिं बावीसहि सन्धिहिं। २२,९।

२ धक्कडवणिवंसि माएसरहु समुब्भविण।
धण सिरिदेवि सुएण विरइउ सरसइ संभविण २२,८

३ चिन्तिय धणवालें वणिवरेण सरसइ बहुलद्ध महावरेण १ ४

से दो संस्कृत भाषा के विद्वान् तथा ग्रन्थ रचयिता थे और दो अपभ्रंश के। संस्कृत के पहले धनपाल राजा भोज के आश्रित थे, जिन्होंने 'तिलकमंजरी' और 'पाइयलच्छी' ग्रन्थों की रचना 'दसवीं शती' में की थी। दूसरे धनपाल तेरहवीं सदी के कवि हैं। उन के द्वारा लिखित 'तिलकमंजरीसार' नामक ग्रन्थ का ही अब तक पता लग पाया है। तीसरे धनपाल अपभ्रंश भाषा में लिखित 'बाहुबलिचरित' के रचयिता है, जिन का समय पन्द्रहवीं शताब्दी है। ये गुजराज के पुरवाड वंश के तिलक स्वरूप थे। इन की माता का नाम सुहडा देवी और पिता का नाम सेठ सुहडप्रभ था।[1] चौथे धनपाल आलोच्यमान प्रमुख कथाकाव्य के लेखक धक्कड़ वंश में उत्पन्न हुए थे। धर्मपरीक्षा के कर्त्ता कवि हरिषेण भी इसी वंश के थे। धर्मपरीक्षा का रचना-काल वि० सं० १०४४ है। महाकवि वीर कृत 'जम्बूस्वामी चरित' मे भी मालव देश में धक्कड़ वंश के तिलक महासूदन के पुत्र तक्खडु श्रेष्ठी का उल्लेख मिलता है।[2] देलवाड़ा के वि० सं० १२८७ के तेजपाल वाले शिलालेख में भी धर्कट जाति का उल्लेख है। इस से पता लगता है कि दसवी से तेरहवी शताब्दी तक यह वंश अत्यन्त प्रसिद्ध रहा है। अतएव 'भविसयत्तकहा' के लेखक धनपाल का होना इसी समय सम्भावित है।

काल-निर्णय

अत्यन्त आश्चर्य और खेद है कि दसवी सदी से ले कर सोलहवी शताब्दी तक के जिन कवियो की रचनाएँ प्रकाश मे आयी है, और जिन्होंने पूर्ववर्ती कवियों का उल्लेख किया है, उन में धनपाल का नाम नहीं मिलता। कारण जो भी हो, इस से यह अनुमानित है कि कवि की प्रसिद्धि लोक मे अधिक दिनों तक नहीं रही। भ० क० की उपलब्ध प्रतियों मे सब से प्राचीन संवत् १४८० की प्रति मिलती है, जो लेखक को आगरा के भण्डार से प्राप्त हुई है।[3] इसी प्रति में काव्य की, प्रशस्ति में इसे शास्त्र तथा विक्रम संवत् १३९३ में लिखा हुआ कहा गया है। उल्लिखित पंक्ति इस प्रकार है—

"सुसंवच्छरे अक्किरा विक्कमेणं अहीएहिं तेणवदितेरहसएणं।
वरिस्सेय पूसेण सेयम्मि पक्खे तिही बारसी सोमिरोहिणिहिंरिक्खे।
सुहज्जोइमयरंगओ वुड्ढ पत्तो इओ सुन्दरो सत्थु सुहदिणि समत्तो।"

अर्थात् सुसवत्सर बिक्रम तेरह सौ तेरानवे में पौष मास शुक्ल पक्ष बारस सोमवार रोहिणी नक्षत्र में यह सुन्दर शास्त्र शुभ घड़ी तथा शुभ दिन में लिख कर समाप्त हुआ।

---

१. गुज्जरपुरवाडवसतिलउ सिरि सुहडसेट्ठि गुणगणणिलउ।
तहो मणहर छायागेहणिय सुहडाएवी णामे भणिय।
तहो उवरि जाउ बहु विणयजुओ धणवालु वि सुउ णामेण हुओ।
तहो बिण्णि तणुब्भव विउलगुण संतोसु तह य हरिराउ पुण॥
—बाहुबलिचरित, अन्त्य प्रशस्ति, 'अनेकान्त' से उद्धृत

२. पं० परमानन्द जैन शास्त्री—'अपभ्रंश भाषा का जम्बूसामिचरिउ और वीर' अनेकान्त वर्ष १३, किरण ६, पृ० १५५।

३ वही- पृ० १५५

उक्त 'अक्किरा' शब्द अर्कराज (विक्रम) का वाचक है। अर्कराज का अर्थ विक्रमादित्य या विक्रमार्क है। अतएव विक्रम संवत् १३९३ पौष शुक्ल द्वादशी को यह कथाकाव्य लिख कर पूर्ण हुआ था। आधुनिक काल-गणना के अनुसार निर्दिष्ट तिथि १६ दिसम्बर, १३३६ ई० है। इस से स्पष्ट है कि काव्य का रचना-काल चौदहवीं शताब्दी है। अभी तक जिन विद्वानों ने 'भविसयत्तकहा' के रचनाकाल पर विचार किया है उन में डॉ० हर्मन जेकोबी का मत महत्त्वपूर्ण माना जाता है। उन्हों ने हरिभद्र-सूरि के 'नेमिनाहचरिउ' से 'भविसयत्तकहा' की भाषा की तुलना करते हुए यह अनुमान किया था कि धनपाल कम से कम दसवीं शती में रहे होंगे। उन के अनुसार हरिभद्रसूरि नवम शती के उत्तरार्द्ध के कवि हैं; किन्तु मुनि जिनविजय जी आ० हरिभद्रसूरि को आठवीं शताब्दी का मानते हैं। वस्तुतः दोनों की भाषा-शैली में बहुत अन्तर है। श्री दलाल और गुणे के अनुसार आलोच्यमान कथाकाव्य की भाषा आ० हेमचन्द्र के व्याकरण में प्रयुक्त भाषा की अपेक्षा अधिक प्राचीन है। धनपाल के समय में अपभ्रंश बोली जाती रही होगी; जब कि हेमचन्द्र के समय में वह मृतभाषा हो गयी थी।[1] यदि हम 'भविसयत्तकहा' का प्रारम्भिक भाग यह मान कर विचारणीय न मानें कि पूर्ववर्ती प्रबन्धकाव्य की परम्परा में इस कथाकाव्य की भी रचना हुई और इसी लिए महाकवि स्वयम्भू के 'पउमचरिउ' तथा प्रस्तुत काव्य की साहित्यिक रूढ़ियों में समानता मिलती है, तो उचित ही है। किन्तु काव्य के सम्पूर्ण रूप को ध्यान से देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि धनपाल ने 'पउमचरिउ' को आदर्श मान कर कुछ बातें प्रभाव रूप में और कुछ ज्यों-की-त्यों अपने काव्य में अपना लीं। उदाहरण के लिए—जैसे केतुमती पुत्र के वियोग में 'हा पुत्त पुत्त' कह कर विलाप करती है, वैसे ही कमलश्री भविष्यदत्त के शोक में 'हा हा पुत्त पुत्त' कहती हुई करुण विलाप करती है। डॉ० भायाणी ने शब्द, भाषा और भाव-साम्य की दृष्टि से दोनों के कुछ अंशों को तुलना करते हुए लिखा है कि धनपाल के सामने प्रारम्भिक कड़वकों को लिखते समय स्वयम्भू का 'पउमचरिउ' विद्यमान रहा होगा।[2] रचना-प्रकार की दृष्टि से उन का यह कथन उचित ही है। इस से यह अत्यन्त स्पष्ट है कि धनपाल स्वयम्भू के पश्चात् हुए। और कुछ समय बाद नहीं शताब्दियों के अन्तराल से हुए। वस्तुतः कथानक और वर्णन की दृष्टि से प्रस्तुत काव्य पर विबुध श्रीधर के 'भविष्यदत्तचरित्र' का अत्यन्त प्रभाव है, जो बारहवीं शताब्दी की रचना है। अतएव धनपाल का चौदहवीं शताब्दी में विद्यमान होना उचित जान पड़ता है।

ऐतिहासिक तथ्य

ग्रन्थ में वर्णित युद्ध-वर्णन से ज्ञात होता है कि कवि का युग अशान्तिपूर्ण था

---

१ स० सी० डी० दलाल और पी० डी० गुणे की १९२३ परिचय, पृ० ४४
२. स० डॉ० हरिवल्लभ चुनीलाल भायाणी पउमचरिउ १९५३ परिचय पृ० ३६-३७।

और स्वय उस ने युद्ध का सजीव दृश्य आँखो से देखा था या किसी योद्धा से सुना था। परिशिष्ट मे लिखित प्रशस्ति से विदित है कि यह काव्य दिल्ली नगर से पूर्व दिशा में साठ कोस की दूरी पर स्थित रम्मु[१] (रामनगर) नगर में बसने वाले—अग्रवाल वंश में उत्पन्न रतनपाल के पोते के पुत्र यानी पन्तो बाधू के लिए लिखा गया था। रतनपाल के चार पुत्र थे। बड़ा पुत्र दुर्लभ अत्यन्त गुणी था। उस के हिमपाल, देवपाल, और लुदपाल नाम के तीन पुत्र हुए। धर्मात्मा हिमपाल दिल्ली में रहता था। उस के बाधू नाम का पुत्र हुआ। इसी बीच लोग अकाल से वैभव और सम्पत्तिहीन हो गये। सभी हाथ मलने लगे। चारों ही विषादमग्न हो गये। लोगों ने अपना धर्म छोड़ दिया। अपने निवास-स्थान को त्याग कर लोग अत्यन्त दुर्गम दूर देश मे पहुँच गये। प्रचण्ड मुहम्मदशाह उस समय शासन कर रहा था। सागरप्रमाण उस का राज्य था। शत्रुओं का मान मर्दन कर तथा लोगों का उपकार करते हुए उस ने एकछत्र राज्य किया। विप्लव काल के प्रवृत्त होने पर बाधू जफ़राबाद[२] (दफरायबाद) पहुँचा और उस के लिए यह शास्त्र लिखा गया[३]। इतिहास के आलोक मे हमे जो तथ्य प्राप्त होते है वे इस प्रकार है—

कवि ने उस समय दिल्ली के सिंहासन पर मुहम्मदशाह का शासन करना लिखा है। इतिहास मे राजा का नाम मुहम्मद बिन तुगलक मिलता है। किन्तु उस के अन्य नामो मे मुहम्मद तुगलक और मुहम्मद शाह का भी उल्लेख मिलता है।[४] मुहम्मद बिन तुगलक का शासन-काल १३२५-५१ ई० माना जाता है। आलोच्यमान रचना का काल १६ दिसम्बर १३३६ ई० है। अतएव इतिहास से उस का पूरा मेल बैठता है। पुष्पिका मे जिस विद्रोह का संकेत है वह दिल्ली सल्तनत से सम्बन्धित था, जो लगभग १३३५ ई० के लगभग हुआ था। इसी प्रकार अकाल का भी उल्लेख मिलता है। सन् १३३५ ई० मे सुल्तान मुहम्मद शाह मदुरा के लिए कूच करता है पर वारगल से ही वह लौट आता है। जब सुल्तान दिल्ली—वापस लौट कर आता है तब देखता है कि चारो ओर अकाल पड़ रहा है। सहस्रो मनुष्य और पशु मर गये। इसलिए वह अपनी राजधानी दिल्ली से हटा कर गंगा के पास शमसाबाद मे ले गया।[५] इस से अकाल की

---

१. इत्थतरि अइ रम्मणिउ रम्मु, णामेण णयरु आसी–पवण्णु। अंतिम प्रशस्ति।

२ इतिहास में भी जफराबाद का उल्लेख मिलता है। प्रशस्ति मे निर्दिष्ट बाधू के जफराबाद में पहुँचने मे यही प्रतीत होता है कि कवि धनपाल जौनपुर के निकट—(लगभग चौदह-पन्द्रह मील दूर) जफराबाद में रहते थे। सन् १३७१ में फीरोजशाह भी बंगाल की युद्ध-यात्रा के समय मार्ग में जफराबाद में ठहरा था। वही, पृ० १८६।

३ मुहमद्दसाहो विराओ पयंडो — लिओ तेण सायरपमाणेहि दण्डो।
उसयिकट्टिठ णिद्दलिवि मलिऔवि माणो — किओ रज्जु इकच्छत्ति उवगंतमाणो।
पयट्टे विड्ढम्मिम कालि रउद्दे — पहुत्तौ सुवद्दधूउ दफरायवादे।
इह्ल परत्ते सुहायारहेउ — तिणे लिहिय सुअपंचमी णियहं हेउ। वही।

४. आर० सी० मजूमदार 'द दिल्ली सल्तनत, भारतीय विद्याभवन, प्रथम संस्करण, पृ० ६१।

५. वही, पृ० ७७।

भयंकरता का पता लगता है, जिस से यह स्वाभाविक ही था कि हिमपाल जैसे साहूकार भी दरिद्र हो गये थे। मुहम्मदशाह अत्यन्त प्रतापी राजा था। उस ने अपने जीवन में कई युद्ध किये। उस का शासन बहुत विस्तृत था। वह हिमालय से ले कर दक्षिण भारत तक का शासन-सूत्र सम्हालता था। सन् १३२८ ई० तक मुहम्मद तुगलक दक्षिण में इण्डियन पेनिनसुला तक सीमा स्थापित करने में सफल हो गया था।[1] समय-समय पर गुजरात और दक्षिण भारत के बलवों को भी उस ने दबाया। उस ने दिल्ली सल्तनत का बहुत बड़ी सीमा तक विस्तृत कर शासन स्थापित कर लिया था, किन्तु मृत्यु के पूर्व ही विन्ध्य के दक्षिण का भाग उस के अधिकार से निकल गया था।[2] कहा जाता है कि मुहम्मदशाह अपने युग का सुशिक्षित और विद्वान् बादशाह था। वह कई विषयों का जानकार था।[3] उस की प्रसिद्धि का यह भी एक कारण था कि उस के राज्याश्रय में विद्वानों का सम्मान था। सन् १३२८ ई० में आचार्य जिनप्रभसूरि का मुहम्मदशाह को धर्म-श्रवण कराना एक महत्वपूर्ण घटना मानी जाती है। वह सभी धर्मों के साधु-सन्तों और फ़क़ीरों का आदर करता था। सम्भवतः इसी लिए मुसलमान उसे काफिर कहते हैं।[4] इस प्रकार ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर कवि धनपाल का चौदहवीं शताब्दी में भविष्यदत्तकथा की रचना करना सुनिश्चित प्रतीत होता है।

धनपाल का सम्प्रदाय

धनपाल जैनधर्म के दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुयायी थे। अतएव यह स्वाभाविक ही था कि कवि अपनी रचना में अपनी मान्यता के अनुसार वर्णन करता। भविसयत्तकहा के 'जेण भंजिवि दियम्बरि लायउ' के अतिरिक्त कतिपय वर्णनों तथा सैद्धान्तिक विवेचन के अनुसार भी उन का दिगम्बरमतानुयायी होना निर्विवाद सिद्ध होता है। कवि ने अष्टमूलगुणों का वर्णन करते हुए कहा है कि मधु, मद्य, मांस और पाँच उदुम्बर फलों को किसी भी जन्म में नहीं खाना चाहिए।[5] कवि का यह कथन भावसंग्रह के कर्त्ता देवसेन के अनुसार है।[6] आ० सोमदेवसूरि तथा पं० आशाधर की भी यही मान्यता है।[7] आ० अमृतचन्द्र ने भी अहिंसाव्रत के अन्तर्गत इन्हीं आठ वस्तुओं का त्याग

---

१. वही, पृ० ७७।
२ वही, पृ० ८०।
३ वही, पृ० ८१।
४. वही, पृ० ८६।
५. महु मज्जु मसु पंचुंबराइं खज्जंति ण जम्मंतर सयाइं। (१६, ८)
६ महुमज्जमंसविरई चाओ पुण उंबराण पंचण्ह।
अट्ठेदे मूलगुणा हवंति फुडु देसविरयम्मि। भावसंग्रह, गाथा ३५६।
७ मद्यमांसमधुत्यागैः सहोदुम्बरपञ्चकैः।
अष्टावेते गृहस्थानामुक्ता मूलगुणाः श्रुतौ॥ उपासकाध्ययन, कल्प २१, श्लोक २७०।
एतानी अदघत्अनीमाश्रा हिंसामपासितम्
मद्य पप्प च सागारधर्मामृत २ २

आवश्यक बताया है।[१] रत्नकरण्डश्रावकाचार तथा अन्य ग्रन्थों में यह उल्लेख किंचित् भिन्न मिलता है।[२] यह उल्लेख आचार्य कुन्दकुन्द की मान्यता के अनुसार है। कवि का सल्लेखना का चतुर्थ शिक्षाव्रत के रूप मे वर्णन करना इसी मान्यता का द्योतक है।[३] इसी प्रकार सोलह स्वर्गों का वर्णन भी दिगम्बर-परम्परा के अनुसार है।[४] क्योंकि श्वेताम्बर-परम्परा में चौदह स्वर्गों का ही उल्लेख मिलता है। इन सैद्धान्तिक मान्यताओं का उल्लेख होने से स्पष्ट हो जाता है कि धनपाल दिगम्बर सम्प्रदाय के थे। यह भी ध्यान देने योग्य है कि कवि ने अपभ्रंश के कवि विबुध श्रीधर से भी बहुत कुछ ग्रहण किया था। क्योंकि आ० जिनसेन तथा समन्तभद्र ने अष्टमूलगुणों मे तीन मकारों और पाँच अणुव्रतो को गिनाया है। परन्तु विबुध श्रीधर ने मद्य, माँस, मधु और पाँच उदुम्बरफलों के त्याग को आठ मूलगुण कहा है।[५]

कथावस्तु

भरतक्षेत्र के कुरुजांगल (वर्तमान रोहतक हिसार) नामक प्रदेश मे गजपुर (हस्तिनापुर)[६] नाम का एक सुन्दर तथा अत्यन्त समृद्ध नगर था, जिस में भूपाल नामक राजा राज्य करता था। उसी नगर में धनवइ (धनपति) नाम का नगरसेठ रहता था, जो अपने गुणों के कारण प्रसिद्ध था। उस का विवाह नगर के धनी-मानी हरिबल नाम के सेठ की पुत्री कमलश्री से हुआ था जो अत्यन्त रूपवती और गुणवती थी। बहुत समय तक उन दोनों के कोई सन्तान न होने से कमलश्री विशेष रूप से चिन्तित रहने लगी और एक दिन मुनिवर के पास जाकर उस ने निवेदन किया—भगवन्! मैं इस प्रकार कब तक दुःख भोगती रहूँगी? उन्होंने उत्तर में कहा—तुम्हारे नय, विनय, पराक्रम और गुणो से युक्त चिरंजीवी पुत्र होगा। कुछ दिनों के पश्चात् भविष्यदत्त उत्पन्न हुआ। महीने भर बाद कमलश्री वस्त्राभूषणों से सज्जित पुत्र को गोद में लिये हुए जिनवर की पूजा सुनने तथा दर्शन करने के लिए जिनमन्दिर गयी। सभी लोगों ने बड़ा उत्सव मनाया।

इधर भविष्यदत्त पढ़-लिख कर विविध कलाओं मे पारंगत होता है और

---

१. मद्यं मांस क्षौद्रं पञ्चोदुम्बरफलानि यत्नेन।
हिंसाव्युपरतिकामैर्मोक्तव्यानि प्रथममेव ॥ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, ३, ६१।

२. मद्यमांसमधुत्यागैः सहाणुव्रतपञ्चकम्।
अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमाः ॥ रत्नकरण्डश्रावकाचार ४, ६६।

३. चउथउ पुणु सल्लेहण भावइ सो परलोइ सुरत्तणु पावइ।
अहो इह परलोयहो परमसिक्ख इय बारहविह सावयह दिक्ख। (१६, १२)

४. अप्पुणु पुणु तवचरण चरेप्पिणु अणसणि पंडियमरणि मरेप्पिणु।
दिवि सोलहमइ पुण्णायामि हुउ सुरवइ विज्जुप्पहु णामि। (२०, ६)

५ मज्जु मंसु महु णउ भक्खिज्जइ पंचुंबरफल णियरु मुइज्जइ।
अट्ठमूलगुण ए पालिज्जहि सहुं संधाण एहिं ण गसिज्जहिं ॥—भविसयत्तचरिय, ५, २८।

६ विविधतीर्थकल्प पृ० २७ [illegible]।

उधर कमलश्री के वात्सल्य, प्रियवचन और कोमलता आदि गुणों से खीझ कर पूर्व जन्म के अनिष्ट के कारण सेठ धनवइ का मन कमलश्री की ओर से फिर जाता है। कमलश्री पति के रूखे व्यवहार को देख कर क्षमा मांगती है और सब कुछ करने के लिए कहती है, पर इस से वह और भी उपेक्षा भाव प्रकट कर कहता है कि मैं तुम्हें आधे क्षण भी नहीं देख सकता हूँ। पति के व्यवहार से खेद-खिन्न हो कमलश्री माता के घर चली जाती है, और माँ के गले लग कर बहुत रोती है। इतने में ही धनपति (धनवइ) का भेजा हुआ चतुर व्यक्ति हरिबल के पास पहुँचता है और कहता है कि कमलश्री कुल की आन-बान का पालन करने वाली पतिव्रता नारी है इस लिए उसे अपने घर में शरण दे दो। उस के प्रिय गुणों से धनवइ का मन फिर गया है। धनवइ का दूसरा विवाह सेठ धनदत्त की कन्या सरूपा के साथ बहुत धूम-धाम से होता है। नगर के सभी लोग उछाह मनाते हैं। राजा भी विवाह में सम्मिलित होता है। हरिदत्त (हरिबल) और परिजनों को कमलश्री पर सन्देह होने लगता है किन्तु वह पवित्रता के साथ धार्मिक जीवन बिताती है। सरूपा सुन्दरी होने के साथ ही अभिमानवती भी थी। वह ललित-कलाओं में निपुण थी। कुछ समय के बाद उस के बन्धुदत्त नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। बड़ा होने पर बन्धुदत्त बहुत उत्पात मचाने लगा। जब पूरा नगर बन्धुदत्त से तंग आ गया तब सब सेठों ने मिल कर विचार किया कि यह युवतियों के साथ बहुत छेड़खानी करता है इस लिए बन्धुजनों के साथ कंचनपुर चलने के लिए उसे तैयार कर भेज देना चाहिए। मन्त्रीजन व्यवसाय के निमित्त बन्धुदत्त को भेजने में सहमत हो गये। बन्धुदत्त के साथ पाँच सौ वणिक् भी चलने को तैयार हो गये। बन्धुदत्त को साथियों के साथ कंचनद्वीप जाते देख कर भविष्यदत्त भी माता के बार-बार रोके जाने पर भी उन सब के साथ हो लिया। जब सरूपा को पता चलता है कि भविष्यदत्त भी साथ में जा रहा है तो वह बन्धुदत्त को भलीभाँति सिखा-बुझा कर कहती है कि किसी भी प्रकार भविष्यदत्त को समुद्र में छोड़ देना, जिस से बन्धु-बान्धवों से उस का समागम न हो सके। किन्तु भविष्यदत्त को माता उसे उपदेश देती हुई 'पराया धन तथा स्त्री को न छूने की' शिक्षा देती है। पाँच सौ वणिक् जनों के साथ दोनों भाई जहाज में बैठ कर सम्मान के साथ चल पड़े। कई द्वीपान्तरों को पार कर उन का पोत मदनाग द्वीप के समुद्री तट पर जा लगा। प्रमुख लोग उतर कर मदनाग पर्वत की शोभा निरखने लगे, जो सामने ही दुर्गम और दुर्लंघ्य स्थित था। बन्धुदत्त भविष्यदत्त को वहाँ के भयावने वन में फूल चुनता हुआ छोड़ कर पोत में सवार हो कर सब के साथ आगे की ओर चल पड़ता है। जब भविष्यदत्त जहाज को जाता हुआ देखता है तब वह हाथ मलता है और सिर धुनने लगता है। चिन्ताओं में डूबता-उतराता हुआ भविष्यदत्त जंगली जानवरों से व्याप्त उस वन में प्रवेश करता है। दिन भर के घूमने फिरने से थक कर वह एक स्वच्छ बड़ी शिला को देख कर उस पर बैठ जाता -और हाथ-पैर धो कर पुष्पों से जिनदेव की अर्चना करता है फिर वृक्षों से फलों के

तोड़ कर भोजन करता है। इतने में ही सन्ध्या हो जाती है। चारों ओर घना अन्धकार फैल जाता है। भविष्यदत्त परमात्मा का ध्यान करता हुआ वहीं स्थित रहता है। सवेरा होने पर जिनदेव का स्मरण करता हुआ फिर वन में भटक जाता है। अन्त मे उसे कुछ-कुछ रास्ता दिखाई देता है और गुफा मे से हो कर वह एक उजाड़ नगर मे पहुँच जाता है। तिलकद्वीप की उस कंचननगरी को देख कर भविष्यदत्त आश्चर्यविमुग्ध हो जाता है। घूमता-फिरता वह चन्द्रप्रभ के जिनमन्दिर मे पहुँचता है। अत्यन्त भक्ति के साथ वह चन्द्रप्रभ जिनेन्द्र की विधिपूर्वक कई घंटों तक पूजा करता है।

इसी बीच पूर्व विदेह क्षेत्र मे यशोधर नाम के मुनि से अच्युत स्वर्ग का देवेन्द्र अपने पूर्व जन्म के मित्र धनमित्र के सम्बन्ध मे पूछता है कि वह किस गति को प्राप्त हुआ है। शुक्लध्यान के धारक मुनिराज भविष्यदत्त का पूरा वृत्तान्त सुनाते है और कहते है कि तुम्हारा वह मित्र इस समय तिकलद्वीप के महान् पुर मे चन्द्रप्रभ के जिन-भवन में आसनपट्ट पर बैठा हुआ है। उस नगर की सुन्दरी से उस का पाणिग्रहण होगा तथा दोनो सुखोपभोग करेंगे। मुनि के इन वचनो को सुन कर सुरपति उस नगर मे गया। उस मन्दिर की परिक्रमा कर मित्र को सुख से सोता हुआ देख कर भीत पर अक्षर-पंक्तियों को लिख कर तथा मानभद्र नामक यक्षेश्वर से अपने मित्र का ध्यान रखने के लिए कह कर वह अपने स्थान को लौट गया। भविष्यदत्त जब सो कर उठता है तब कौतुक से वह भीत पर लिखे हुए वाक्यो को पढता है कि मन्दिर से पूर्व दिशा मे पाँचवें घर मे सुन्दर कुमारी है, जो तुम्हारी स्त्री है और यह पूरा नगर तुम्हारा है इसलिए उठो, वहाँ जाओ, देर मत करो। भविष्यदत्त स्वप्न देखता हुआ-सा वहाँ से निकला और पाँचवे घर पर जा पहुँचा। सुन्दरी से वह नगरी के उजड़ने का कारण तथा राजा के सम्बन्ध मे पूछता है। वह भलीभाँति अतिथि का सम्मान कर भोजन-पान करा कर कहती है कि इस तिलकपुर का राजा यशोधन था। मेरे पिता भवदत्त नगरसेठ थे। माता का नाम मदनवेगा था। उस की बडी बेटी का नाम नागश्री था और मै छोटी भविष्यानुरूपा हूँ। रोती हुई वह कहती है कि यहाँ पर एक बलवान् असुर आया है, जिस ने पूरा नगर उजाड़ दिया है। न जाने क्यो उस दुष्ट पापी ने मुझे छोड दिया है। कदाचित् तुम्हे भी वह कष्ट न दे। भविष्यदत्त भी अपनी सकट-कथा कह सुनाता है। इतने में ही वह दैत्य आ पहुँचता है। भविष्यदत्त उस से तनिक भी नही डरता और उस का सामना करने के लिए तैयार हो जाता है। उस के अदम्य तथा अपूर्व साहस को देख कर असुर प्रसन्न हो जाता है। वह कहता है कि मैं पूर्व जन्म में कौशिक (कोसिउ) नाम की नगरी मे तापस था। वहाँ के मन्त्री वज्रोदर (वज्जोयर) ने मेरा अपमान किया था जिस मे मन में बैर बाँध कर मैं असुर हुआ और वह मन्त्री इस तिलकद्वीप का राजा हुआ। इस लिए राजा से बैर होने के कारण मै ने सपरिवार नागरिक जनों के साथ उस का संहार कर दिया है। वह असुर सविधि भविष्यदत्त और भविष्यानुरूपा का विवाह कर वापस चला जाता है। इधर भविष्यदत्त दाम्पत्य

जीवन सुख से बिताता है और उधर कमलश्री के मन में पुत्र के न आने की चिन्ता व्याप्त हो जाती है।

एक दिन कमलश्री सुव्रता नाम की अर्जिका के पास जा कर कहती है कि मेरे ऊपर न जाने किस अशुभ कर्म का कोप है कि मैं पुत्र के सुख से वियुक्त हो गयी हूँ। साध्वी उसे श्रुतपंचमी व्रत के पालन का उपदेश देती हुई कहती है कि असाढ सुदी पंचमी को प्रथम बार इस व्रत को ग्रहण कर नन्दीश्वर के पर्व-दिनों में पालना चाहिए। इस की विधि यह है कि कातिक, फागुन या असाढ की पहली शुक्ल पंचमी को व्रत का प्रारम्भ कर पाँच वर्ष और पाँच महीनों तक पंचमी के दिन उपवास और छट्ठी के दिन एक बार भोजन करना चाहिए। तथा इन दिनों में विषय-कषायों से दूर रह कर धर्म-ध्यान में समय बिताना चाहिए। कुल मिला कर सरसठ उपवास करना चाहिए। तदनन्तर उद्यापन विधि से यह व्रत समाप्त होता है। इस दीर्घ तप से क्या मेरा पुत्र मुझ से आ कर मिलेगा ? कमलश्री के यह पूछने पर वह मुनिराज के पास उसे ले जाती है। मुनिवर उस से कहते हैं कि तुम्हारा पुत्र अभी जीवित है। वह द्वीपान्तर में सुख भोग रहा है। यहाँ आ कर वह आधा राज्य प्राप्त करेगा और शासन करेगा। इन वचनों से कमलश्री समाश्वस्त हो जाती है। इस बीच भविष्यदत्त को तिलकपुर में बारह वर्ष बीत जाते हैं। एक दिन भविष्यानुरूपा ससुराल के सम्बन्ध में पूछती है। भविष्यदत्त को माता के दुःखों का स्मरण हो आता है और वे दोनों गजपुर को प्रस्थान करते हैं। बहुत-सा धन, मणि, रत्न आदि ले कर वे उसी गुफा में से हो कर समुद्र तट पर पहुँचते हैं। कुछ दिनों में बन्धुदत्त का जहाज भी उसी तट पर आ लगता है। बन्धुदत्त अपने किये की क्षमा माँगता है। भविष्यदत्त सब का यथोचित सम्मान कर भोजन-पान कराता है। फिर सभी जहाज पर बैठ कर चलने की सोचते ही हैं कि भविष्यानुरूपा को नागमुद्रिका का स्मरण हो आता है। भविष्यदत्त इधर नागमुंदरी लेने जाता है और उधर बन्धुदत्त जहाज चलवा देता है। भविष्यदत्त फिर अकेला उस द्वीप में रह जाता है।

बन्धुदत्त भविष्यानुरूपा के समक्ष अपनी वासनात्मक भावना प्रकट करता है। भविष्यानुरूपा अपने शील पर दृढ हो कर परमार्थ का उपदेश देती है। देवता स्वप्न देता है—सुन्दरि, चिन्ता मत करो। एक मास में प्रिय मिलेगा। जहाज डगमगाता है। भविष्यानुरूपा से जो सब प्रार्थना करते हैं तब तूफान शान्त होता है। बन्धुदत्त को नगर में आया हुआ जान कर कमलश्री सब से भविष्यदत्त के सम्बन्ध में पूछती है पर कोई भी ठीक से नहीं बताता है। तब वह दौड़ी-दौड़ी मुनिराज के पास जाती है। वे कहते हैं कि तीस दिन में तुम्हारा पुत्र आ जायगा।

भविष्यदत्त फिर तिलकद्वीप पहुँचता है। वहाँ से मानभद्र की सहायता से विमान में बैठ कर अपने घर वापस आता है। कमलश्री फूली नहीं समाती है। वह माता को तिलकपुर का पूरा वृत्तान्त सुना देता है। माता से यह जान कर कि भविष्या

नुरूपा का तैल चढ़ने वाला है वह राजा के पास जाता है और कई प्रकार के रत्न, मणि आदि उपहार मे देता है। वह माता को नागमुद्रिका दे कर उसे भविष्यानुरूपा के पास भेजता है। भविष्यदत्त राजा को सब वृत्त सुनाता है। परिजनों के साथ वह राजसभा मे जाता है और बन्धुदत्त के विवाह पर आपत्ति प्रकट करता है। राजा धनवइ को बुलाता है। बन्धुदत्त का रहस्य खुलने पर राजा क्रोध से जल उठता है। धनवइ और बन्धुदत्त को कारावास का दण्ड दिया जाता है। किन्तु भविष्यदत्त कहता है कि जनता की माँग पर धनवइ को छोड दीजिए। राजा धनवइ को मुक्त कर देता है। नगर के प्रमुखजन तथा सेठ लोग राजा से निवेदन करते है कि बन्धुदत्त को देश निकाला दे दिया जाय। परन्तु भविष्यदत्त विरोध करता है। वह राजा से अपनी पत्नी की परीक्षा के लिए विनय करता है। राजा जयलक्ष्मी और चन्द्रलेखा नाम की दो दासियों को भेजता है। वे जा कर भविष्यानुरूपा से कहती है कि राजा ने भविष्यदत्त को देश निकाले का आदेश दिया है और बन्धुदत्त को सम्मान प्रदान किया है इस लिए अब तुम बन्धुदत्त के साथ रहो। किन्तु वह भविष्यदत्त मे अपनी अनुरक्ति प्रकट करती है। धनवइ नव दम्पति को ले कर घर आता है। कमलश्री व्रत का उद्यापन करती है। पूरे जैनसंघ को जेवनार दी जाती है। वह पिता के घर जाने को तैयार होती है, पर कंचनमाला दासी के कहने से सेठ कमलश्री से क्षमा माँगता है। एक दिन राजा सपरिवार भविष्यदत्त को बुलाता है। वह धनवइ से सुमित्रा के विवाह का प्रस्ताव भविष्यदत्त के साथ रखता है। कुछ समय के बाद पांचाल नरेश चित्रांग का दूत भूपाल नरेश के पास आता है और कर तथा अपनी कन्या (सुमित्रा) को देने का प्रस्ताव रखता है। राजा बड़े असमजस में पड़ जाता है। भविष्यदत्त युद्ध के लिए तैयार होता है। भविष्यानुरूपा युद्ध के लिए भविष्यदत्त का शृंगार करती है। साहस तथा धैर्य का परिचय देता हुआ वह पांचाल नरेश को बन्दी बना लेता है। राजा सुमित्रा के साथ ही अपना राज्य भी भविष्यदत्त को सौंप देता है।

कुछ समय बाद भविष्यानुरूपा के दोहला होता है। वह तिलकद्वीप जाने की इच्छा व्यक्त करती है। इसी समय विजयार्द्ध पर्वत पर रहने वाला मनोवेग नाम का विद्याधर मुनिवर के वचनो के आदेश से वहाँ आ पहुँचता है और हरिदत्त के साथ सपरिवार भविष्यदत्त को विमान में बैठा कर तिलकद्वीप पहुँचा देता है। वहाँ अत्यन्त उछाह से सब चन्द्रप्रभ जिनदेव का पूजन करते है। वहीं चारण मुनि के दर्शन कर श्रावक धर्म को भलीभाँति सुनते और समझते है। तदनन्तर मनोवेग के मित्र होने की पूर्व भव की कथा पूछते और सुनते है। फिर सभी लौट कर गजपुर आ जाते हैं। मनोवेग अपने घर जाता है। भविष्यदत्त को राज्य करते हुए बहुत समय बीत जाता है। भविष्यानुरूपा के चार पुत्र उत्पन्न होते है—सुप्रभ, कनकप्रभ, सूर्यप्रभ और सोमप्रभ। तथा तार (तारा) और—सुतार (सुतारा) नाम की दो पुत्रियाँ हुई। सुमित्रा से भी धरणेन्द्र नाम का एक पुत्र और तारा नाम की पुत्री हुई

बहुत समय के बाद गजपुर में विमलबुद्धि नाम के महामुनि आते हैं। भविष्यदत्त सपरिवार उन की वन्दना के लिए गया। राजा अपने पूर्व भवान्तर मुनिराज से सुन कर विरक्त हो जाता है। उस के साथ धनवइ, हरिदत्त और रानी प्रियसुन्दरी आदि दीक्षा ग्रहण करते हैं। उन सब को दीक्षित देख कर अन्य सेठ लोग भी दीक्षा लेते हैं। पीछे से भविष्यदत्त जिन-पूजन-उत्सव समारोह के पश्चात् केशलोच कर पाँच महाव्रतों को धारण कर मुनि हो जाता है। सुप्रभ को राजगद्दी मिलती है। नागरिक जन और कमलश्री, लच्छी, सुमित्रा, भविष्यानुरूपा आदि शोक में विह्वल हो आँसू बहाते हैं। भविष्यदत्त चिरकाल तक महा तप कर वैमानिक जाति का देव उत्पन्न होता है। अन्त में वह चौथे भव में शिवलोक मे गमन करता है।

चरित्रचित्रण

मनुष्य जीवन मे चरित्र का अत्यन्त महत्त्व है। प्रबन्ध काव्यों मे विशेष रूप से चरित्र-चित्रण की सृष्टि होती है। घटनाओ की भाँति भावो मे संघर्ष और जीवन पर उन का प्रभाव स्पष्ट रूप से अपभ्रंश के कथाकाव्यो में दिखाई देता है। यद्यपि भविष्यदत्त सामान्य व्यक्ति है पर विनय, शालीनता और उदात्त गुणो से संयुक्त होने के कारण वह धीरोदात्त नायक की भाँति चित्रित किया गया है। वह धीर, वीर ही नही साहसी और क्षमाशील भी है। पिता की अनीति से भलीभाँति परिचित होने पर भी राजा के द्वारा बन्दी बनाये जाने पर वह विरोध करता है और राजा मे कह कर पिता को मुक्त कराता है। यहाँ उस की महत्ता का पता चलता है। भविष्यदत्त न तो किसी पर अन्याय करता हुआ दिखाया गया है और न किसी अन्याय को वह सहन ही करता है। अतएव सिन्धुनरेश के अन्यायपूर्ण प्रस्ताव से असहमत हो कर वह सब से आगे बढ़ कर युद्ध लड़ता है और निर्भीकता के साथ अपनी वीरता का परिचय देता है। सामान्य वणिक्पुत्र हो कर भी भविष्यदत्त राजोचित प्रवृत्तियों एवं गुणो को प्रदर्शित कर अन्त मे राजा बनता है और सफलता से राज्य-शासन करता है। लेखक ने जहाँ दैवी संयोग, आकस्मिकता और आश्चर्यजनक वृत्तों की संयोजना धार्मिक प्रभाव स्पष्ट करने के हेतु की है, वही नायक के चारित्रिक गुणों पर भी प्रकाश डाला है। 'भविसयत्तकहा' में मुख्य रूप से विरोधी प्रवृत्तियों वाले वर्गगत चरित्र दृष्टिगोचर होते है। एक का प्रतिनिधित्व भविष्यदत्त और कमलश्री करते है तो दूसरे का बन्धुदत्त और सरूपा। राजा भूपाल और धनवइ मे कुछ व्यक्तिगत विशेषताएँ मिलती है जो उन के स्वाभाविक चरित्र को स्पष्ट कर देती हैं। राजा जहाँ न्यायी है, हित और अहित का विवेक रखता है वही अन्याय का प्रतिकार करने के लिए भी तत्पर हो जाता है। मन्त्रियो के विरोध करने पर भी वह सिन्धुनरेश से युद्ध मोल ले कर स्वयं सामना करने के लिए तैयार होता ही है कि भविष्यदत्त अपने साहस और पराक्रम का परिचय दे कर उसे बन्दी बना लेता है धनवइ लोकनीति और रीति का

अनुसरण करता हुआ भी बिना किसी अपवाद के दूसरा विवाह करने के लिए कमलश्री जैसी गुणवती स्त्री का परित्याग कर देता है। ये ही कुछ विशेषताएँ हैं जिन मे भविष्यदत्त जैसे आदर्श तथा वर्गगत चरित्र और अन्य वैयक्तिक चरित्र स्वाभाविक रूप में अपना विशेष स्थान रखते हैं। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने चरित्र का विधान चार रूपों में लिखते हुए निर्दिष्ट किया है कि तुलसीदास जी के समान किसी सर्वांगपूर्ण आदर्श की प्रतिष्ठा का प्रयत्न जायसी ने नही किया। रत्नसेन प्रेम का आदर्श है, गोरा-बादल वीरता के आदर्श है; पर एक साथ ही शक्ति, वीरता, दया, क्षमा, शील, सौन्दर्य और विनय इत्यादि सब का कोई एक आदर्श जायसी के पात्रो में नही है।[1] किन्तु भविष्यदत्त के चरित्र मे सभी आदर्श रूपो की प्रतिष्ठा स्वाभाविक रूप मे अभिव्यजित हुई हैं। वह बन्धुदत्त के दुष्कृत्य के लिए उसे क्षमा प्रदान ही नही करता है वरन् उस का यथोचित सम्मान भी करता है। भाई का भाई के प्रति, बेटे का बाप के प्रति, माँ के प्रति और राज्य के प्रति वह कर्तव्य-विधान का परिचय देता हुआ विनय और शील को प्रकट करता है। वस्तुतः भविष्यदत्त का चरित्र आदर्श गुणोपेत है जिस में शक्ति, शील और सौन्दर्य का स्वाभाविक साहचर्य लक्षित होता है। यद्यपि वह असाधारण बनिये का बेटा है पर अपने आदर्श गुणों के कारण महान् पुरुष के पद को प्राप्त कर लेता है। और इसी लिए धनपाल ने लोक मे प्रसिद्ध महापुरुष की कथा काव्यात्मक रूप मे निबद्ध कर उन के आदर्श गुणो को अभिव्यक्त किया है।[2]

पौराणिक दृष्टि से भविष्यदत्त के चरित्र में आदर्श की ही प्रधानता है। किन्तु वह आदर्श जातिगत स्वभाव के रूप में स्फुट न हो कर वैयक्तिक रूप में प्रकाशित हुआ है। काल और परिस्थितियों के अनुसार नायक की मनोवृत्तियो तथा कर्तव्य भावना ने उस के सुप्त शौर्य और शक्ति को जाग्रत् कर सच्चे स्वरूप का परिचय दिया है। कवि ने नायक के सद्गुणों का विकास प्रेमजन्य या भक्तिजन्य रूप मे न दिखला कर उस की कर्म भावना में प्रदर्शित किया है। यद्यपि यह कर्म भावना पूर्व जन्म से सम्बन्धित है पर अदम्य साहस और धैर्य के बीच जिन अद्भुत घटनाओ का संयोग हुआ है वे निमित्त मात्र है।

भविष्यदत्त के व्यक्तिगत स्वभाव को प्रधानता दे कर भी धनपाल ने उस के जातिगत स्वभाव की उपेक्षा नही की है। अतएव वह तिलकद्वीप से लौटने पर सब से पहले राजा के पास जा कर उपहार भेंट करता है, पर भविष्यानुरूपा के सम्बन्ध मे उस समय कुछ भी नही कहता है। इस प्रकार वह पहले राजा को प्रसन्न कर उसे अपने पक्ष मे ले लेना चाहता है जो वणिको की जातिगत विशेषता है। उधर अपनी माँ को भविष्यानुरूपा के पास नागमुद्रिका के साथ भेज कर अपनी बुद्धिमत्ता का परि-

१. प० रामचन्द्र शुक्ल जायसी-ग्रन्थावली, भूमिका, पृ० ११७।
२. मो हियइ धरेवि पवरमहासिरिकुलहरहो।
 वित्थारमि सोइ कित्तणु भविसमहाणरहो। १, १।

चय देता है। सिन्धुनरेश के प्रस्ताव से असहमत हो कर भविष्यदत्त अपनी जातीय स्वाभिमानिता और दूरदर्शिता को ही प्रदर्शित कर अन्त मे वीरता का सच्चा निदर्शन प्रस्तुत करता है।

इस काव्य मे दो खण्ड है, जिन में दो वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हुए पात्र दृष्टिगोचर होते हैं। भविष्यदत्त का चरित्र आदि से अन्त तक व्याप्त होने पर भी मुख्य रूप से उत्तरार्द्ध में विकसित हुआ है। पूर्वार्द्ध में धनवइ, कमलश्री और सरूपा के चरित्र मुख्य है।

धनवइ : धनपति नगरसेठ होने के कारण मिलनसारता, उदारता, दाक्षिण्य, मधुर वक्तृत्व आदि गुणों से भूषित है, किन्तु रूप और धन-यौवन सम्पन्न होने से वह दूसरा विवाह कर लेता है तथा पूर्वपत्नी का सर्वगुणोपेत होने पर भी त्याग कर देता है। वह जातीयता के रंग में पूरी तरह रँगा हुआ दिखाई देता है। धनवइ व्यवहार-चतुर और सयाना है। इस लिए विवाह के अवसर पर राजा को बुलाना नही भूलता है और समय से आगे चल कर पूरा लाभ उठाता है। नगर में उस का बडा मान-सम्मान है। जनता उसे भलीभाँति चाहती है, क्योंकि वह व्यवहार और चरित्र में मधुर है। और इसी लिए बन्धुदत्त के साथ उस के बन्दी बनाये जाने पर जनता विरोध करती है तथा भविष्यदत्त के कहने पर कि जनता की माँग का सम्मान होना चाहिए, राजा उसे मुक्त कर देता है। उस के बाद भविष्यदत्त के कारण उस का पहले से अधिक मान बढ़ जाता है। यद्यपि धनवइ में गर्व है, पर स्वभाव से वह शान्त प्रकृति का है। परिस्थिति और घटनाओं के अनुसार वह सहज कर्म छोड़ कर युद्ध के लिए सज्जित होता है। इस प्रकार धनवइ के चरित्र मे लेखक ने गुण और अवगुण दोनो का सुन्दर सामंजस्य चित्रित किया है।

स्त्री-चरित्रों में भविष्यानुरूपा का और कमलश्री का चरित्र मुख्य है, जो सद्गुणों का प्रतिनिधित्व करती है; पर बन्धुदत्त और सरूपा दुर्जन-चरित्र के रूप हैं जो भ्रातृत्व और मातृत्व के विपरीत आचरण करते हुए दिखाई देते है।

बन्धुदत्त : बन्धुदत्त का चरित्र आरम्भ से ही भविष्यदत्त से प्रतिकूल दरशाया गया है। युवावस्था के पदार्पण करते ही वह युवतियो के साथ छेड़खानी करने लगता है। माँ के समझाने पर कि भविष्यदत्त तुम्हारा जेठा भाई है इस लिए धन-सम्पत्ति मे उस का विशेष अधिकार होगा, वह आश्वस्त हो जान-बूझ कर भविष्यदत्त को मैनागद्वीप में छोड देता है। यही नही, वापस लौटने पर जब फिर से भविष्यदत्त से उस का मिलन होता है तब क्षमा किये जाने पर भी वह भाई को धोखे से छोड कर सारी सम्पत्ति को और उस की पत्नी को अपनी कह कर छल-कपट को प्रकट करता है। यहाँ तक कि वह माता-पिता को भी भविष्यानुरूपा के सम्बन्ध मे पूछे जाने पर सच नही बतलाता है। इस प्रकार उस का चरित्र छल-कपट विश्वासघाती और लम्पट का चरित्र है जो मर्यादाओं से परे है

भविष्यानुरूपा : सुन्दरी होने पर भी उसे अपने रूप का गर्व नहीं है जो नारी जाति का सामान्य स्वभाव समझा जाता है। सपत्नी के प्रति ईर्ष्या की भावना अवश्य व्यक्त करती है, पर पति के समझाने पर वह मान जाती है। इस प्रकार पतिपरायणा होने पर भी सच्चे पातिव्रत्य को कठिन परिस्थितियों में भी बनाये रखती है, यही उस की सब से बड़ी विशेषता है।

कमलश्री : कमलश्री रूप और शील दोनों से उत्कृष्ट नारी चित्रित है। पति के द्वारा परित्यक्त हो जाने पर वह धर्म-ध्यान में अधिक समय बिताती है। परिवार में और समाज में सभी के साथ उस का इतना अच्छा व्यवहार है कि सब उस के साथ सहानुभूति रखते हैं। पुत्र के प्रति उस का अत्यन्त स्नेह और वात्सल्य है कि वह उस को देख-देख कर ही पूरा जीवन बिता लेना चाहती है। पुत्र के न लौटने पर उसका वियोग उसे असह्य हो जाता है। धर्म पर उस की श्रद्धा अगाध है। पुत्र के लिए वह श्रुत-पंचमी व्रत का पालन करती है। किन्तु वह स्वाभिमानिनी है और इसी लिए पति के पास अन्त में बिना बुलाये नहीं जाती है।

सरूपा : सरूपा का चरित्र कमलश्री का विरोधी है। अपने रूप पर उसे बहुत गर्व है। सपत्नी तथा उस के पुत्र से अत्यधिक ईर्ष्या है। इसलिए वह बन्धुदत्त को समझाती है कि जैसे भी बने भविष्यदत्त को अवश्य मार देना। स्त्री-स्वभाव की भाँति वह धन-कंचन और वैभव की बड़ी शान दिखाती है। पुत्र के लौटने पर और मन के अनुकूल उस के आचरण से वह फूली नहीं समाती है। यद्यपि वधू पर उसे सन्देह होता है पर पुत्र जो कुछ कहता है उसे सच मान कर उस से वह कुछ भी नहीं पूछती है। यहाँ पर उस की अदूरदर्शिता का पता चलता है। इसी प्रकार सरूपा संगीत, कला आदि में शिक्षित होने पर भी नारी जाति के विशेष और सामान्य दुर्गुणों से व्याप्त है। वह अपनी सौत से वैसे ही जलती-भुनती और कुढ़ती है जैसे कि कोई दुष्ट स्वभाव की स्त्री होती है।

प्रबन्ध-संघटना

यद्यपि कथा-बन्ध की दृष्टि से भविष्यदत्तकथा प्रबन्ध-काव्य है किन्तु उस में मुख्य कथा ही है। कथा के विकास के साथ ही घटनाओं की कार्य-कारण योजना समान रूप से मिलती है, पर काव्य का कार्य पूर्णतः धार्मिक भावना से ओतप्रोत है। इस लिए कथा का अन्तिम और कुछ-कुछ मध्य भाग अवान्तर कथाओं के सन्निवेश से गतिहीन और प्रभावहीन जान पड़ता है। वस्तुतः प्रबन्ध का पूर्वार्द्ध भाग जैसा कसा हुआ और प्रभावोत्पादक है वैसा उत्तरार्द्ध नहीं। कहीं-कहीं शैथिल्य भी दृष्टिगोचर होता है। परन्तु पुराण-कथाओं से इन प्रबन्ध काव्यों में कथा के विकास और काव्यात्मक संवेदना में पूर्ण साहचर्य लक्षित होता है। प्रस्तुत काव्य में मुख्य कथा के प्रवाह के साथ ही प्रासंगिक वृत्तों का संचार दिखाई देता है। किन्तु उन का सम्बन्ध आधिकारिक कथा

वस्तु से किसी न किसी रूप में सम्बद्ध होने से औचित्य का पूर्ण निर्वाह देखा जाता है। अवान्तर कथाओं की नियोजना कर्म-विपाक की दृष्टि से ही हुई है, जिस में व्यक्ति के विकास-क्रम की ओर तथा धार्मिक व्रत-माहात्म्य की ओर ध्यान आकर्षित कर रचना को प्रभावपूर्ण बनाया गया है। सम्प्रदायविशेष मे सम्बन्धित होने के कारण भी ऐसा करना आवश्यक था। फिर, इस से यह भी सूचित होता है कि चौदहवी शताब्दी तक अपभ्रंश के प्रबन्धकाव्यों पर पौराणिक प्रभाव बना हुआ था।

समालोचकों ने प्रबन्धकाव्य में कार्यान्विय की आवश्यकता पर अधिक बल दिया है। डॉ० शम्भूनाथ सिंह के मत में रोमांचक कथाकाव्यो में कार्यान्विति नहीं होती और न नाटकीय तत्त्व ही अधिक होते हैं। उन का कथानक प्रवाहमय और वैविध्यपूर्ण अधिक होता है पर उस मे कसावट और थोडे मे अधिक कहने का गुण, जो महाकाव्य का प्रधान लक्षण है, नही होता।[1] किन्तु विण्टरनित्ज ने 'भविसयत्तकहा' को रोमांचक महाकाव्य माना है।[2] जो भी हो, इतना निश्चित है कि प्रस्तुत काव्य में कथानक गतिशील और कसा हुआ है। केवल पूर्व जन्म की अवान्तर कथाओं मे कुछ शैथिल्य प्रतीत होता है। परन्तु कथा और घटनाओं का आदि से अन्त तक पूर्ण सामंजस्य तथा कार्यान्विति स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। इसलिए प्रबन्धकाव्य के मौलिक गुणों की दृष्टि से यह एक सफल रचना कही जा सकती है। क्योंकि इस मे कथानक का विस्तार कथातत्त्व के लिए न हो कर चरित्र-चित्रण के लिए हुआ है, जो महाकाव्य का प्रधान गुण माना जाता है। चरित्र-चित्रण मे मनोवैज्ञानिकता का सन्निवेश इस काव्य की विशेषता है। फिर, कथानक मे नाटकीय तत्त्वो का भी पूर्ण समावेश है। वस्तुतः इस काव्य का महत्त्व तीन बातों में है—पौराणिकता से हट कर लोक-जीवन का यथार्थ चित्रण करना, काव्य-रूढ़ियों का समाहार कर कथा को प्रबन्धकाव्य का रूप देना और उसे सवेदनीय बनाना।

काव्य-रूढ़ियाँ

यद्यपि पुराण-काल मे ही काव्य को रूढियों की परम्परा चल निकली थी, पर सम्यक् रूप से उस का प्रचलन अपभ्रंश-काव्यों में देखा जाता है। उपलब्ध काव्यों में सर्व प्राचीन स्वयम्भू के 'पउमचरिउ' मे भी इन का सन्निवेश हुआ है। प्रस्तुत काव्य मे इन काव्य-रूढियों का पालन दिखाई देता है—१. मंगलाचरण, २ विनय-प्रदर्शन, ३. काव्य-रचना का प्रयोजन, ४. सज्जन-दुर्जन-वर्णन, ५. वन्दना (प्रत्येक सन्धि के प्रारम्भ मे स्तुति या वन्दना), ६. श्रोता-वक्ता शैली, ७. अन्त में आत्म-परिचय। इन मे से मंगलाचरण की पद्धति अत्यन्त प्राचीन है। श्रोता-वक्ता शैली वाल्मीकि

---

१ डॉ० शम्भूनाथ सिंह हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप-विकास पृ० ८८।

२ एम० विण्टरनित्ज ए हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिटरेचर, १९३३ खण्ड २, पृ० ५३२

रामायण और विमलसूरि के 'पउमचरियं' में भी मिलती है।[१] इस के मूल में कथानक की प्राचीनता को द्योतित करने वाली प्रवृत्ति ही मुख्य जान पड़ती है। परवर्ती काल में प्रबन्धकाव्य की शिल्प-रचना में ये रूढ़ियाँ ज्यों की त्यों अपना ली गयी। हिन्दी में गोस्वामी तुलसीदास के 'रामचरितमानस' में इन की सुन्दर संयोजना मिलती है।

काव्य के प्रथम कडवक में जिन-वन्दना है। जिन को अरहंत, अनन्त, महन्त, सन्त, शिव, शंकर और अनादिवन्त विशेषणों से सम्बोधित किया गया है। फिर, कवि कुलधर का स्मरण कर महापुरुष भविष्यदत्त की कीर्ति का विस्तार करने के लिए प्रवृत्त होता है। किन्तु वह अपनी अयोग्यता का विचार कर कह उठता है कि हे विद्वज्जनो, मैं तुम्हारा स्मरण करता हूँ, क्योंकि मैं मन्दबुद्धि, गुणहीन और अर्थ के विचार से शून्य हूँ। मैं मोहरूपी अन्धकार से व्यामोहित मूर्ख इस दुर्धर व्यापार में प्रवृत्त हुआ हूँ।[२] कवि अपनी असमर्थता प्रकट करने के अनन्तर सज्जनों के सम्बन्ध में कहता है कि जिस प्रकार वैभवहीन हो जाने पर मनुष्य शोभित नहीं होता उसी प्रकार काव्य के गुणों से हीन कवि की सहायता सज्जन नहीं करते अथवा कोई भी निर्धन जन शोभा प्राप्त नहीं करता। और फिर बिना धन-सम्पत्ति के पुण्य भी नहीं होता।[३] किन्तु असमर्थ होने पर भी मैं काव्य-रचना कर रहा हूँ। जिस की बुद्धि का जितना विकास होता है वह मनुष्य लोक में उतनी ही प्रकट करता है। क्या ऐरावत हाथी के चिंघाड़ते रहने पर अन्य हाथी अपना चिंघाड़ना छोड़ देते हैं? क्या गगन-मण्डल में चन्द्रमा के उदित होने पर तारागण चमकना छोड़ देते हैं? यदि नहीं, तो मैं भी इस महाकाव्य को निश्चय ही कह रहा हूँ।[४] दुर्जनों के सम्बन्ध में लिखता हुआ कवि कहता है कि उन का काम दोषों

---

१ आदिकविश्रीवाल्मीकेर्नारदं प्रति प्रश्न। तस्योत्तररूपेण संक्षेपतो नारदकृतं रामचरितवर्णन, तच्छ्रवणफलकथनं च।

तपःस्वाध्यायनिरतं तपस्वी वाग्विदांवरम्।
नारदं परिपप्रच्छ वाल्मीकिर्मुनिपुंगवम्॥

—वाल्मीकिरामायण, बालकाण्ड १,१।

२ बुहयण संभालमि तुम्ह तिरथु   हउं मंदबुद्धि णिग्गुणु णिरत्थु।
मोहंधयारवामोहमूढु   दुग्घरवावारकयारिछ्ढु। १,२।

३ किं करमि खीणविहवप्पहाय   णउ सहमि सोह सज्जणसहाए।
अह णिद्धणु जणु सोहइ ण कोइ   धणुसंपय विणु पुण्णहिं ण होइ।१,२।

४ जसु जित्तिउ बुद्धिवियासु होइ   सो तित्तउ पयडइ मच्चलोइ।
पिक्खिवि अइरावउ गुलुगुलंतु   किं इयरहत्थि मा मउ करंतु।
महाकव्वकईहु ताह तणिय किर कवण कह।
किं उइय मयंकि जोईगणउ म करउ पह॥ १,२।

तुलना

अहवा ण इत्थ दोसो जइ उइयं ससहरेण णिसिसमए।
ता किं णहु जोइज्जइ भुअणे रयणीसु जोइक्ख॥ संदेशरासक, १,८।
जइ मयगलु मउ भरए कमलदलुव्वहलगधदुप्पिच्छो।
जइ   मत्तो ता सेसगया मा मच्चतु   वही १ १
जा जस्स कव्वसत्ती सा तेण अलज्जिरेण भणियव्वा   वही १ १७

को ढूँढ़ निकालना ही होता है। इसलिए मैं तो उन्हें गुणवन्त ही कहता हूँ। उन पर क्रोध क्यों करना चाहिए? श्रेष्ठ कवि भी अपशब्द को ढूँढता है। उस को सैकड़ो दोष उद्भासित होते हैं।[1] कवि कथा के सम्बन्ध मे प्रकाश डालता हुआ कहता है कि सेठ श्रेणिक के पूछने पर गौतम गणधर ने यह श्रुतपंचमी विधान कहा, जिस से यह कथा प्रचलित हुई।[2] आत्म-परिचय के आरम्भ मे कवि इतना ही कहता है कि वणिग्वर धनपाल ने चिन्तन कर इस दुखमय काल मे श्रेष्ठ आचार्यों से प्राप्त कर इस कथा को अभिव्यक्त किया है।[3]

उक्त काव्य-रूढ़ियाँ सन्देशरासक, पद्मावत और रामचरितमानस आदि में कुछ परिवर्तन के साथ लगभग सभी दिखाई देती हैं। इस से यह पता चलता है कि भारतीय प्रबन्धकाव्य के मध्य युग में प्रबन्ध-सघटना के लिए काव्य-रूढ़ियाँ आवश्यक मानी जाने लगी थी। वाल्मीकि रामायण और सस्कृत के प्रबन्धकाव्यों मे मंगलाचरण को छोड कर अन्य काव्य-रूढ़ियों के दर्शन नही होते। वस्तुतः यह अपभ्रंश के प्रबन्धकाव्यो की अपनी परम्परा है, जो लोकधारा मे प्रवाहित रही है। सम्भवतः प्राकृत के काव्यो से इस प्रबन्धात्मक संघटना का विकास हुआ। अपभ्रंश के कथाकाव्यो मे इन मे क्या-कैसा विकास हुआ—इस का विचार अगले अध्याय मे किया जायगा।

वस्तु-वर्णन

आलोच्य ग्रन्थ मे वस्तु-वर्णन कई रूपो में मिलता है। कवि ने जहाँ परम्पराभुक्त वस्तु-परिगणन, इतिवृत्तात्मक शैली को अपनाया है, वहीं लोकप्रचलित शैली में भी जन-जीवन का स्वाभाविक चित्रण कर लोकप्रवृत्ति का परिचय दिया है। परम्परागत वर्णनो में नगर-वर्णन, नखशिख-वर्णन, वन-वर्णन और प्रकृति-वर्णन दृष्टिगोचर होते हैं जिनमें कोई नवीनता लक्षित नही होती। किन्तु कहीं-कही संश्लिष्ट योजना द्वारा सजीवना सहज रूप मे प्रतिबिम्बित है। कई मार्मिक स्थलो की यथोचित संयोजना काव्य में रसात्मकता से ओतप्रोत है। यद्यपि कुछ स्थलो पर काव्य विवरण प्रधान हो गया है, पर वस्तु-वर्णनो मे मुख्य रूप से रसात्मकता की पूरी समरसता देखी जाती है। घटना-वर्णनों के बीच अनेक मार्मिक स्थलों की नियोजना स्वाभाविक रूप से हुई है, जिन मे कवि की प्रतिभा अत्यन्त स्फुट है। मुख्य वर्णन इस प्रकार है—

नगर-वर्णन

इसमे बगीचों, धन-धान्य, सरोवरो, सरिताओ, पक्षियो और नगर की समृद्धि का वर्णन है। कवि ने सक्षेप मे वर्णन कर वहाँ की सघन और शीतल अमराइयों की

---

१. परिछिद्दसइहि वावारु जासु गुणवतु कहिमि किं कोवि तासु।
अवसद्द गवेसइ वर कईहु दोसइ अब्भासइ महसईहु। १,३।

२ तहो गणहरु गोयमु गुणवरिट्ठु तिं तइयहं जं सेणियहु सिट्ठु।
पुच्छयहं सुअपंचमिविहाणु तहिं वायउ एहु महाणिहाणु। १४

३ चिंतिय धणवालं वणिवरेण सरसइ बहुलद्ध महावरेण। १४

ओर संकेत करते हुए कहा है कि उस गजपुर नाम के नगर में पथिकजन पेडो की छाया मे घूमते हुए, रात मे दल के दल विहार करते हुए, हास-परिहास करते हुए, गन्ने का रस-पान करते हैं। वह इतना वैभवपूर्ण और सुखी नगर है मानो आकाश से खिसक कर स्वर्ग का एक खण्ड ही पृथ्वी पर अवतीर्ण हुआ हो। (१,५)

एक अन्य स्थल पर उजाड नगरी का वर्णन करते हुए कवि ने मार्मिक दृश्यों की इतनी सुन्दर संयोजना की है कि आँखों के सामने चित्रपट की भाँति विविध चित्र मालाओ के रूप मे एक के बाद एक घूमने लगते है। चित्रण जहाँ यथार्थ है वही कल्पना-गत बिम्बों की सजीवता भी दर्शनीय है। ऐसे स्थलों पर कवि की रागात्मिका वृत्ति वर्णनो में विशेष रूप से रमी है और कल्पना करते-करते वह थकती नही है, वरन् सुन्दर से सुन्दर कल्पना-प्रसूत वास्तविक चित्र अंकित करती जाती है। चित्र है—भविष्यदत्त उस तिलकद्वीप की सुन्दर नगरी में, जो चारो ओर से गोपुर और परिखाओं से घिरी हुई थी तथा श्वेत कमल के समान जिसमे स्वच्छ घर थे और जो मणि तथा रत्नो की कान्ति से जगमगा रहे थे, ऐसी शोभित हो रही थी मानो बिना जल का सरोवर छबि बिखेर रहा हो, ऐसी उस नगरी मे घूमता हुआ अत्यन्त आश्चर्य से एक-एक वस्तु को देखता हुआ कहता है—भवनो की खिडकियाँ अधखुली क्या दिख रही हैं मानो किसी नयी बहू की ही अधखुली तिरछी आँखे हों, अथवा फलकों के बीच का भाग क्या दिखलाई दे रहा है मानो कुछ-कुछ काम से अन्धी हुई युवती ही अपनी अधखुली जाँघों का प्रदर्शन कर रही हो। धन-सम्पत्ति से भरे हुए भाँडे-बरतन क्या दिख रहे है मानो कोई नागिन ही अपने मुकुट के चित्र-विचित्र रेखा-चिह्नों को ही प्रकट कर रही हो। छेदो मे से दिखाई देने वाला प्रकाश ऐसा जान पड रहा है मानो धन की अभिलाषा मे किसी एक पुरुष ने एकान्त मे दीप जलाया हो। इतना ही नही, खम्भे अविचल योगियो की भाँति ऐसे दिखाई दे रहे थे मानो सुरति-क्रीड़ा आरम्भ करने के पहले युवक और युवती वसनहीन हो गये हों। गोपुर के मार्ग भी अब गायो की धूलि से रहित हो गये है। बगल मे से पवन से उड़ायी हुई ध्वजा-पताकाएँ चंचल दिखाई दे रही है। जो बडे-बडे भवन चिर-काल से लोगो से व्याप्त थे वे अब रति-क्रीड़ा समाप्त कर लेने वाले दम्पति युगल की भाँति नि शब्द है। जहाँ पर निरन्तर पनिहारियो के आने-जाने से बहुत समय तक पनघट शब्दायमान होते रहते थे वे भी अब भाग्यवश मूक हो गये है। (४,८)

कंचनद्वीप-यात्रा-वर्णन

वस्तु-वर्णन में कवि ने जिस रीति को अपनाया है, उस मे वर्णन विस्तार या चित्रण न हो कर समास शैली मे विवरण और वर्णन दोनो का सामंजस्य दिखाई देता है। मुख्य रूप से कवि की प्रवृत्ति प्रकृति से मेल-मिलाप न कर मानवीय भावनाओ से प्रभावित तथा सब ओर उस की ही आन्तरिक और बाह्य छबि निरखती प्रतीत होती है। यद्यपि मार्ग मे विभिन्न पदार्थो के, जलजन्तुओ के और पर्वत आदि के मनोहर

ृश्यों का सुन्दर वर्णन किया जा सकता था, पर कवि ने चार पंक्तियों में ही गजपुर से मैनाग द्वीप की दूरी नाप कर अत्यन्त संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया है—

लंघतइं दीवंतरथलाइं पिक्खंति विविह कोऊहलाइं।
इय लीलइं वच्चंताहं ताहं उच्छाहसत्तिविक्कमपराहं।
दुप्पवणिं घणतरुवर समोवि वहणइं लग्गइं मयणाविदीवि। (३,२३)

इस से ऊपर के कड़वक में कवि ने वर्णन करते हुए कहा है कि वे सुन्दर कुँवर रंग-बिरंगे घोड़ों पर चढ कर कुरुजंगल की धरती से दूर भलकते हुए चले जा रहे थे। बड़-बड़े जंगलों, पुर, ग्राम, खेडों और थोड़ी झोंपडियों वाले गाँव-गँवइयों को लाँघते हुए, जमना नदी तथा दुर्गम नदियों और स्थानों को पार कर, अन्यान्य भाषा-भाषियों मे देखे जाते हुए समुद्र के तट पर पहुँच गये। इस वर्णन में भो उक्त प्रवृत्ति स्पष्ट है—

चडुलंगतुरंगिहिं आरुहिवि सचल्लिय सुंदर कुमर॥ (३,२१)
अग्गेयदिसइं मल्हंति जंति कुरुजंगल महिमंडलु मुयंति।
लंघति वियणकाणण पलब पुरगामखेडकव्वडमडंब।
जउणाणइ सलिलु समुत्तरेवि जलदुग्गइ थलदुग्गइं सरेवि।
अण्णण्ण देसभासइ णियंत रयणायरे वेलाउलइं पत्त। (३, २२)

समुद्र-वर्णन

समुद्र का वर्णन पौराणिक न हो कर कवि की मूल प्रवृत्ति का परिचायक है। वह समुद्र को धीर-गम्भीर महापुरुष की भाँति चित्रित कर उस की गहनता, शालीनता और मर्यादाशीलत्व का चित्र एक ही पंक्ति मे अंकित कर देता है—

लक्खिउ समुद्दु जललवगहीरु सप्पुरिसु व थिरु गंभीरु धीरु। (३,२२)

'जललवगहीरु' कह कर उस की पूर्णता की ओर संकेत किया गया है। जब मनुष्य विचारों और अनुभवों मे उथला होता है तब वह चंचल तथा उछल-कूद मचाने वाला होता है, पर भरा-पूरा व्यक्ति गंभीर और संयमी होता है। मनुष्य में इच्छा और महत्वाकाक्षाओं का होना स्वाभाविक है। समुद्र में भी साँप के विष को भाँति विष से व्याप्त विषम लहरें बड़े-बड़े तटों पर किलोल-क्रीड़ाएँ कर रही थो। और उस समय वह समुद्र-तट लहरो के टकराने से ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो खरीदने और बेचने वाले मनुष्यों का कलकल कोलाहलमय वचनालाप हो रहा हो।

आसीविसोव्व विसविसमसीलु वेलामहल्लकल्लोललीलु।
दिट्ठइं विउलइ वेलाउलाइं कयविक्कयरयवयणाउलाइं। (३,२२)

यहाँ पर 'आसीविसोव्व' कह कर कवि ने साँप की भाँति लहराती हुई तथा बार-बार समुद्र के किनारे को चूमती हुई लहरो का कितना सुन्दर चित्र बिम्बार्थ के माध्यम से चित्रित किया है। नीचे की पंक्ति में भारत की किसी हाट से समुद्र के तट की कितनी सुन्दर समता दर्शायी है थोड़े में ही कवि ने बहुत कुछ कह दिया है

विवाह-वर्णन

इस वर्णन मे हमे परम्पराभुक्त पद्धति का दर्शन न हो कर लोक-जीवन का यथार्थ चित्रण दिखाई देता है। सेठ धनवइ के विवाह की तैयारियाँ हो रही है। मण्डप तान दिये गये है। घर-घर तोरण बाँध दिये गये है। वह परम छबि सभी का मन हर रही है। सैकडो वितान (चंदोवे) जनता का मन चुरा रहे हैं। धरती पर मँड़वा गडा हुआ है। कई रंगों के सुगन्धित चन्दन छिड़के जा रहे है। अगुरु चन्दन से सैकड़ों घर सुगन्धित और शोभित हो रहे हैं। सुख देने वाले सज्जनो की तरह सरस कमल अविरल विकीर्ण किये जा रहे है। निज गोत्र एवं कुल के जनो से साँथरी तथा मोतियो से भरी जाने वाली रगावली के रचे जाने पर विशिष्ट स्वजनों के साथ बैठ कर वार्तालाप किया जाने लगा। राजा को पीढ़ा पर बैठाया गया। फिर, हास-परिहास को छोड कर भोजन के लिए सुन्दर वस्त्रो को उतार कर लोग अन्त.पुर मे पहुँचे। घर के प्रधान ने अनेक भक्ष्य तथा सुन्दर पदार्थो का भोजन कराया। फिर, पान, वस्त्र ले कर जो जिस के योग्य था उसे प्रदान किया। भेरी, शंख, मादल आदि मागलिक बाजों से दसो दिशाएँ भर गयो। कवि की कल्पना है कि उस समय ऐसा लग रहा था मानो अच्छे मुहूर्त और नक्षत्र को देख कर प्रत्यक्ष स्वर्ग ही भूतल पर उतर आया हो।

किय मडवसोह घरि घरि बद्धइ तोरणइ।
उल्लोच सयाइं रइयइ जणमण चोरणइ॥ (१,८)
खंचिय मेइणि तडविय वण्ण वहु परिमलचदणछडय दिण्ण।
अविरल पइण्ण सरसारविन्द पूरिवि णिविट्ठ मुहिसयणविंद।
कालागुरु खण्डइ बोहियाइं वरभवण सयइं उवसोहियाइ।
णिय गोत्तमाइं मंगलवलीउ पूरिवि मोत्तियरगावलीउ।
संभासिउ सयणु विसिट्ठु इट्ठु णरणाहु चउक्कासणि बइट्ठु।
पुणु किउ परिचित्ति संपहारु वरभोयण वत्थाहरणसारु। (१,९)

इस काव्य मे विवाह का वर्णन तीन स्थलो पर हुआ है। चौथे स्थान पर तेल चढ़ाने का वर्णन है। इन वर्णनों को ध्यान से पढ़ने पर पता चलता है कि उस युग मे वैवाहिक रीति-रिवाज आज की ही भाँति समाज मे प्रचलित थे। विवाह के लिए मण्डप.गाडे जाते थे। रंगावली पूरी जाती थी। मंगल-कलश और वन्दनवार सजाये जाते थे। मंगल वाद्यो के साथ भाँवरें पड़ती थी और लोगों को भोज दिया जाता था। कन्या महावर से चरणो को रजित करती थी तथा आँखों मे कज्जल और माथे पर तिलक लगाती और वस्त्राभूषणो से सज्जित होती थी। विवाह मे विशेष रूप से श्वेत वस्त्र को छोड कर रगीन परिधान धारण करती थी। दहेज की भी प्रथा थी। धनवइ ने स्वर्ण, मणि और रत्नों का लोभ छोड़ कर सज्जन लोगों के कहने से धनदत्त को पुत्री सरूपा को व्याहा था—

अवगण्णिवि सुहिसज्जणवयणइ मोकल्लिवि सुवण्णमणिरयणइं।
णियणयविणयायाग्गिपइत्तहो मग्गिवि लइय धीय धणयत्तहो। (३,१)

युद्धयात्रा-वर्णन

युद्ध के लिए जाती हुई अपने नगर की पूरी सेना को देख कर लोगों को ऐसा प्रतीत हुआ मानो प्रलय काल हो सेना के रूप में प्रकट हो गया हो। यथा—

.... अवलोइय णियभडबलु असेसु।
दरिसहु कुरुजंगलि पलयकालु, कुरुवइ उक्खिणहु समूलडालु।
गयउरिपायारपओलिभगु दरमलहुछुहिवि बलु चाउ रंगु।
हयभेरिपयाणउं णवर दिण्णु घरदरमलंतु मचल्लिउ सिण्णु। (१३.१३)

उक्त पंक्तियों में युद्धयात्रा का कितना सजीव वर्णन है! पढ़ते ही सेना द्वारा धरती रौंदने का चित्र आँखों के सामने घूमने लगता है।

युद्ध-वर्णन

युद्ध का वर्णन अत्यन्त विस्तार के साथ कवि ने किया है। घनघोर युद्ध का सजीव वर्णन नीचे की पंक्तियों में अत्यन्त सजल है—

हरिखरखुररणखोणी खणंतु गयपायपहारि घरदरमलंतु।
हणु मारि मारि करयलु करालु सण्णद्धबद्धभडथडवमालु।
तं णिइविसघण अहिमुहु चलंतु धाइउ कुरुसाहणु पडिखन्तु। (१४,१३)

पद-योजना भी विकट बन्ध के अनुकूल है। आगे का वर्णन बिम्ब-योजना से पूर्ण होने के कारण काव्यात्मक तथा यथार्थ चित्रण से समन्वित है। रणस्थली में घोडों के तेज खुरो से उठती हुई सघन धूलि को देख कर कवि कल्पना करता है कि वह धूलि क्या थी मानो योद्धाओं की परसन्तापाग्नि से उत्पन्न होने वाला धुँआ ही सब ओर व्याप्त हो रहा था। धूलि आकाश तक फैल रही थी, जिस से जग में चारों ओर अन्धकार छा रहा था। इतना अधिक अँधेरा छा गया था कि योद्धाओं को अपनी और दूसरो की तलवार तक नहीं दिखाई दे रही थी—

तो हरिखरखुरग्गसंघट्टिं छाइउरणअतोरणे।
णं भडमच्छरग्गि संधुक्कण धूमतमघयारणे॥
धूलीरउगयणंगणु भरंतु उट्ठिउ जगु अंधारउ करंतु।
णउ दीसइ अप्पुणपरु सखग्गु ण गइंदु ण तुरउ ण गयण मग्गु। (१४,१८)

तैल चढाने का वर्णन

विवाह होने के पूर्व भविष्यानुरूपा को धनवइ के घर तैल चढ़ाया जाता है। य एक सामाजिक प्रथा है आज भी तैल चढाने की प्रथा के विभिन्न भागों म

वर्तमान है। कमलश्री वहाँ पहुँचती है। इतने में ही तैल चढ़ाने का भी शुभ मुहूर्त आ पहुँचा। किसी एक स्त्री ने वधू के पास जा कर उसे सब लोगों के बीच समाश्रित किया। पहले सोचा कि यह अत्यन्त व्याकुल है, इसलिए क्या करें, पर प्रावरण के भीतर ही हँस कर मन ही मन तैल लगाना आरम्भ कर दिया। किसी अन्य स्त्री ने उसे आवरणरहित कर दिया और बहुत देर तक वह उस के हाथ के नाखूनों को देखती रही। कोई निरन्तर कटाक्षपात से अनुरंजन करती रही। कोई परस्पर हास-परिहास करने लगी। किसी अन्य स्त्री ने भविष्यानुरूपा के अंगों को भलीभाँति देख कर कहा कि इसे तो बहुत पहले ही तैल लग चुका है। चतुर युवतियाँ मुँह पर धोती का पल्ला रख कर हँसने लगी। फिर क्या था, स्त्रियाँ आपस में कई तरह की बातें करने लगी—

. ... आयरु तिल्लि करहु सुमुहुत्ति।
अण्णहि सुमुहु समासिउ मुद्धइं कि किज्जइ विग्गोवउ सुद्धइं।
ताइवि पगुरणहु अब्भंतरि लाइउ तिल्लु हसिवि चित्तंतरि।
अण्णइं तहि पंगुरणहु विवत्तिउ दिट्ठउ चिरु कररुहवणपंतिउ।
अण्णइं अहरउ णयणकडक्खिउ अण्णिवि हसिवि अण्णहिं अक्खिउ।
अण्णइं वुत्तु णिहालिवि अंगउ आयहिं कहिसि तिल्लु चिरु लग्गउ।
मुहि अंचलु देवि हंसइ समुब्भडु तरुणियणु।
लइ लायहु तेल्लु वालहिउब्भंखरिउ तणु॥ (९,२१)

इस प्रकार हास-परिहास के बीच तैल चढ़ाने का वर्णन लोक-जीवन के सामाजिक महत्त्व को हमारे सामने प्रस्तुत करता है।

वसन्त-वर्णन

कवि ने वसन्त-वर्णन में जहाँ सामान्य इतिवृत्तात्मक वर्णन किया है वहीं उस में लोक-जीवन की भी झलक दिखाई देती है। यथा—

घरि घरि चच्चरि कोऊहलाइं घरि घरि अंदोलय सोहलाइं।
घरि घरि तोरणइं पसाहियाइं घरि घरि सयणइं अप्पाहियाइं
घरि घरि बहु चदण छडय दिण्ण मचकुंदवणय दवणय पइण्ण।
घरि घरि जयमंगलकलसं किय घरि घरि घर देवय अवयरिय।
घरि घरि सिंगारवेसु धरिवि णच्चिउ वरजुवईहिं उत्थरिवि। (८,९)

अर्थात् घर-घर कुतूहल से चाँचर खेली जाने लगी। घर-घर हिंडोले शोभायमान होने लगे। घर-घर तोरण बाँधे जाने लगे। घर-घर में स्वजन अपने हृदय को अर्पित करने लगे यानी कि बहुत चाव से एक दूसरे से प्रेम करने लगे। घर-घर में चन्दन छिड़का हुआ है। मुचकुन्द के वन के वन फूल उठे हैं। घर-घर पर जयमंगल कलश शोभित हो रहे हैं मानो किसी देवता ने ही अवतार लिया हो। घर-घर में अच्छे वेश में सुसज्जित हो स्त्री-पुरुष नाच-गान में रत हो रहे हैं।

अपभ्रंश की कई रचनाओ मे चर्चरी, तालरासक, डाडारास और रासनृत्य आदि का उल्लेख मिलता है, जिस से पता चलता है कि लोक-जीवन में उस समय उन का विशेष प्रचार था।

बाल-वर्णन

वसन्त-वर्णन की भाँति बाल-वर्णन भी स्वाभाविक रूप में हुआ है। शिशु भविष्यदत्त का वर्णन करता हुआ कवि कहता है कि माता कमलश्री के उठे हुए पीन स्तनों मे सट कर और गले के हार को धकेल कर बालक स्तनपान करता है। वह लोगों के हाथो-हाथ घूमता है। अपने अच्छे चरित्र से सभी को सुहाता है। स्त्री-पुरुष सभी उसे गोद मे लेते हैं। श्रेष्ठ विलासिनी स्त्रियाँ भी उसे चूमती हैं।

कमलसिरिहि पीणुण्णयसट्टइं पेल्लिवि हारु पियइ थणवट्टइं।
हत्थिहत्थु भमइ जणविंदहो चरिय सुहावउ सुट्ठु णरिंदहो।
णरणाहि सइं अंकि लइज्जइ चामरगाहिणीहिं विज्जिज्जइ।
पवरविलासिणीहिं चुंबिज्जइ अण्णहिं पासिउ अण्णइं लिज्जइ।
सीहासण सिहरोवरि मुच्चइ वरविलयहं सिरि कुरलवि लुचइ। (२,१)

बालक की इन स्वाभाविक चेष्टाओ का वर्णन करता हुआ कवि आगे कहता है— जब कोई भविष्यदत्त का चुंबन लेता है तो उस के कपोलों में छूने वाले वस्त्र को वह स्तन समझ कर दूध पीने के लिए उस के गले लग जाता है। अपने कोमल पगों मे स्तन पर पडे हुए हार को दलता है और जड़े हुए श्वेत हार को तोड़ता है।

चुंबिज्जतु कवोलइ चीरइं गलि लग्गंतु थणहिं अहि खीरइं।
कोमलपयहिं दलइ थणहारइं आखंचिवि तोडइ सियहारइं। (२,१)

इन वर्णनो में कवि की प्रतिभा का प्रदर्शन न हो कर लोक-जीवन का यथार्थ चित्रण है। इन को पढने से सहज मे ही स्पष्ट हो जाता है कि कवि ने लोककथा के साथ ही जन-जीवन का भी पूर्ण सामंजस्य पौराणिक तथा लोक शैली में अभिव्यंजित किया है।

राजद्वार-वर्णन

भविष्यदत्त राजद्वार पर पहुँच कर देखता है कि योद्धाओ के ठट्ठ के ठट्ठ संचार कर रहे हैं। विस्तृत मैदान मे हाथी किलोलें कर रहे हैं। तुर्की देश के घोडे हिनहिना रहे हैं। राजद्वार सशक्त सामन्तो से संकुल है। उस द्वार के भीतर प्रवेश करने वाला कनकदण्ड से ही रोक लिया जाता है। वहाँ कोई मनमानी नही कर सकता, स्वच्छन्द विहार नहीं कर सकता। सभी का मान वहाँ पर गल जाता है। उस राजद्वार की मोट जाट टक्क कीर खस बब्बर मरु मंब

कलिंग, वैराटक, गुजरात, बंगाल, लाट और कर्नाटक देश के लोग प्रतिहारी के रूप मे रक्षा करते है ।

णिग्गउ वणिवरिंदु पहुवारहो भडथडणिवहविसमसंचारहो ।
जहिं गय गुलगुलंति पिहु जंगम हिलिहिलंति तुक्खारतुरंगम ।
जहिं मंडलिय सक्कसामंतह णिवडइ कणयदंडु पइसंतहं ।
गलइ माणु अहिमाणु ण पुज्जइ णियसच्छंदलील णउ जुज्जइ ।
जहिं अब्भोट्टजट्टजालंधर मारुअटक्ककीरखसबब्बर ।
मरुवेयंगकुंगवेराडवि गुज्जरगोडलाडकण्णाडवि ।
इय एमाइ मुक्क सवसुंधर अवसरु पडिवालंति महाणर । (१०,१)

इन देशों की नामावली से पता चलता है कि राजा भूपाल का राज्य कितना विस्तृत था। दूसरे, उस युग में कई छोटे-छोटे राज्य थे। तीसरे, तुर्क आदि देशों से भारत के अच्छे व्यापारिक सम्बन्ध थे। वहाँ के घोड़े युद्ध मे अच्छा काम देते थे। क्योंकि तुर्की घोड़े सब से अच्छी जाति के माने गये हैं।

शकुन-वर्णन

भविष्यदत्त उस गहन वन मे जिन का स्मरण करता हुआ रोमांचित हो कर इधर-उधर घूमने लगा। इतने मे ही शुभ शकुन उत्पन्न करने वाली बातें दृष्टिगत होने लगीं। एक ओर श्याम चिरैया उड़ती हुई दिखाई दी और दूसरी ओर बायीं ओर से मधुर वायु बहती हुई लक्षित हुई। प्रिय से मिलाप करने वाले मधुर शब्दों में कौआ कुलकुलाने लगा। बायीं ओर मधुर मुसकान के साथ लावा पक्षी दिखाई दिया—और दाहिनी ओर मैना दिखाई दी। दाहिनी आँख और बाहु फड़क कर यह सूचित करने लगे मानो यह कह रहे हो कि इसी मार्ग से जाओ।

जिणु समरंतु संचलिउ धीरु वणि हिंडइ रोमंचिय सरीरु ।
सुणिमित्तइं जायइं तासु ताम गयपयहिणंति उड्डेवि साम ।
वामंग सुत्ति रुहुरुहइ वाउ पिय मेलावउ कुलकुलइ काउ ।
वामउ किलिकिंचिउ लावएण दाहिणउं अंगु दरिसिउ मएण ।
दाहिणु लोयणु फंदइ सबाहु णं भणइं एण मग्गेण जाहु । (४,५) ।

वन-वर्णन

यद्यपि मैनाग द्वीप के वर्णन में कवि ने कुछ वृक्षों के नाम गिनाये हैं, पर कवि की प्रणाली परिगणनात्मक न हो कर उस द्वीप में मुख्यता से पाये जाने वाले पेड़ों को दर्शाना है। वन-वर्णन में भी प्रमुख पशु-पक्षियों के नाम कहे गये हैं, पर कवि वन की भयंकरता और उस मे भविष्यदत्त का इधर-उधर भटकना बताना चाहता है। भविष्यदत्त मरण के भय को छोड़ कर उस वन मे घुस गया, जहाँ सिंह प्रवर्तमान था और जहाँ

दिशा मण्डल नही दिखाई देता था। जहाँ पर दुःख का प्रभाव स्पष्ट था, उस भीषण वन में घूमता हुआ वह बडी कठिनाई से क्रोध से भरे हुए मृगेन्द्र को देख सका। किसी स्थान पर हाथियों के झुण्ड के झुण्ड थे और कही पर काले-काले गैंड़े किलोलें कर रहे थे। भविष्यदत्त ने देखा कि कही दर्प से भरे हुए हाथी चले जा रहे है, जो न तो किसी से नष्ट किये जा सकते हैं और न जिन्हे कोई रोक ही सकता है। कहीं पर गाढे काजल की तरह काले-काले सुअर धरती पर लोटते हुए और जलाशयों से निकलते हुए दिखाई दे रहे थे। कही पर नाचते हुए मोर अपने आप को भूल रहे थे। कही पर भयंकर शब्द हो रहा था और किसी स्थान पर बाँसों की पंक्ति में दावानल सुलग रहा था।

पइट्ठो वणिदो वणे तम्मि काले पइट्ठो तहिं दुण्णिरिक्खे खयाले।
दिसामंडलं जत्थ णाउं अलक्खं पहायं पि जाणिज्जए जम्मि दुक्खं।
भमंतो सुभीसावण तं वणं सो णियच्छेइ दुप्पेच्छराइं सरोसो।
कहिंचिप्पएसे सजूहं गइंदं महाणीलकल्लोल गण्ड सणिहं।
कहिंचिप्पएसे णिएइं णरिंदं ण णट्ठं ण रुद्धं सदप्पं मइंदं।
कहिंचिप्पएसे घणं कज्जलाहं गय भुंडि णीसावराह वराहं।
कहिंचिप्पएसे मऊरं पमत्तं णडतं पि अप्पाणय विण्णडतं।
कहिंचिप्पएसे समुण्णोण्णघोसो हुओ पायडो वंसयाले हुयासो। (४,३)

रूप-वर्णन

आलोच्य ग्रन्थ मे रूप-वर्णन कई स्थलों पर हुआ है। कमलश्री के सौन्दर्य का वर्णन करता हुआ कवि कहता है कि वह गोल, सुन्दर कटिवाली तथा सुन्दर एवं विकसित स्थूल स्तनों से युक्त थी। उस का मुख पूनम के चन्द्रमा जैसा गोल और सुन्दर था। बडी-बडी आँखें नये कमल के पत्ते के समान थीं। वह स्थिर थी और कलहंस के समान चाल रखती थी। यह तो उस के बाह्य सौन्दर्य का वर्णन हुआ। अन्तरंग में वह इतनी उज्ज्वल, पतिव्रता और भक्ति से ओतप्रोत थी कि कवि ने उसे "अखलिय जिणवर-सासणिभत्ती" कह कर उस की पूर्ण विशेषताओं को सरसता से अभिव्यक्त कर दिया है।

सा कमलसिरी णाउ तहु पत्ती अखलिय जिणवरसासणिभत्ती।
समचक्कल कडियल सुमणोहर वियडरमणघणपीणपओहर।
छणससिबिंबसमुज्जलवयणी णवकुवलयदलदीहरणयणी। (१,१२)

सरूपा के रूप का वर्णन करता हुआ कवि कहता है कि वह पूनम के चन्द्रमा के समान सुन्दर और भौंरे की भाँति मधुर वचनालाप करने वाली थी। दाँतो की पंक्ति की प्रभा से उस का मुख प्रहसित था। सकल कला-कलापों से पूर्ण वह अभिनव लक्ष्मी के समान अवतीर्ण जान पडती थी।

पुण्णिममइंद रुंदससिवयणी दतपंतिपह पहसिय वयणी।
णाइ अवइण्णी (३ २

यद्यपि आलोच्य ग्रन्थ मे वर्णनों मे आवृत्ति नही दिखाई देती है, पर कुछ नये उपमानो को छोड़ कर प्राचीनता का ही अधिक आश्रय लिया गया है। अतएव नख-शिख-वर्णन की भी प्रवृत्ति मिलती है। काम-क्रीड़ा का वर्णन, मान धारण करना और प्रणयरोष आदि का यथास्थान उल्लेख हुआ है। कवि ने नख से ले कर शिख तक का पूरा वर्णन किया है। वर्णन-शैली पुरानी होने पर भी काव्यगत उपमान नये है। उदाहरण के लिए भविष्यानुरूपा के अंग पर रोमावलि (त्रिवलि) ऐसी शोभित होती थी जैसे कोई चीटी की कतार हो।

रोमावलि वलि अंगि विहावइ थिय पिपीलिरिंछोलि व णावइ। (५,९)

इसी प्रकार उस की चारों ओर से गोल और पतली कमर बीचोबीच मे इतनी पतली थी कि करतल की मुट्ठी मे समा जाती थी।

समचक्कल कडियलु किसु मज्झउ णज्जइ करयलु मुट्ठिहि गिज्झउ। (५,९)

तथा रत्नाभरण से विभूषित उस का कण्ठ ऐसा शोभित हो रहा था जैसे कि समुद्र के उपकण्ठ में तटवर्ती श्री भूषित होती है।

रयणाहरण विहूसिय कंठि वेलासिरि व उवहि उवकंठि। (५,९)

संक्षेप मे कवि मे, गुण और क्रिया के योग से सम्पूर्ण चित्र को अभिव्यजित करने की अद्भुत क्षमता है। मुक्तक काव्य की यह स्वतन्त्र विशेषता मानी जाती है[1]। वस्तुत. अप्रस्तुत-योजना जाति, गुण, क्रिया, शक्ति एव स्वभाव के आधार पर की जाती है। कवि किसी एक का अवलम्बन ले कर दोनो पक्षो का आधारभूत चित्र स्पष्ट कर देता है। यह विशेषता खड़ी बोली की कविता मे ही नही अपभ्रंश की कविता मे भी पूर्ण रूप से विद्यमान है। छायावादी कविता मे अवश्य नवीन अप्रस्तुत योजना दिखाई देती है, जिस में प्रस्तुत अप्रस्तुत मे ही अन्तर्निहित नही होता वरन् प्रस्तुत ही अप्रस्तुत बन जाता है।[2]

प्रस्तुत काव्य मे अप्रस्तुत-विधान, क्रिया-व्यापार और सादृश्य दोनो ही रूपो में हुआ है। नीचे की पंक्तियो मे भविष्यानुरूपा के गुण और उस के सौन्दर्य को दर्शाने के लिए कवि ने क्रियागत साम्य की ओर संकेत किया है—

णं वम्महभल्लि विंधणसीलजुवाणजणि।
तहि पिक्खिवि कंति विभिउ झत्ति कुमारु मणि॥ (५, ८)

अर्थात् युवकों के हृदय को बीधने के लिए कामदेव के भाले के समान उस सुन्दरी को देख कर कुमार भविष्यदत्त का मन तुरन्त ही आश्चर्य से चकित हो गया।

यहाँ 'कुमारुमणि' कितना सार्थक प्रयोग है।

---

१. मुक्तकेषु हि प्रबन्धेष्विव रसबन्धाभिनिवेशिन कवयो दृश्यन्ते, यथा ह्यमरुकस्य कवेर्मुक्तक शृङ्गाररसस्यन्दिन प्रबन्धायमाना प्रसिद्धा एव ध्वन्यालोक तृतीय उद्योत

२. डॉ मोहन अवस्थी खड़ी बोली काव्य की अप्रस्तुत-योजना हिन्दुस्तानी भाग २३ अक १

मैनागद्वीप का वर्णन

यह वर्णन वास्तविक और लोक-जीवन से भरपूर है। गजपुर से चल कर सब लोग समुद्र-तट पर पहुँचते हैं और वहाँ से पोत में बैठ कर मैनागद्वीप के तट पर पहुँचते हैं। सभी प्रमुख लोग उतर पडते हैं। देखते हैं—सामने आँखों को सुहावना लगने वाला, दुर्लंघ्य, दुर्गम और बडी कठिनाई से भ्रमण करने पर भी अत्यन्त प्यारा मैनाग नामक पर्वत स्थित है। उसी के घने पेडों के पास मैनागद्वीप है। वे सब लोग वहीं पर घूमने लगे। कुछ लोग आलस्य को छोड कर पानी लाने लगे। कुछ घडे भरने लगे और कुछ जो घडे भर कर ला रहे थे उनको हाथों में सँभालने लगे। उस वन में चंचल तमाल, ताल, मालूर, माल और सलई आदि के सुन्दर वृक्ष थे। कहीं पर कमलों से भरित सरोवर शोभित हो रहे थे। किसी ओर पानी के झरने प्रतिध्वनित हो रहे थे। हाथी के झुण्ड घूम रहे थे। सुन्दर वृक्षों के प्रसून मकरन्द से भरित सुगन्ध बिखेर रहे थे। किसी ओर मनोहर किसलय और पत्ते थे तो किसी ओर रस से भरे हुए फल।

> तरलतमालतालमालूरमालसल्लइद्रुमरवण्णु।
> निक्खइ कहिमि ताइं पकयसराइं सयवत्तसोहियाइं।
> कत्थइ पाणियाइं अवमाणियाइं करिजूह डोहियाइं।
> कत्थइ णिज्झराइं पडिरवकराइं जलरंगु भूसियाइं।
> वरतरुकुसुमगंधपरिमलसुयघमयरंदमोसियाइं।
> कत्थइ मणहराइं किसलयहराइं दलवहल तलाइं। (३,२४)

यह पूरा वर्णन व्यावहारिक जीवन की भाँति जाना-माना और पहचाना-सा लगता है। यही इस की विशेषता है। घरेलू बातों का समावेश कर कवि ने लोक-जीवन को ही अभिव्यक्त कर दिया है। कवि की यह प्रवृत्ति स्वाभाविक जान पड़ती है। क्योंकि तेल चढाने के वर्णन में तो अत्यन्त स्पष्ट है ही, पर वसन्त-वर्णन में भी हमें उस युग के लोक-जीवन की झाँकी सहज रूप में दिखलाई पड़ती है।

प्रकृति-वर्णन

प्रकृति का काव्य में अत्यन्त महत्त्व है। जीवन की सुख-दुःखात्मक अनुभूतियों में कवि की भावनाओं का प्रकृति से साहचर्य स्थापित करना स्वाभाविक ही है, क्योंकि वह उस से प्रेरणा, उल्लास और आनन्द ही नहीं वरन् अपनी मनःस्थिति का साम्य भी प्राप्त करता है। यथार्थ में मनुष्य हृदय की विविध भावात्मक अनुभूतियाँ प्रकृति से प्रभावित हो कर काव्यात्मक रूप में निबद्ध देखी जाती हैं। प्रकृति मानव की अन्तः-प्रकृति और बाह्य प्रकृति दोनों को अतिशय अनुरंजित एवं प्रभावित करती है। संस्कृत-काव्यों में प्रकृति चित्रण शुद्ध परिस्थिति योजना के लिए आलम्बन रूप में दृष्टिगोचर होता है वाल्मीकि म प्रकृति का यही स्वरूप देखने को मिलता है। परवर्ती

काल में जब दृश्यकाव्यो की रचना होने लगी और दोनो काव्य-धाराएँ एक बिन्दु पर (रस की दृष्टि से) केन्द्रित हो गयीं, सम्भवतः तभी रस के उद्दीपन के लिए उद्दीपन रूप मे प्रकृति चित्रण भो आवश्यक हो गया। वस्तुतः भावो की स्वाभाविक अभिव्यक्ति किसी भी रूप-विधान मे हो सकती है। वह शैली या विषय के अनुसार न हो कर मनःस्थिति और घटनाओ के प्रभाव के अनुकूल होती है। इसलिए सम्भवत आलम्बन पक्ष का सर्वप्रथम सन्निवेश हुआ। उद्दीपन रूप में प्रकृति-चित्रण संस्कृत के नाटको में या मुक्तक रूप मे मिलता है। प्रबन्धकाव्य मे प्राकृतिक दृश्यो का विधान संस्कृत मे आचार्य दण्डी, राजशेखर और विश्वनाथ ने किया है और हिन्दी मे इस का विचार पं० रामचन्द्र शुक्ल ने किया है। मुख्य रूप से उस की चार विधाएँ मानी जा सकती है—१ आलम्बन रूप मे, २ उद्दीपन रूप मे, ३. अलंकृत शैली मे और ४. अप्रस्तुत रूप मे।

प्रस्तुत काव्य मे आलम्बन रूप में तथा लोकशैली मे मुख्यतः प्रकृति-चित्रण वर्णित है। वन-वर्णन और वसन्त-वर्णनों को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि कवि ने स्वाभाविक-रीति से कितना सुन्दर वर्णन आलम्बन रूप मे किया है।[1] अलंकृत रूप मे सन्ध्या का एक दृश्य देखिए—

थिउ वीसवंतु खणु इक्कु जाम　　दिणमणि अत्थवणहु ढुक्कु ताम।
हुअ संझ तेय तविरसराय　　रत्तंबरु णं पंगुरिवि आय।
पहिपहिय थक्क विहडिय रहंग　　णिय णिय आवासहो गय विहंग।
मउलियरविंद वम्महु वितट्टु　　उप्पण्णु बालमिहुणहु मरट्टु।
परिगलिय संझ तं णिडवि राइ　　असइ व संकेयहु चुक्क णाइं।
हुअ कसण सचत्तिव मच्छरेण　　सिरि पहय णाइं मसि खप्परेण।
हुअ रयणि वहलकज्जलसमील　　जगु गिलिवि णाइं थिय विसमसील।
अवरोप्परु पयडं तेहिं गुज्झु　　मिहुणहिं पारंभिउ सुरय जुज्झु।
एहइ पडिवण्णि करालि कालि　　गहभूयजक्खरक्खसवमालि।
वणि विसम विएसि विचित्त पत्तु　　तह वि हुअ कपु कमलसिरिपुत्तु। (४,४)

अर्थात् भविष्यदत्त के उस शिला पर बैठने के एक याम के पश्चात् ही सूर्यदेव अस्ताचलगामी हो गये। तब संझा हो गयी। रक्तिम वर्ण का सूर्य घूँघट में मुख छिपाने लगा। पथिकजन मार्ग मे ही रुक गये। चकवे अपने जोड़े से बिछुड गये। पक्षी अपने घोंसलों मे चले गये। कमल संकुचित हो गये। कामदेव मानो गर्व से भरे हुए बाल मिथुन के रूप में उत्पन्न हो गया हो। खिसकती हुई उस सन्ध्या को देख कर ऐसा जान पडता था—मानो उलटे रखे हुए हस्ततल की भाँति रजनी किसी के संकेत से फिसल पडी हो। अन्धकार क्या फैल गया था मानो सौत की डाह से कालापन छा गया था। ऐसा लगता था मानो स्याही ही खप्पर मे भर कर सिर पर पोत दो गयी हो।

---

१ वन-वर्णन के लिए द्रष्टव्य है ४ ३ मैनागद्वीप-वर्णन ३ २४ तथा　　वर्णन ८,८ ६

रात काजल-सी बहुत अँधेरी क्या थी मानो जग को लीलने के लिए कोई विषमशीला (नायिका) है। उस रात के आ जाने से मिथुनों ने परस्पर गुह्य सुरतकालीन युद्ध प्रारम्भ कर दिया था। काल के समान अत्यन्त भयंकर ग्राम ग्रह, भूत, यक्ष और राक्षसों का संचार हो गया था। इस प्रकार वन में विषमता से भरी हुई विचित्र वस्तुओं को देख कर भविष्यदत्त काँप गया।

इस प्रकार वर्णन-शैली लोक-साहित्य के अधिक निकट है। इस में कवि-समय की जो दो-चार बातें दिखाई पड़ती हैं वे शास्त्रीय परम्परा का पालन न हो कर प्रसिद्धि के रूप में प्रयुक्त जान पड़ती है। उदाहरण के लिए, प्रिया से बिछुड़ जाने के बाद भविष्यदत्त अत्यन्त दुखी होता है और समुद्र तट से फिर वन की ओर चल पड़ता है। वहाँ वह मूर्च्छित हो जाता है और उसे वन की शीतल बयार थपकी देती है।

दूसह पियविओय संतत्तउ मुच्छइ पत्तउ।
सीयलमारुएण वणि वाइउ तणु अप्पाइउ। (७,८)

यहाँ भविष्यदत्त का मूर्च्छित होना न तो कामावस्था से सम्बन्धित है और न प्रकृति के उद्दीपन से। वह पत्नी के बिछोह में इतना दुखी है कि आत्मविस्मृत हो कर अपने दुःख को न सह सकने का भाव प्रदर्शित करता है। इस लिए इस समय की मूर्च्छा विरह का अंग बन कर उस की मत स्थिति को द्योतित कर रही है। और इस लिए हम उसे भले ही काम की दशा कह लें, पर उद्दीपन रूप में शीतल पवन का बहना और भविष्यदत्त का मूर्च्छित होना नहीं कहा जा सकता। क्योंकि उस के आगे ही कवि कहता है कि बार-बार भविष्यदत्त उस नागमुद्रिका को देख कर प्रिया की स्मृति में सन्तप्त हो रहा था।

करयलि णायमुद्द संजोइवि पुणु पुणु जोइवि। (७,८)

संक्षेप में, यहाँ प्रकृति विरह का अंग न बन कर स्वतन्त्र रूप से इस काव्य में लक्षित होती है, जिस में मनुष्य की भावनाएँ संवेदित हो कर प्रकृति का शृंगार करती है। अलंकृत-वर्णन में कवि की कल्पना ही मुख्य होती है। वह शास्त्रीयता से न बँध कर लोक-जीवन के स्वतन्त्र वातावरण में चित्रित करता है और यही उस की विशेषता है।

भाव-व्यंजना

प्रबन्ध में परिस्थितियों और घटनाओं के अनुकूल मार्मिक स्थलों की संयोजना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मानी जाती है, क्योंकि कवि की प्रतिभा और भावुकता का सच्चा परिचय उन्हीं स्थलों पर मिलता है, जिन में मनुष्य हृदय की वृत्तियाँ सहज रूप में प्रसंग को हृदयंगम करते ही भावनाओं में तन्मय हो जाती हैं। भावों के उतार-चढ़ाव में घटनाओं का बहुत कुछ योग रहता है। कवि की दृष्टि में उन का विशेष महत्त्व स्वाभाविक रूप में आकलित हो जाता है इसी को प० शुक्ल ने कहा है कि प्रबन्ध

कार कवि की भावुकता का सब से अधिक पता यह देखने से चलता है कि वह किसी आख्यान के अधिक मर्मस्पर्शी स्थलों को पहचान सका है या नहीं।[1] भविष्यदत्तकथा मे निम्नलिखित स्थल अत्यन्त मर्मस्पर्शी कहे जा सकते हैं--बन्धुदत्त का भविष्यदत्त को अकेला मैनागद्वीप मे छोड देना और साथ के लोगों का सन्तप्त होना, माता कमलश्री को भविष्यदत्त के न लौटने का समाचार मिलना, बन्धुदत्त का लौट कर आगमन, कमलश्री का विलाप और भविष्यदत्त का मिलन आदि।

एक भाई का अपने भाई को निर्जन बीहड द्वीप में नितान्त अकेला छोड देने से बढ कर मार्मिक करुण दृश्य अन्य क्या हो सकता है ? भविष्यदत्त की उस समय वही दशा होती है जो किसी सामान्य जन की हो सकती है। वह धरती पर हाथ पटकता है, छाती कूटता है और अत्यन्त दुखी हो कर कहता है कि माता ने पहले ही कहा था, पर मैं नही माना। मेरा कार्य ही नष्ट हो गया। इस घायल अवस्था से मेरा कहाँ उद्धार होगा ? मृत्यु ही मेरे सामने आ गयी है। इस प्रकार विविध भावों मे डूबता-उतराता भविष्यदत्त अपने भाग्य को कोसता हुआ कह उठता है कि मेरा भाग्य ही उलटा है, किसी को क्या दोष ? अच्छा हुआ कि जिस अकार्य के करने से मुझे पाप कर्म का बन्धन हुआ था वह आज दूर हो गया। मुझे बिना किसी निमित्त कारण के इतना दुःख बदा हुआ था सो मिल गया, पर कुल को कलक लग ही गया। और अब अधिक विषाद नही करना चाहिए। जो कुछ होना होगा सो होगा। इन भावो को भाता हुआ वह सामने फैले हुए वन मे प्रविष्ट हो गया।

> करु महियलि हणेवि उरि कंपिउ   ण चलिउ जं चिरु जणणिह जंपिउं।
> णट्ठु कज्जु कहिं अब्भुद्धरणउं वणि   असमाहिइ आयउ मरणउ।
> अण्णण्णइं चिंतिज्जति मणि   खलविहि अण्णण्णइं सरइ।
> सुट्ठु वि वियड्ढु गुणसय भरिउ   दइवि परम्मुहु किं करइ। (४।१)

उक्त प्रसंग मे कवि ने भविष्यदत्त की विविध मानसिक दशाओं की विस्तार से अभिव्यंजना की हैं, जिस में मनुष्य की अनुभूतियों का तादात्म्य सहृदय से अपने आप हो जाता है। बन्धुदत्त के डाँटने-फटकारने पर पोत चला दिया जाता है और भविष्यदत्त अकेला छोड़ दिया जाता है। किन्तु उस के उन वचनों को सुन कर नागरिक जनों के सिर पर मानो वज्रदण्ड ही गिर पडता है। सभी लोग कहते हैं कि यह अच्छा नही हुआ। हम सब का सब वाणिज्य निष्फल गया। यह तो हमारे साधुपन की लज्जा का व्यापार हुआ है। न केवल यात्रा, न धन, न मित्र, न घर, न धर्म, न कर्म, न जीव, न शरीर, न पुत्र, न पत्नी वरन् इष्टजन भी बहुत दूर गजपुर (हस्तिनापुर) देश मे स्थित है। यहाँ तो निश्चय से ही अधर्म ने धर्म को लील लिया है। और धर्म के नाश

---

१. प० रामचन्द्र शुक्ल गोस्वामी तुलसीदास, सप्तम संस्करण, पृ० ७८।

हो जाने से सभी कर्म अब अकर्म हो गये हैं। सभी लोग अत्यन्त सन्तप्त हो कर कहने लगे कि भविष्यदत्त को मार कर बड़ा भारी दुष्कृत्य किया गया।

गयं णिप्फन्द ताम सव्व वणिज्जं हुअं अम्ह गुत्तम्मि वज्जावणिज्जं।
ण जत्ता ण वित्तं ण मित्तं ण गेहं ण धम्मं ण कम्मं ण जीयं ण देहं।
ण पुत्तं कलत्तं ण इट्ठं पि दिट्ठं गयं गयउरी दूरदेसे पइट्ठं।
खयं जाइ पुण्णं अधम्मेण धम्मं विणट्ठेण धम्मेण सव्वं अकम्मं।
कयं दुक्कियं दोहएणं हएणं सुहायारभट्ठेण दुट्ठेण पुण्णं। (३ २६)

बन्धुदत्त को कंचनद्वीप की यात्रा से घर लौट कर आने पर जितनी अधिक प्रसन्नता है उस से कही अधिक नगर के लोगों को हर्ष होता है। यह समाचार मिलते ही कि लोग व्यापार कर नदी-तीर पर आ पहुँचे हैं, नगर के सभी लोग हर्ष से भर कर दौड पड़ते हैं। वे इतने अधिक हर्ष से उल्लसित हैं कि किसी ने सिर का कपड़ा कही पहन लिया है, किसी ने शीघ्रता से हाथों के कंगन कहीं के कहीं पहन लिये है, कोई पुरुष किसी स्त्री से ही आलिंगन करने लगा, किसी के अंग का प्रतिबिम्ब कही और पड़ने लगा, किसी ने किसी दूसरे का ही सिर चूम लिया। इस प्रकार सम्भ्रम और पुलक से भरे हुए लोग अपने सभी कामो को छोड कर प्रिय की कुशल-अकुशल की बात करते हुए नदी-तट पर पहुँचे। धनवइ ने आँखो में प्रेम के आँसू भर कर गद्गद वाणी से बेटे की कुशल-क्षेम पूछी।

धाइउ सयलु लोउ विहडप्फडु केणवि कहुवि लयउ सिरकप्पडु।
केणवि कहुवि छुड्डु करिकंकणु केणवि कहुवि दिण्णु आलिंगणु।
केणवि कहुवि अंगु पडिबिंबउ केणवि कोवि लेवि सिरु चुंबिउ।
गय वइयहिं कम्मइ मेल्लियइं णयणइ हरिसंसुजलोल्लियइं।
पियकुसलाकुसलु करतियइ चित्तइ संदेहविडंबियइ।
धणवइ अंसुजलोल्लियणयणउ पुच्छइ पुणुवि सगग्गिरवयणउ। (८.१—७)

इन स्थलो पर कवि की सूझ-बूझ का और सामाजिक अनुभूतियों का पता लगता है कि कवि उन परिस्थितियो और घटनाओं से कितना प्रभावित है और उस के मन पर उन की क्या मानसिक प्रतिक्रिया होती है। विचार करने पर स्पष्ट हो धनपाल की भावुकता का परिचय मिल जाता है। दोनों वर्णनों में कवि ने जहाँ मानवीय संवेदनात्मक भावानुभूतियो का प्रकाशन किया है वही भविष्यदत्त के साथियों की मनोभावनाओंमे ग्लानि व्यक्त कर मनोविज्ञान का भी समावेश किया है।

इधर वसन्त का आगमन होता है और उधर बन्धुदत्त अपने घर लौटता है। नगर मे प्रतिदिन मंगलकलश सजाये जाते हैं, उत्सव मनाये जाते हैं। इसी समय कमलश्री किसी से सुनती है कि सब लौट कर आ गये पर भविष्यदत्त नहीं आया। उस के मन की जो वृत्ति होती है उसे कवि के शब्दों में सुनिए—

तं णिसुणिवि सहसत्ति चमक्किय उट्ठिय सोय दवग्गि दमक्किय ।
गुज्झावरण गूढ सुणिउत्तहं घरि घरि भमिय णयरि वणिउत्तहं ।
कारणु किंपि कोवि णउं साहइ पर पियवयणु चवइ मुहु चाहइ । (८,११)

अर्थात् उस बात को सुन कर वह बिजली की भाँति सहसा ही चमक गयी। जैसे ही उठ कर खड़ी हुई वैसे ही मानो समूचे शरीर में दावाग्नि दमक गयी। किन्तु फिर भी वह बड़ा-सा घूँघट डाल कर नगर के बड़े-बड़े वणिक्पुत्रों के घर-घर घूमी। कारण कोई भी कुछ नही सुनाता है, पर मीठे वचन कह कर सभी अभिलाषा और चाह प्रकट करते है। और फिर बन्धुदत्त से यह सुन कर कि भविष्यदत्त किसी द्वीप में रुक गया है, कुछ दिनों में आ जायगा, उस की जो स्वाभाविक चेष्टाएँ होती हैं उस का वर्णन देखिए—

तहु जपतहु वयणु पलोइवि थिय कवोलि करयलु संजोइवि ।
णउ मुंदरइं चवतहु वयणइ थोरसुवहिं णिरुद्धइं णयणइं । (८,१२)

अर्थात् कहते हुए बन्धुदत्त के मुंह को देख कर कमलश्री हथेली पर कपोल को रख कर स्थित हो गयी। वह भाव-मुद्रा मे पूरी तरह लीन हो गयी। अब कुछ भी नही बोलती है। बड़ी-बड़ी आँसू की बूँदें बहने लगी, जिस से आँखे निरुद्ध हो गयी। कमलश्री विलाप करती है कि हा हा पुत्र! मैं तुम्हारे दर्शन के लिए कब से उत्कण्ठित हूँ। चिर काल से आशा लगाये बैठी हूँ। कौन आँखों से यह सब देख कर अब समाश्वस्त रह सकता है? हे धरती! मुझे स्थान दे, मै तेरे भीतर समा जाऊँ। पूर्व जन्म में मैंने ऐसा कौन-सा कार्य किया था, जिस से पुत्र के दर्शन नही हो रहे है। इस प्रकार के वचनों के साथ विलाप करते हुए उसे एक मुहूर्त बीत गया।

हा हा पुत्त पुत्त उक्कठियइं बोरंतरिकालिपरिट्ठियइं ।
को पिक्खिवि मणु अब्भुद्धरमि महि विवरु देहि जि पइसरमि ।
हा पुव्वजम्मि किउ काइ मइं णिहि दसणि जं णयणाई हयइं । (८,१२)

अन्त में वह कहती है कि मेरे हृदय का आधार एक ही पुत्र है और वह भी अब सन्देह मे है।

एक्कु पुत्तु हियवइ साहारणु तासुवि गउ संदेहहु कारणु । (८,१६)

माँ की कितनी मार्मिक वेदना ऊपर की पंक्तियो मे निहित है। कमलश्री को इस समय उतना ही दुःख होता है जितना कि श्री रामचन्द्र जी के द्वारा सीता के परित्याग पर सीता जी को होता है। वस्तुतः इन मानवीय भावनाओं का यथार्थ चित्रण करना ही सच्चा कवि-कर्म है। भविष्यदत्त अन्त में एक दिन लौट कर घर आ ही जाता है। विमान को घर के आँगन मे उतरा हुआ देख कर कमलश्री भगवान् का स्मरण करती हुई दौड़ती आती है। भविष्यदत्त माता से कहता है कि हे कमले! क्यो दौड़ रही हो? किन्तु वह पुत्र के वचनों पर ध्यान न दे कर बड़ी तेजी से भागती हुई हर्ष से

फूली नही समाती तथा वेग से पुत्र के शरीर से चिपट जाती है। कमलश्री की आँखों से आँसू बह रहे है। उसे कुछ भी नही सूझ रहा है, किन्तु नयनों से वह सुत-दर्शन का सुख प्राप्त कर रही है।

> घरपंगणि पकयसिरि धावइ अज्जियअंगवयणइं परिभावइ।
> भविसयत्तु घणु घरि संपेसइ माणिभद्दु पियवयणइ भासइ।
> सुव्वयविहिमि जाम णवकारिय तो भविलक्खइ सग्ग समारिय।
> हलि हलि कमलि कमलि कि धावहि पुत्तहो वयणु काइं ण विहावहि।
> तं णिसुणिवि ण्हसेण पधाइय हरिसि णियय सरीरि ण माइय।
> सरहसु दिण्णु सणेहालिंगणु णिवडिवि कमलकमल्हु थिउ णंदणु।
> मुहदंसणु अल्हंतइं णयणइं असु मुआवियाइं जह रयणइं। (९,७)

कितना मार्मिक दृश्य है! पढने के साथ ही आनन्द के अश्रु छलछला आते हैं। इतना ही नही, कवि आगे वर्णन करता है कि उसी क्षण कमलश्री का मातृत्व उमड़ आता है और चौबीसों सोतों से दूध झरने लगता है। वह पुत्र के आगमन का उत्सव मनाने लगती है। शुभ मंगलकलश सजाये जाते है। दधि, दूर्वा और अक्षत से पूजन कर पुत्र की न्योछावर फेरी जाती है।

> णिम्मच्छणउ करिवि णियपुत्तहि वहइ खीरु चउवीसहिं सोत्तहिं।
> सुहमंगलजलकलससमारिय दहिदुव्वक्खय सिरि संचारिय। (९,७)

इन वर्णनों से स्पष्ट है कि कवि की भाव-व्यंजना वैयक्तिक न हो कर सामाजिक अधिक है। और इसलिए हम कह सकते है कि आलोच्यमान रचना लोकमंगल की भावनाओं से अनुप्राणित है। सामाजिक शिष्टाचार, मर्यादा, व्रत, कर्तव्य-विधान आदि से समूची रचना परिव्याप्त है। समाज और लोक-जीवन का स्थान-स्थान पर चित्रण है, जो इस काव्य की अपनी विशेषता है। उन में केवल भावों की ही अभिव्यक्ति नही है, वरन् उन का उत्कर्ष भी अभिव्यज्जित है। इस प्रकार नाना भावों में हम कवि की रसात्मकता और भावुकता से ओतप्रोत हो काव्य की मार्मिकता मे सहज से प्रभावित होते है। प्रभावान्विति और रस-व्यंजना की दृष्टि से भविष्यदत्तकथा उत्कृष्ट कोटि की रचना है। मुख्य रूप से शृंगार, वीर और शान्त रस का परिपाक इस में हुआ है। परन्तु इस का अंगी रस कौन है, यह एक जटिल प्रश्न है। यदि आधिकारिक कथा का विवेचन करें तो स्पष्ट ही वीर रस को प्रधान मानना होगा, क्योंकि भविष्यदत्त को, सिन्धु राजा को पराजित कर दिये जाने पर ही वास्तविक रूप से राज्य की प्राप्ति होती है, और सुमित्रा के साथ उस का विवाह होता है। युद्ध मे उसे शौर्य-वीर्य का परिचय देना पड़ता है। नायक की महत्ता का पता हमें इसी स्थल पर लगता है। फिर भविष्यदत्त का जीवन साहसिक कार्यों से भरपूर रहा है। अतएव सरलता से नायक की फल-प्राप्ति के अनुसार वीर रस प्रधान माना जा सकता है भविष्यदत्त

युद्धवीर ही नहीं धर्मवीर, कर्मवीर और दानवीर भी है। उदारता, धीर-वीरता और साहस आदि गुण उस के जीवन मे कूट-कूट कर भरे हैं। और इसीलिए लेखक ने उसे साधारण पुरुष न कह कर महापुरुष कहा है।

यद्यपि मुख्य कथा से वीर रस का घनिष्ठ सम्बन्ध है, पर वह परिणति मे शृगार से सम्बन्धित है, क्योंकि युद्ध-वर्णन के मूल मे राज्य-प्राप्ति न हो कर स्त्री की संरक्षा थी। इसलिए फलागम मे अन्तर आने से यहाँ वीर रस प्रधान न हो कर शृगार-रस मुख्य माना जायेगा। किन्तु ग्रन्थ का पर्यवसान शान्त रस मे हुआ है, और इसलिए शान्त मुख्य कहा जाना चाहिए। कथाकाव्य का पूर्वार्द्ध निश्चय ही शृगार रस की मधुर व्यंजना से अभिव्यंजित है। विवाह, कामक्रीडा, वियोग और मिलन आदि ही इस की मुख्य विषय-वस्तु है। जीवन के उदात्त प्रेम का चित्रण करना ही कवि के काव्य-व्यापार का मुख्य प्रयोजन है। इसलिए शृगार की व्यंजना मुख्य मानी जा सकती है। परन्तु कथा की नियोजना सोद्देश्य हुई है। इस मे श्रुतपंचमी व्रत का माहात्म्य मुख्य रूप से वर्णित है। भविष्यदत्त का उद्देश्य धर्म, अर्थ या काम की प्राप्ति नहीं है। वह किस प्रकार भवान्तरो का उच्छेद कर मोक्ष प्राप्त करता है, यही ग्रन्थ-कार का मुख्य प्रयोजन है। और यही कारण है कि भविष्यानुरूपा के वियोग का वर्णन कवि ने विस्तार से नही किया। यद्यपि काव्य मे उपदेशात्मक अश सरस है, पर उस का कई स्थानो पर समावेश है। नायक भी संकट-काल मे धर्म का आश्रय लेता हुआ दिखाई पडता है। कमलश्री तो धर्म की प्रतिमूर्ति ही चित्रित है। मुख्य कथानक से निर्वेद मूलक भावो का पूरा लगाव है, इसलिए शान्त रस ही प्रधान है। और फिर यह तो जैन काव्यो की विशेषता ही मानी जाती है कि विभिन्न रसो की अभिव्यंजना होने पर भी उन का पर्यवसान शान्त रस मे होता है। इस प्रकार समग्र प्रभाव मे भी शान्त रस मुख्य लक्षित होता है।

वात्सल्य का वर्णन दो स्थलो पर विशेष रूप से अभिव्यजित है। पहले स्थान पर उस की व्यजना माता के मुख से न हो कर पुत्र के वचनो मे हुई है और दूसरे स्थल पर माता का वियोग-वात्सल्य अभिव्यक्त हुआ है। दोनो ही प्रसंग मार्मिक है। यथा—

> अच्छइ जणणि कहिमि दुक्खल्लिय वहु दुज्जण दुव्वयणहि सल्लिय।
> जाइ सुइरु चितविउ मुआमइ पुत्तजम्मि दोहलयपियासइ।
> गब्भमासइं णिय कुक्खिहि धरियउ पुणु रउरवकालहु उत्तरियउ।
> णिय सरीर खीरिं परिपालिउ अणुदिणु पियवयणिहि दुल्लालिउ।
> ताहि कयावि ण किउ मइ चंगउ आयउ दुक्खें पूरिवि अंगउ। (९,१२)

अर्थात्, भविष्यदत्त से जब भविष्यानुरूपा सास-ससुर के सम्बन्ध मे पूछती है तो उस की आँखो के सामने ममतामयी माता का सजीव चित्र घूमने लगता है। वह कहता है कि मेरी माता दुर्जनों के छिदने वाले वचनों से अत्यन्त दुखी है। पुत्र-जन्म की

आशा मे उस ने बहुत दुःख पाया। मुझे नौ महीने तक कुक्षि ने धारण किया। तिना के त्यागने के रौरव काल को बिताया। अपने शरीर के दुग्ध से मेरा पालन-पोषण किया। प्रिय वचनों से वह सदा दुलार करती रही। पर मै ऐसा अभागा हूँ कि मै ने उस माता के लिए तनिक भी सुखदायक काम नहीं किया। वह दुःख मे अंगों को चूर कर समय बिता रही है।

ऊपर की इन पंक्तियों में वात्सल्य 'शोक का अंग बन कर' अभिव्यक्त हो रहा है, और विषाद संचारी भाव है। परिस्थितियों के अनुसार मानव-मन की भावनाएँ विविध मानसिक अनुभूतियों में संवलित होती प्रायः देखी जाती है। इसलिए जहाँ भविष्यदत्त मे विभिन्न भावों और अनुभावो का सचार दिखाई देता है वही माता कमलश्री मे शोक स्थायी भाव प्रतीत होता है। वह दुःख मे इतनी जड हो जाती है कि वात्सल्य अन्त मे पुत्र के चिर वियोग की आशंका मे 'शोक' में परिणत हो जाता है और करुण रस की अभिव्यक्ति होने लगती है। वह पुत्र के जीने की आशा छोड देती है और कहती है कि धरती फट जा, मैं तुझ मे समा जाऊँ। गीत शैली मे वर्णित भयानक रस का उत्कृष्ट निदर्शन है—

तओ आगओ सो अराडण्णराओ महाभीमु भाभासुरो भिण्णकाओ।
असंतो विसंतो सुपच्छण्णमित्तो कुले सुप्पहूयाग सूद्धागमित्तो।
अखोणीवलग्गो असामण्णभासो घणधार घोरो कयट्टट्टहासो।
सिरे उद्धकेसो जलंतंतरिक्खो सचम्मट्ठिसेसो भिसं दुण्णिरिक्खो।
सयाभूलयाभंगुरावत्तगत्तो दुगालोयणो दुम्मुहो रत्तणित्तो।
फुरंताहरुट्ठो समीरं गिलंतो ललंतंजीहो हम्मि उग्गिलंतो।
महापावकम्मो सुसंघट्ट गाढो कयंतुव्व कुद्धो करालुग्गदाढो। (5.17)

अर्थात् जब भविष्यदत्त उस सुन्दरी से वार्तालाप कर रहा था तभी उस अरण्य का राजा अत्यन्त भीमकाय चमचमाता हुआ वह राक्षस आ पहुँचा। कुल में जो भी अच्छे-बुरे थे वे सब इसी पिशाच के द्वारा भेदे जा चुके थे। अधपर में ही उस ने घने अँधेरे मे असामान्य भाषा मे घोष तथा अट्टहास किया। उस के सिर के ऊपर के केश प्रकाशमान अन्तरिक्ष की भाँति थे। उस के शरीर मे चमड़ा और हड्डी ही शेष रह गये थे। बडी कठिनता से वह उस समय देखा जा सकता था। उस की विकराल आँखें, भयानक मुँह और लाल-लाल आँखे सैकडो अस्थिर भूवलय के आवर्त के गर्त जान पड रहे थे। वह महान् पापकर्मी अधरो को फड़काता हुआ, पवन को लीलता हुआ, लपलपाती जीभ को निकाले हुए हर्म्य को उठाता हुआ उस भवन मे प्रविष्ट हो गया।

उक्त वर्णन मे भय स्थायी भाव विस्मय और आवेग से पुष्ट हो भयानक रस की सृष्टि कर रहा है। ऐसे दृश्य किसी भी आश्रय में अनुभावों को सहज मे ही अभिव्यक्त कर देते है। यही इस की विशेषता है। आलम्बनगत विभाव की अभिव्यंजकता यहाँ अत्यन्त स्पष्ट है

रौद्ररस की व्यंजना केवल एक ही स्थान पर हुई है, जहाँ सिन्धुनरेश की स्वत्व-छेदक बातों को सुन कर भविष्यदत्त को क्रोध आता है और उस का मुँह तमतमा जाता है। क्रोध का पूरा आवेश यहाँ भविष्यदत्त में दिखाई देता है। चित्र है—

त वयणु सुणेविणु भविसयत्तु णियकुल विवाय परिहवण तत्तु।
आवेसवेस विप्फुरिय णयणु जंपिउ सरोसु णिद्दुरिय वयणु।
अहु दिट्ठु तुम्हि आयहु अगण्णु वाणियउ वुत्तु पुणु काइं अण्णु।
कुलकित्तिविणासणु मइलियसासणु कि वुल्लाविउ एहु खलु।
णीसारिवि घल्लहु लइ गलथल्लहु पावउ णिय दुव्वयणफलु। (१३,८)

अर्थात् उस के वचनों को सुन कर भविष्यदत्त ने जातिगत विपाक के पराभव से सन्तप्त हो कर क्रोध के आवेश में भर कर क्रोधपूर्वक मर्मभेदक वचनों को कहा। तुम ने देखा कि यह नगण्य (बेचारा बनिया का बेटा) है। पर ऐसा मत समझना। तुम ने यह बनिया से कहा सो ठीक, पर अन्य किसी से मत कहना। अपनी कुल-कीर्ति का विनाश करने के लिए, शासन को मैला करने के लिए इस दुष्ट को कल क्यों बुलाया है? उसे अभी गरदनियाँ दे निकाल कर बाहर फेंको। वह अपने दुर्वचनों का फल भोगे।

वात्सल्य रस की अभिव्यंजना तो इस काव्य में स्वाभाविक रीति से हुई है। माता कमलश्री कई स्थानों पर पुत्र के प्रति ममतामयी भावनाओं को अभिव्यक्त करती है—वियोग-काल में और संयोग में भी। यथा—

तं सुणिवि जणेरि सिरि करपल्लव धरिवि थिय।
समसज्झसि हूअ णाइ विणिम्मिय कट्ठमिय॥ (९,१४)
दुक्खु दुक्खु णियमणि संजोइउ पुणु पुणु पुत्तहु वयणु पलोइउ।
हा तहि कालि पुत्त मइ वुत्तउ गमणु विएग समाणु ण जुत्तउ।
हा पर बन्धुवत्तु महु सज्जणु जेण पुत्त तउ ण किउ विमद्दणु।
एम करेवि सुइरु कूवारउ पुणु पुणु सिरु चुंविउ सयवारउ (९,१५)

माता केवल पुत्र के प्रति वत्सल-भाव ही प्रकट नहीं करती, वरन् उसे आत्मतोष है कि बन्धुदत्त सचमुच सज्जन है, उस ने कम से कम पुत्र का विमर्दन तो नहीं किया। इस से जहाँ कमलश्री के उदात्त चरित्र पर प्रकाश पड़ता है वहीं माँ की बेटे के प्रति सच्चे स्नेह की झलक लक्षित होती है। पुत्र के मिलने पर वह इतनी हर्षित होती है कि बहुत देर तक विलाप करती हुई बार-बार, सैकड़ों बार पुत्र का सिर चूमती रही। इस से बढ़ कर वात्सल्य का अन्य क्या दृष्टान्त हो सकता है?

यद्यपि अन्तिम सन्धि में शोक का प्रसंग आया है, पर उस में करुण रस का न तो विस्तृत संचार है और न पूरा परिपाक ही। धनवइ और भविष्यदत्त के मुनि बन जाने पर—उन की धर्मपत्नी सरूपा सुमित्रा और भविष्यानुरूपा विलाप करती हुई कहती हैं

हा चंचल पहु ववगय सणेह   कह मेल्लिवि गउ कंटइय देह ।
हा पंकयसिरि धम्माणुराइ   पइसइ दिक्खिउ हुवउ सुमाइ ।
धणवइ विणु पत्तिए नं जि गेहु   पिक्खइ पज्जलंतु दहनु देहु ।
णिंदइ अप्पाणउं काउ दीणु   नउ करिवि ण सक्कमि हउं णिहीणु ।
धण्णाइं ताइ णिम्मिवि जणाइं   छड्डेवि लग्गइ तव चरणि जाइ । (८२.३)

अर्थात् हाय ! प्रभु का चपल स्नेह बीत गया । रोमांचित शरीर वाली मुझे क्यों छोड़ गये ? हाय, कमलश्री धर्मानुरागिनी दीक्षा-ग्रहण कर अर्जिका बन गयी । वह—सुमाता हो गयी ! बिना पति के घर देखने से शरीर जलता है, प्रज्वलित होता है । इस प्रकार अपने-आप को कोसती हुई वे कहती हैं कि हम लोग तो इतने दीन-हीन हैं कि तप करने में भी असमर्थ हैं । उन लोगों को धन्य है जो सब कुछ छोड़ कर आप के चरणों में जा लगे ।

यहाँ पर तथा अगली पंक्तियों में नागरिक जनों की वेदना एवं व्यथा का अनुमान कर जो करुणा जग रही है वही शोक को अभिव्यक्त कर रही है । भाग्यनिन्दा और उच्छ्वास अनुभाव हैं, जो आवेग दैन्य और स्मृति से पुष्ट हो रहे हैं ।

इसी प्रकार हास्य रस का एक उदाहरण देखिए—

अण्णइ वुत्तु णिहालिवि अंगउ   आयहिं कड्ढिवि तिल्लु चिक लग्गउ ।
मुहि अंचलु देवि हसइ   मम्मुब्भइ तरुणियणु ।
लइ लायहु तिल्लु   बालहि उव्भंब्भरिउ तणु ॥
अण्ण भणइं म हसह वराई नं कुण संवह मुत्तवराई ।
अण्ण भणइ णियकज्जवहुल्ली विण सुनि किय गलि कंठुल्ली । (९, २१-२२)

अर्थात् भविष्यानुरूपा तैल के लिए सज्जित है । तैल लगाया जाने वाला है । किन्तु कोई सयानी स्त्री उस के अंगों को भली भाँति देख कर कहती है कि तैल तो बहुत पहले ही लग चुका है । चतुर तरुणियाँ उस की बात समझ कर मुँह में आँचल दे कर हँसती हैं । लो, तैल लाओ । बाला की देह क्लान्त हो रही है । सुभगे, हँसो मत—इस प्रकार हास-परिहास के बीच नगर की स्त्रियाँ ऐसी बातों का कथन करती हैं कि पाठक के हृदय में आश्रयगत अनुभूति विस्फुरित हो रसात्मकता का संचार कर देती है । स्पष्ट ही यहाँ हास्य प्रसन्नता से अभिव्यक्त न हो कर औत्सुक्य से तथा चपलता से अनुभूयमान प्रतीत हो रहा है ।

उक्त भावनात्मक प्रसंगों को देखने से पता चलता है कि भविष्यदत्तकथा में विभाव भाव और अनुभावों की सुन्दर अभिव्यंजना हुई है । लगभग सभी संचारी भाव विविध स्थलों पर संचरणशील लक्षित होते हैं ; यही नहीं, उन की मूल स्थिति का —— चेष्टाओं द्वारा अभिव्यक्त हुआ है । इसी को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है कि साहित्य के ग्रंथों में संचारियों के बाह्य चिह्न भी गिनाए गए हैं, जो वास्तव में

उन के अनुभाव ही है। जैसे, गर्व मे तन कर खड़ा होना, अवज्ञा करना, अँगूठा आदि दिखाना,—अवहित्था मे अनभीष्ट कार्य की ओर प्रवृत्ति दिखाना, दूसरी ओर देखना, चिन्ता मे दीर्घ नि.श्वास लेना, सिर झुकाना, हाथ पर गाल रखना, माथा सिकोडना—इत्यादि।[1] इस प्रकार भाव-विधान मे काव्य विविध विशेषताओं से समन्वित और पुष्ट है।

वियोग-वर्णन

संयोगकालीन वास्तविक सुख का अनुभव करने के लिए वियोग एक अनिवार्य भूमिका है, जिस में मनुष्य का प्रेम संचित हो कर रागानुराग को रग-रग मे व्याप्त कर देता है। अतएव वियोग के बिना संयोग का महत्त्व न तो लोक मे है और न काव्य मे। वाल्मीकि से ले कर आज तक जितने प्रबन्ध काव्य लिखे गये हैं उन मे थोडा-बहुत वियोग-वर्णन अवश्य मिलता है। किन्तु शैलीगत भिन्नता से उन मे कुछ न कुछ भेद अवश्य दृष्टिगोचर होता है। कहीं-कहीं यह वर्णन श्लिष्ट होता है और कहीं-कहीं वैयक्तिक अनुभूतियो की मार्मिक अभिव्यंजना से ओत-प्रोत। लेकिन कहीं-कहीं इन दोनो रूपो से भिन्न लोकगत सुनी हुई बातो के आधार पर कवि तथ्यपरक वर्णन कर उस मन स्थिति को अभिव्यक्त करता है। आलोच्यमान कथाकाव्य मे संयोग और वियोग दोनों के वर्णन इसी रूप में वर्णित है।

प्रकृति मे सहानुभूति की कल्पना कर या मानसिक वृत्तियो को प्रकृति सुन्दरी के मनोरम क्रियाकलापो मे निबद्ध कर जो तादात्म्य स्थापित हो जाता है—उस मे यही प्रतीति होने लगती है कि प्रकृति हमारे सुख-दु ख मे साथ दे कर भावानुभावो के प्रदर्शन से सहानुभूति प्रकट कर रही है। और उद्दीपन रूप मे वही प्रकृति जब सुखद चेष्टाओ से हम मे मधुरतम भावो को भरती हुई लक्षित होती है तब वही वियोग काल मे वेदना और व्यथा को नाना क्रिया-कलापों मे प्रकट करती हुई जान पडती है। प्रकृति के इस उद्दीपन रूप का भ० क० में वर्णन नहीं मिलता। छल से भविष्यानुरूपा के बन्धुदत्त के साथ पोत मे बैठ कर चली जाने पर भविष्यदत्त बहुत दु.खी होता है। विरह से वह अत्यन्त सन्तप्त हो जाता है। बार-बार प्रिया के मुख का स्मरण एवं उस का चिन्तन करता है। किन्तु गुरुतर वियोग के वेग को सह न सकने से वह मूर्च्छित हो जाता है। इस समय शीतल पवन आ कर उसे जगाता है, तब कहीं चेतना लौटती है।

दूसह पियविओय संतत्तउ मुच्छइ पत्तउ, सीयलमारुएण वणिवाडउ तणु अप्पाइउ।
(७,८)

इस प्रकार यह वर्णन उद्दीपन रूप से बिलकुल विपरीत है।

विप्रलम्भ शृंगार के पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण में से पूर्वराग को छोड कर तीनो भेद इस मे मिलते हैं। कमलश्री पति धनवइ के मान धारण कर लेने पर घर में ही अत्यन्त दु खी हो कर वियोग मे छटपटाती है। कवि उस का वर्णन करता है—

---

१ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल रस-मीमांसा तृतीय संस्करण पृ० १८८

तं पणइणिहि पत्तु ण समप्पइ   रेम्मुम्माए मणु संतप्पइ ।
अंगइं विरहदाहु ण सहन्ति   णयणइं जित्थु णाहु तहिं जंति । (२,७)

तथा— पिय वयणि सयणि आसणि सयणि रइवासरि वि ण मिलइ । (२,६)

धनवइ के प्रणय से हीन उस का मन अत्यन्त सन्तप्त रहने लगा। उस के अंग विरहाग्नि सहन करने में असमर्थ हो गये। उस की आँखें जाने हुए पति की ओर लग गयीं। इतना ही नहीं, प्रिय के वचन, सदन, आसन और शयन में भी उसे कभी सुनने को नहीं मिल पाते। यह सामन्तयुगीन भारतीय समाज की संभवतः एक विशेष प्रवृत्ति ही बन गयी थी। भविष्यदत्त के मैनागद्वीप में छूट जाने पर भविष्यानुरूपा बहुत दुःखी होती है। वह तरह-तरह से अपने मन को समझाती है और विचार करती है कि मैं गजपुर में हूँ और पतिदेव द्वीपान्तर में हैं, जो सैकड़ों योजन दूर है। किस प्रकार से मिलना हो? जिस द्वीप की भूमि में मनुष्य संचार नहीं करते वहाँ कैसे पहुँचूँ? मुझे जितना दुःख भोगना था—उतना भोग लिया। बिना आशा के कब तक प्राण धारण करूँ? इतने में ही वह किसी से सुनती है कि कमलश्री ने यह निश्चय किया है कि एक महीने में यदि मेरा पुत्र आकर नहीं मिला तो मैं प्राणों का त्याग कर दूँगी।

तो भविसाणुरूव विसमट्ठिय   चिंतइ तुंगतवंगि परिट्ठिय ।
गयउरि हउं पियमु दीवंतरि   जोयण सयइं अणेयइं अंतरि ।
संभउ कवणु एत्थु किर मगमि   जहिं संचरवि णाहि महि जंगमि ।
जेत्तिउ दुक्खु मज्झु तणु भुंजइ   तेत्तिउ सोवि कहिमि अणुहुंजइ ।
अच्छइ समसमंतु दुहसायरि   कि मुउ झंप देइ रयणायरि ।
विणु आसइं किम मणु साहारमि   लइ पल्लिवि परसिहरहु मारमि । (८,२०)

यहाँ पर कवि ने आकाश-वाणी का प्रयोग न कर अस्वाभाविकता से कथानक को बचा लिया है। उसके औचित्य का यह सबसे बड़ा प्रमाण है। किन्तु भविष्यानुरूपा का करुण विलाप न होना खटकता है। करुण वात्सल्य का अवश्य सुन्दर वर्णन कमलश्री के मुख से हुआ है, जो अत्यन्त मार्मिक है। (दे० ८, १३)

इस वियोग-वर्णन में रीति-परम्परा से ग्रस्त मानवीय भावनाओं का प्रदर्शन न हो कर मनुष्य जीवन की वास्तविक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति हुई है। कमलश्री और भविष्यानुरूपा का प्रेम नायक तथा नायिका का प्रेम न हो कर आदर्श भारतीय नारी का प्रेम है, जो प्राणों के रहते हुए अपने हृदय में किसी दूसरी मूर्ति को प्रतिष्ठित करने के लिए किसी भी प्रकार तत्पर नहीं है। यद्यपि वियोग के सन्दर्भ में काम की दस दशाएँ कही गयी हैं और अपभ्रंश के प्रबन्ध काव्यों में विशेष रूप से स्वयम्भू के 'पउमचरिउ' (२१,९) में मिलती हैं, किन्तु यहाँ उन में से अभिलाषा, चिन्ता, स्मृति या उद्वेग तथा मूर्छा आदि का स्वाभाविक रूप से सन्निवेश मिलता है। परन्तु इनमें वह आवेग और तृष्णा नहीं है, जो प्रेम-गर्भित टेक की अतिशयता में लक्षित होती है   इसका

एक कारण यह भी कहा जा सकता है कि यह काव्य शास्त्रीय शैली में न रचा जाकर लोक-शैली में लिखा गया है, जिसमें जन-जीवन की अनुभूतियों को स्वाभाविक रूप मे वाणी प्रदान की गयी है। अन्य रसों में रौद्र, हास्य, वात्सल्य और भयानक की प्रसंगत मधुर अभिव्यंजना हुई है; बीभत्स रस अवश्य नही मिलता। शोक नाममात्र के लिए कहा जा सकता है। यही नही, अनुभाव और संचारी भावों की भी उचित संयोजना प्रस्तुत काव्य मे हुई है। उदाहरण के लिए—भविष्यदत्त उस तिलकपुर मे चन्द्रप्रभ के मन्दिर में पूजन करने के बाद वहीं बाहर आ कर सो जाता है। जब जागता है और दीवाल पर लिखे अक्षरो को पढता है तो विस्मय से भर जाता है। उसके मन मे तरह-तरह की शंकाएँ उठती है कि प्रच्छन्न रूप मे कपट से मुझे कोई मन्दिर से बाहर तो नही निकालना चाहता है अथवा इन विकल्पो से क्या, बिना मरे कोई अपने मनोरथ पूरे नही कर सकता है। एक साथ कई सचारी भावो को कवि ने इन पंक्तियो में व्यंजित किया है—

मुहि करयलु देवि परिचिंतइ विंभयभरिउ।
इउ काइं विहाणु असउ वा असंभउ अच्छरिउ॥
अहिणउ लिहिउ एउ विणु भतिए दीसइ पडिउ चुण्णु तलि भित्तिए।
किं पच्छण्णु कोवि वेयारइ कवडिं जिणभवणहु णीसारइ।
अहवइ एण काइं सुवियप्पिं मरणु विणाहिं अपूरिं मप्पिं। (५, ६-७)

भविष्यदत्त के मन मे यहाँ एक साथ क्रम से चिन्ता, विस्मय, शंका, तर्क, भय और आवेग सचरण करते हुए लक्षित होते है। साथ ही शोक को सूचित करने वाला अनुभाव (मुख पर हथेली रख कर चिन्ता में डूबना) का चित्र भी कवि ने अभिव्यंजित किया है। इसी प्रकार अन्य स्थलो पर क्रमशः कई संचारी भावो को अभिव्यंजना हुई है। एक चित्र देखिए—

त णिययकुडुंबु सुमरिवि अंगइं हल्लियइं।
हुअ गग्गिरवाय णयणइं अंसुजलुल्लियइं॥ (५, १२)

अर्थात् सुन्दरी भविष्यानुरूपा भविष्यदत्त को अपने परिवार के सम्बन्ध मे कहती हुई अपने कुटुम्ब का स्मरण कर काँपने लगी। उसकी वाणी गद्गद हो गयी और आँखो मे आँसू छलछला आये। इन पंक्तियों में स्मृति और स्नेह के साथ ही कम्प, स्वरभंग, अश्रु और स्तम्भ आदि अनुभाव भी स्वाभाविक रूप में अभिव्यजित है। यद्यपि शृंगार के दोनों पक्षो का चित्रण काव्य मे किया गया है, पर जायसी तथा सूर की भाँति वियोग-वर्णन की अतिशयता एवं गम्भीरता नही मिलती। कम-से-कम शब्दो मे कवि ने मार्मिक भावनाओं की व्यंजना की है। इसी प्रकार संभोग-वर्णन मे स्तम्भ, रोमाच, स्वेद आदि अनुभाव नही मिलते। यद्यपि रचना मे काम-क्रीडा का वर्णन है, पर हाव-विधान भी लक्षित नहीं होता। इस का कारण यही प्रतीत होता है कि कवि का लक्ष्य प्रधान न बना कर शान्त रस को अंगी मान कर रचना करना था

संवाद-योजना—

आलोच्यमान कथाकाव्य में संवादपूर्ण कई स्थल दृष्टिगोचर होते हैं, जिन से काव्य का चमत्कार बढ़ गया है और कथानक में स्वाभाविक रूप से गतिशीलता आ गयी है। मुख्य रूप से निम्नलिखित संवाद इस कथाकाव्य में द्रष्टव्य हैं— प्रवास करते समय पुत्र भविष्यदत्त और माता कमलश्री का वार्तालाप, भविष्यदत्त-भविष्यानुरूपा का संवाद, भविष्यानुरूपा-भविष्यदत्त-संवाद, राक्षस-भविष्यदत्त-संवाद, भविष्यदत्त-बन्धुदत्त-संवाद, कमलश्री-भविष्यदत्त-संवाद, राजा भूपाल-भविष्यदत्त-संवाद, भविष्यदत्त-भविष्यानुरूपा-संवाद, कमलश्री-मुनि-संवाद, कमलश्री-धनवइ-संवाद, बन्धुदत्त-रूपा-संवाद और मनोवेग विद्याधर-भविष्यदत्त तथा मुनिवर-संवाद आदि।

इस प्रकार प्रबन्धकाव्य की भाँति इस रचना में संवादों की प्रचुरता है। छोटे-छोटे कई संवाद यथास्थान नियोजित हैं। इन संवादों में नाटकीयता, अभिनेयता, वाक्चातुर्य, कसावट, मधुरता तथा हाव-भावों का प्रदर्शन एवं यथास्थान व्यंग्य का समावेश हुआ है। अतएव जहाँ संवादों के सहारे कथानक आगे बढ़ता हुआ ज्ञात रहता है वहीं वातावरण तथा दृश्य का पूर्ण चित्र आँखों के सामने घूमने लगता है। उदाहरण के लिए, भविष्यदत्त को जब पता लगता है कि बन्धुदत्त वाणिज्य के लिए विदेश जा रहा है तब वह भी हर्ष से भर कर माता के पास जाता है और भाई के साथ जाने के लिए आज्ञा चाहता है। किन्तु भविष्यदत्त के वचनों को सुन कर माता की आँखें गीली हो जाती हैं, वाणी अटपटाने लगती है। वह कहती है—

> हा हउ पुत्त काइं तइं जंपिउ सिविणतरि वि णाहि महु जंपिउ।
> एक्कु अकारणि कुवियवियप्पिं दिण्णु अणंतु दाहु तउ बप्पिं। (३,१०)
> ....
> विहि पडिकूलु अम्ह पडिसक्कइ अत्थह छेउ सहिवि को सक्कइ।
> एक्क दव्विअहिलासि विचिन्तइं को जाणइ दाइयइं चरित्तइं।
> जइ सरूव दुट्ठत्तणु भासइ बन्धुअत्तु खलवयणहिं वासइ।
> तो तउ करइ असंगलु जंतहो मूलु वि जाइ लाहु चिंतंतहो। (३,११)

भविष्यदत्त कहता है—

> भविसयत्तु विहसेविणु जंपइ तुम्हहं भीरत्तणि ण समप्पइ।
> अइयारि वामोहु ण किज्जइ सनवयअणि पोढत्तणु हिज्जइ। (३,१२)

इस प्रकार उक्त संवादों को भली भाँति देखने पर कई बातें स्पष्ट हो जाती हैं। एक तो, ये संवाद बहुत बड़े-बड़े हैं। किन्तु यह ध्यान में रखने योग्य है कि माता कमलश्री और पुत्र भविष्यदत्त के बीच होने वाले वार्तालाप ही अधिक बड़े हैं अन्य नहीं। दूसरे माता कमलश्री इन संवादों में पुत्र को समझाती हुई सीख देती है। तीसरे पात्र

गत मनोवैज्ञानिक चरित्रों का पता हमे संवादों मे मिलता है। चौथे, ये नाटकीयता से पूर्ण है। सवादों मे प्रवाह एवं क्षिप्रता है। पुत्र विनयपूर्वक माता को प्रणाम कर निवेदन करता है। इसी प्रकार माता अपनी ममता को उँडेल कर हाव-भावो का प्रदर्शन करती है। अतएव वातावरण और दृश्यों के बीच संयम एवं शिष्टाचार का पालन दिखाई पड़ता है। कही-कही सवादों में माधुर्य स्पष्ट रूप से लक्षित है। यथा—

तं णिसुणिवि णिसायरु झविकउ परिचिंतइ मणेण आसंकिउ।
णउ सामण्णु कोवि णरु दीसइ जो महु समुहुं भडत्तणु दरिसइ।
इउ विरसु रसंतु मइं संवारिउ सयलु पुरु।
पडिवयणसमत्थु एहउ कोवि ण दिट्ठु णरु॥ (५,१८)

इस प्रकार संवादो मे कसावट, सरसता तथा मधुरता परिलक्षित होती है।

वस्तुत: संवादो की सब से बडो विशेषता सरलता, स्वाभाविकता और सजीवता कही जा सकती है। आलोच्यमान कथाकाव्य में उक्त गुणों का उचित सन्निवेश हुआ है। संवादों मे वातावरण के बीच चित्रों का अभिनिवेश वस्तु को सौन्दर्य से जगमगा देता है। और यही कारण है कि पात्रों की मनोवैज्ञानिकता एवं सजीवता संवादो के बीच मे से झाँकती हुई जान पड़ती है। उदाहरण के लिए—

णाह तइउ मइं णउ परियच्छिउ इत्तिउ कालु कहिमि णउ पुच्छिउ।
थिय चिंतंति सुरउ वंच्छेव्वइं अवसरु कहिमि ण हुउ पुच्छेव्वइं।
कवणु देसु जहि तुहु उप्पण्णउ कवणु णयरु सुरसिरि संपुण्णउं।
राणउ कवणु तित्थु दिहिगारउ कवणु जणणि पिउ कवणु तुहारउ।
तं णिसुणिवि तेण णियसहएसुवि सभरिउ।
जलु णयणिहिं मुक्कु हियवउ कलुणसरहो भरिउ॥
सो णिय जम्मभूमि सुमरंतउ णिय जणेरि वच्छल्लु सरंतउ।
परिचिंतइ परिवट्टिय सोइं काइं एण महु तणइं विहोइं। (६,११-१२)

उक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि अधिकतर संवाद बडे-बडे है। अतएव अभिनेय की दृष्टि से उन्हें महत्वपूर्ण नही कहा जा सकता। हाँ, संवादों के माध्यम से पात्रों के चरित्रो-पर विशेष रूप से प्रकाश पड़ता है। उक्त उदाहरण में भविष्यदत्त अपनी पत्नी की बातो को सुन कर जन्म-भूमि और माता का स्मरण करता हुआ माँ के वात्सल्य को तथा अन्य चारित्रिक गुणो को प्रकाशित करता हैं। भविष्यदत्त कहता है—

धणवइ णाउं जणणु अम्हारउ णरवरिंद परिवारपियारउ।
मायरि कमल सुअण दिहिगारी हरिबलदुहिय सामु तुम्हारी।
सइ चारित्तसील संपुण्णी लच्छिहि तणइं अंगि उप्पण्णी।
अण्णु वि बंधुमत्तु महु दाइउ तेण समाणु वणिज्जिं आइउ (६,१३)

स्पष्ट ही भविसयत्तकहा में संवाद सजीव, सरल और स्वाभाविक हैं। भाषा भी संवादों के अनुकूल प्रसाद एवं मधुर है। अतएव रंगमंच की उपयोगिता को छोड़ कर सभी बातों में—उक्त काव्य के संवाद सफल हैं। और इस बात का सब से बड़ा प्रमाण यही जान पड़ता है कि उन में भाषा की चुस्ती तथा संवाद की स्वाभाविकता है। संवाद में स्वाभाविकता का होना उस का प्रथम तथा अनिवार्य गुण है। इस प्रकार भविसयत्तकहा के संवाद काव्यगत सौन्दर्य की दृष्टि से उत्कृष्ट बन पड़े हैं।

शैली—अपभ्रंश के प्रबन्धकाव्यों की भाँति इस कथाकाव्य में 'कडवकबन्ध' है, जो सामान्यतः दस से सोलह पंक्तियों का है। कम-से-कम दस और अधिक से अधिक तीस पंक्तियाँ एक कडवक में प्रयुक्त हैं। कड़वक पज्झटिका, अडिल्ला या वस्तु से समन्वित होते हैं। कहीं-कहीं दुवई का प्रयोग भी मिलता है। इस भिन्नता का कारण यही प्रतीत होता है कि यह रचना की एक शैली थी, जिस में प्रबन्ध और विषय की दृष्टि से अन्त्यानुप्रासमय छन्दोयोजना नियत पंक्तियों में होती थी। साधारणत. एक कडवक में कम से कम कुल आठ यमक या सोलह पंक्तियाँ देखी जाती हैं। इसी प्रकार सोलह मात्राओं का एक पद कहा जाता है। किन्तु इस के सम्बन्ध में बिल्कुल निश्चित मत नहीं दिया जा सकता है। क्योंकि एक तो समूचे साहित्य का अनुशीलन नहीं हुआ है और दूसरे नियमों में भी भेद दिखाई देता है। कविदर्पण में स्पष्ट कहा गया है कि सन्धि कडवकबद्ध होती है, और कडवक पद्धडिया आदि चार प्रकार के छन्दों में रचा जाता है[1]। सन्धि के प्रारम्भ में तथा कड़वक के अन्त में ध्रुवा, ध्रुवक या घत्ता छन्द का प्रयोग किया जाना चाहिए। ध्रुवा षट्पदी, चतुष्पदी, और द्विपदी के भेद से तीन प्रकार का कहा गया है। अतएव घत्ता एक सामान्य शब्द है, जो रचना-विशेष का बोधक है। यद्यपि घत्ता नाम का एक छन्द भी है, किन्तु सामान्यतः किसी भी छन्द को 'घत्ता' कहा जा सकता है। सामान्यतया कड़वक के अन्त में दो पंक्तियों के ही छन्द देखे जाते हैं। दोहा भी इस का अपवाद नहीं है। दोहा का प्रयोग अपभ्रंश के प्रबन्धकाव्यों में कम दिखाई देता है। इस से यही जान पड़ता है कि प्रयोग शैली के विभिन्न रूप पहले से ही प्रचलित थे। महाकवि स्वयम्भू के "चउमुहेण समप्पिय पद्धडिय" से भी इसी बात का संकेत मिलता है कि उन के पूर्व ही अपभ्रंश के प्रबन्ध-काव्यों की रचना पद्धड़ियाबन्ध में होती थी। परवर्ती कवियों में यशःकीर्ति ने 'हरिवंशपुराण', वीरकवि ने 'वरांगचरित', नयनन्दी ने 'सुदर्शनचरित', देवसेनगणि ने 'सुलोचनाचरित', हरिषेण ने 'धर्मपरीक्षा', अमरकीर्ति ने 'यशोधरचरित' और पुष्पदन्त ने 'महापुराण' पद्धड़ियाबन्ध में लिख कर अपभ्रंश की परम्परागत साहित्यिक

---

१ कडवयनिबद्धो सन्धी पद्धडिआईहिँ चउहिँ पुण कडवं।
सन्धिमुहे कडवन्ते धुव पुनयं च घत्ता वा।
मचरिउ' की से उद्धृत पृ० ६७

बन्धरचना का पालन किया है[1]। भगवतीदास ने 'मृगाकलेखाचरित्र' मे गाथाओ का प्रयोग प्राकृत मे, पद्धड़िया का अपभ्रंश मे और दोहा, सोरठा का हिन्दी मे किया है[2]। इस से अपभ्रंश के साथ पद्धडिया छन्द के विशेष सम्बन्ध का पता लगता है। वस्तुत प्रयोग-शैली के भेद से तीन रूप दिखाई देते हैं--पद्धडियाबन्ध, छड्डणिया या रासाबन्ध और दोहाबन्ध। पद्धड़िया के कई भेदों का पता मिलता है। नयनन्दी ने 'सुदर्शन-चरित्र' मे रयणमाल, चित्तलेह, चदलेह, पारंदिया, रयडा आदि पद्धडिया के भेदो का प्रयोग किया है[3]। अधिकतर दोहा छन्द मुक्तकबन्ध में प्रयुक्त है। यद्यपि पद्मकीर्ति, रयधू आदि ने अपने प्रबन्धकाव्यों में दोहा का प्रयोग किया है, पर वह परवर्ती विकास है। प्रारम्भिक युग के प्रबन्धकाव्यों मे दोहा नही मिलता। फिर, मुक्तकबन्ध के लिए दोहा अत्यन्त उपयुक्त छन्द है। प्राकृत में गाथा, संस्कृत में दोधक और हिन्दी मे दोहा मुख्य रूप से मुक्तक काव्य मे प्रयुक्त हुए हैं।

आलोच्यमान काव्य में मुख्य रूप से पद्धड़िया छन्द प्रयुक्त है। निश्चय ही यह कथाकाव्य पद्धडिया शैली मे लिखा गया है, जो प्रबन्धकाव्य की सर्वाधिक प्रचलित शैली रही है। साधारणतया एक सन्धि मे पन्द्रह से लेकर तीस कड़वक तक देखे जाते हैं। किन्तु इस मे ग्यारह से लेकर छब्बीस कड़वक तक एक सन्धि में निबद्ध है। कड़वक के अन्त में घत्ता देने का नियम व्यापक था। घत्ता मे प्राय दोहे के आकार के छन्दो का प्रयोग हुआ है। क्योकि यह एक शैली थी कि पहले दोहे का आकार का कोई छन्द हो फिर उस से बड़ा या भिन्न छन्द-रचना हो और कड़वक के अन्त मे पहले जैसा या वही छन्द हो; इससे बन्ध-रचना मे सुन्दरता तो आ ही जाती है, पर विषय और भावो की अभिव्यक्ति में भी तारतम्य का निर्वाह करने वाली शैली बँध-सी जाती है। कड़वक के अन्त मे जिस छन्द का प्रयोग किया गया है--(दोहे के या भिन्न आकार के) उस की सामान्य सज्ञा 'घत्ता' है। किन्तु कडवक के प्रारम्भ में प्रयुक्त होने वाले छन्द की कोई सामान्य जाति नहीं कही गयी है। सम्भव है कि यह परवर्ती विकास हो और पहले के लिखे हुए प्रबन्ध काव्यों में उस का प्रयोग न हुआ हो। इस कथाकाव्य मे सन्धि के आरम्भ में ही प्रायः कडवक के पूर्व दोहा के आकार का छन्द देखा जाता है, जिन मे या तो जिन-वन्दना है अथवा सन्धि में वर्णित कथा का सार है। (५, १)

---

१ पद्धडिया छंदें सुमणोहरु, भवियण जणमण सवण सुहकरु। हरिवंशपुराण, १३, १६।
कहु भावहिं जे वरंगचरिउ, पद्धडियाबन्धें उद्धरिउ। जम्बुस्वामीचरित, १, ४।
णियमणिण त विरएमि कव्वु, पद्धडियाबन्धें ज अडव्वु। सुदर्शनचरित, १, २।
जं गाहाबन्धें आसि उत्तु, सिरिकुन्दकुन्दगणिणा णिरुत्तु।
तं एमहिं पद्धडियहि करेमि, वरि किंपि ण गूढउ अत्थु देमि। सुलोचनाचरित्र, १, ६।
जा जयरामें आसि, विरइय गाहपबन्धें।
साहमि धम्मपरिक्ख, सा पद्धडियाबन्धें। धर्मपरीक्षा, १, १।
तोयउ चरित्तु जसहरणिवासु, पद्धडियाबन्धें किउ पयासु। षट्कर्मोपदेश, १, ०।

२ डॉ० हरिवंश कोछड अपभ्रंश-साहित्य, पृ० २४६।

३ वही पृ० १७४

प्रत्येक सन्धि के आरम्भ में तीर्थंकर चन्द्रप्रभ की वन्दना में यह भी स्पष्ट है कि ग्रन्थ के प्रारम्भ, मध्य और अन्त के विधान को कवि ने मान्यता दी है। (५, १) अतएव अपभ्रंश के प्रबन्धकाव्यों में उक्त बन्ध-शैली सार्वत्रिक है, जो विविध प्रयोजनों से भरित तथा कथानुबन्ध से समन्वित है। शैली का यही रूप आलोच्यमान कृति में द्रष्टव्य है।

भाषा

यद्यपि धनपाल की भाषा साहित्यिक अपभ्रंश है पर उस में लोकभाषा का पूरा पुट है। इस लिए जहाँ एक ओर साहित्यिक वर्णन तथा शिष्ट प्रयोग हैं वहीं लोक-जीवन की सामान्य बातों का विवरण घरेलू वातावरण में वर्णित है। उदाहरण के लिए—सजातीय लोगों की जेवनार में षट् रसों वाले विभिन्न व्यंजनों के नामों का उल्लेख है, जिन में घेवर, लड्डू, खाजा, कसार, माँडा, भात, कचरिया, पापड आदि मुख्य हैं।

गुणावारिया लड्डुवा खीरखज्जा कसार मुसारं मुहाली मणोज्जा।
पुणो कच्चरा पप्पडा दिण्ण भेया जयंताण को वण्णए दिव्व तेया। (१२,३)

डॉ० एच० जेकोबी के अनुसार धनपाल की भाषा बोली है, जो उत्तर प्रदेश की है।[1] यद्यपि शास्त्रीय भाषा में 'भविष्यदत्त कथा' की गणना नहीं की जा सकती, पर उस पर शास्त्रीय प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। धनपाल की भाषा साहित्यिक भाषा है। केवल लोक-बोली का पुट या उस के शब्द-रूपों की प्रचुरता होने से हम उसे उस युग की बोली जाने वाली भाषा नहीं मान सकते। क्योंकि प्रत्येक रचना में बोल-चाल के कुछ शब्दों का आ जाना स्वाभाविक है। इस का विचार भाषा की बनावट को ध्यान में रख कर किया जा सकता है कि वह बोली है या भाषा? धनपाल की भाषा में जैसी कसावट और संस्कृत के शब्दों के प्रति झुकाव है उस से यही सिद्ध होता है कि उन की भाषा बोलचाल की न हो कर साहित्य की है। इस का एक कारण यह भी है कि धनपाल की रचना से मिलती-जुलती भाषा परवर्ती रचनाओं में हमें स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। यही नहीं, अपभ्रंश के कवि विबुध श्रीधर की रचना धनपाल से डेढ़ सौ वर्ष पूर्व की है, जिस की भाषा धनपाल की रचना से सरल एवं स्वाभाविक है। उसे हम बोलचाल की भाषा कह सकते हैं—यद्यपि उस की भाषा भी सहज रूप में बोलचाल की नहीं है; किन्तु धनपाल की भाषा बोलचाल की नहीं है। उदाहरण के लिए—

किउ अब्भुत्थाणु णराहिवेण अहिणउ पाहुडु अल्लविउ तेण। (१३,२)
(कृत अभ्युत्थान नराधिपेन अभिनव प्राभृत अर्पितं तेन)

---

१. डॉ० एच० जेकोबी : फ्रॉम द इण्ट्रोडक्शन टु द भविसयत्तकहा, अनु० प्रो० एस० एन० घोषाल, जर्नल आव द ओरियण्टल इन्स्टिट्यूट बड़ौदा द्वितीय खण्ड अंक संख्या ३ मार्च ५३, पृ० २६

इन पंक्तियो पर संस्कृत का प्रभाव स्पष्ट है। भाषा को साहित्यिक बनाने का प्रयत्न कई स्थलो पर लक्षित होता है। यथा—

पुणु वि जक्खकद्दमिण पसाहिउ तिलउ। (प्रसाधित) (९,१६)

परिगलिय रयणि पयडिय विहाणु। (प्रकटित) (४, ५)

(अत्रान्तरे) एत्थंतरि कुमारु कीलंतउ लीलइ णियमंदिरि संपत्तउ। (सम्प्राप्त)
(२,११)

रयणाहरण विहूसिय कंठि वेलासिरिव उयहि उवकंठि। (५,९)

(रत्नाभरणविभूषितकण्ठं वेलाश्रीरिव उद्गतं उपकण्ठं)।

भविष्यदत्तकथा की भाषा पश्चिमी अपभ्रंश है, जो प्रायः एक सहस्र वर्ष तक साहित्य की भाषा रही है और जिस मे उत्तर, पश्चिम तथा मध्यदेश का एक चौथाई साहित्य लिखा मिलता है। डॉ० तगारे ने पश्चिमी अपभ्रंश की जिन विशेषताओं का निर्देश किया है वे भविसयत्तकहा में भली भाँति दृष्टिगोचर होती हैं।[1] आलोच्यमान काव्य की भाषा भले ही आदर्श भाषा न हो, पर परिनिष्ठित अपभ्रंश अवश्य है, जिस के लक्षण हमें आ० हेमचन्द्र के व्याकरण मे मिलते हैं। इस से स्पष्ट हो जाता है कि कवि धनपाल की प्रयुक्त भाषा साहित्यिक है; किन्तु बोलचाल की भाषा का पुट दिया हुआ है। डॉ० जेकोबी ने आ० हेमचन्द्र के द्वारा निर्दिष्ट जिस ग्राम्य अपभ्रंश का कथन किया है वह साहित्यिक एवं शास्त्रीय-अपभ्रंश से कुछ बातों मे समानता रखती है। इसलिए जिस पुंल्लिग 'हो' एकवचन प्रत्यय के कारण भविसयत्तकहा की भाषा को ग्राम्य कहा गया है वह उचित नही है। क्योंकि उसी में 'हु' के प्रयोग विरल नही हैं। किन्तु डॉ० जेकोबी का कथन है कि 'हु' और 'हि' 'हो' के बदले लिखे जाते थे[2]। परन्तु तथ्य यह है कि—दोनों ही रूप अन्य साहित्यिक रचनाओ में मिलते हैं। लाखू कृत 'जिनदत्त-चरित्र' शुद्ध साहित्यिक रचना है, किन्तु उस में भी दोनों रूप देखे जाते हैं। फिर, प्राकृत के वैयाकरणों ने शौरसेनी प्राकृत के अन्तर्गत जिस अपभ्रंश का निर्देश किया है वे लक्षण भविसयत्तकहा मे मिलते हैं। उदाहरण के लिए—'प' को 'व' हो जाना (कमलवावि <कमलवापिका); 'स' को 'ह' (दह, णियसह <निश्वास) 'य' को 'ज' (जसोहण <यशोधन); श और ष को 'स' (कसण, विसाउ); 'म' को 'ह' (अलोहु, अहिमाणु, अहिसिंचिय); 'ख' को 'ह' (सुह, साहा); 'थ' को 'ह' (णाह) हो जाना इत्यादि।

वस्तुत भाषागत प्रवृत्तियों के विभिन्न शब्द-रूप भविसयत्तकहा मे दिखाई देते है, पर काव्य-रचना का झुकाव परिनिष्ठित अपभ्रंश की ओर ही है, जिस का विधान हमें आ० हेमचन्द्र के 'शब्दानुशासन' में प्राप्त होता है। इस से यह भी स्पष्ट है कि धनपाल

१ डॉ० गजानन वासुदेव तगारे : हिस्टारिकल ग्रामर ऑव अपभ्रंश', पूना, १९४८, पृ० २१०।

२ डॉ० एच० जेकोबी 'इन्ट्रोडक्शन टू द भविसयत्तकहा, जर्नल आव द ओरियण्टल इन्स्टिटयूट, बड़ौदा खण्ड २ ३ पृ० ४०

की भाषा उत्तरकालिक अपभ्रंश है, जिस में भाषागत परिवर्तन के रूप स्पष्ट हो चले थे। इसीलिए हमें 'हु' और 'हो' दोनों रूप मिलते हैं। किन्तु प्राधान्य 'हु' का है। यथा—

मामहु मंदिरि जणु संभासिवि पणविवि किउ संकेउ समासिवि ॥ (१,१०)
तथा— रुक्खहु फलि मि फलु मग्गिज्जइ कि अंबइ आसण्णउ णिवारइ ॥ (८,३)
एवं— तुहु परिपुण्णु अहिट्ठिय वड्ढि पहु सम्माण दाण गुण गहिर। (३,१४)

इस प्रकार जहाँ 'हु' दिखाई देता है वह या तो भाषा की उकारान्त प्रवृत्ति के कारण है अथवा विभक्ति के विनिमय या विकल्प से; और जहाँ 'हो' है वह विभक्ति के कारण। उदाहरण के लिए—

एहु महंतु पुत्तु तउ बप्पहो सामिउ थणहो पउर माहप्पहो।
सहु जणणिय गेहहु णीसारिउ अच्छइ कइकईहु मणि खारिउ। (३, १५)

यहाँ पर 'बप्पहो', 'थणहो', 'माहप्पहो' शब्द स्पष्टतः षष्ठी विभक्ति के एकवचन के रूप हैं। 'गेहहु' शब्द पंचमी का एकवचन है। तथा एहु, सहु प्रथमा विभक्ति एक-वचन के तद्भव होने से भाषा की उकारान्त प्रवृत्ति के सूचक हैं। अतएव 'हु' और 'हो' को भाषा का निर्णायक मान लेना उचित नहीं जान पड़ता।

अलंकार-योजना

प्रबन्ध काव्य में अलंकार-योजना का भी विशेष स्थान है। भावों की स्फुट अभिव्यक्ति और वस्तु के उत्कर्ष एवं प्रतीयमान चित्र या बिम्ब को अभिव्यंजित करने के लिए अलंकार-योजना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी प्रतीत होती है। यदि कल्पना भावों को जगाती है तो अलंकार उसे साँचा या रूप प्रदान करता है। इसलिए प्राचीन आचार्यों ने प्रबन्ध काव्य में अलंकार-विधान की अनिवार्यता का निर्देश किया है। किन्तु अलंकारों के चमत्कार के पीछे काव्य को चमत्कृत बनाने का प्रयोजन उचित नहीं है। क्योंकि अलंकार भावों के पीछे वैसे ही चलते दिखाई देते हैं जैसे कि दिये के पीछे अँधेरा। वास्तव में सीधी-सादी बात में आकर्षण कम दिखाई पड़ता है। अलंकार-योजना से उस का चमत्कार बढ़ जाता है। इसीलिए काव्य में उस का महत्त्व है। अलंकारों की कई कोटियाँ हैं। सामान्यतः मुख्य दो कोटियाँ कही जाती हैं— साधर्म्य या औपम्यमूलक और विरोधमूलक। साधर्म्यमूलक अलंकार हैं—उपमा, परिणाम, सन्देह, रूपक, भ्रान्तिमान्, उल्लेख, स्मरण, अपह्नुति, उत्प्रेक्षा, तुल्ययोगिता, दीपक, दृष्टान्त, प्रतिवस्तूपमा, व्यतिरेक, निदर्शना, श्लेष और सहोक्ति। इन में से उपमा को छोड़ कर शेष अलंकारों में औपम्य गम्यमान होता है, इसलिए उन्हें औपम्यमूलक भी कहते हैं। आलोच्यमान काव्य में साधर्म्यमूलक अलंकारों की ही मुख्यता है। यदि सच पूछा जाय तो अलंकारों की कोई इयत्ता नहीं। बात कहने के जितने ढंग हो सकते हैं उतने ही अलंकार। फिर भी सादृश्य, साधर्म्य, वैधर्म्य, विरोध, हेतु, लोक-व्यवहार,

वाक्यरचना, तर्क आदि के भेद से अलंकारो को अनेक श्रेणियाँ मानी जाती है। परन्तु यह कहा जा सकता है कि उपमा सब से प्रधान अलंकार है, और कदाचित् अलंकारो के विकास के मूल मे यही अलंकार रहा होगा। वस्तुतः विद्वानो के चित्त को अनुरंजन करने वाली स्फुट प्रतीयमान कोई वस्तु नहीं होती, किन्तु अन्य के द्वारा प्रतीयमान होने पर हम उसी रूप में उसे ग्रहण करते है। और इसलिए औपम्य के तीन रूप देखे जाते है—भेद, अभेद और उभयनिष्ठ।

भारतीय साहित्य में ऐसा कोई काव्य न होगा जिस मे उपमा अलंकार का प्रयोग न हुआ हो। इस से जहाँ उपमा की व्यापकता का पता चलता है वहीं उस की प्राचीनता का बोध होता है। ऐसे अलंकार के प्रयोग में कवि का कौशल और औचित्य द्रष्टव्य होता है। महाकवि कालिदास की उपमाओं की सुघरता इसी मे है कि वे साधर्म्य-योजना की सटीकता के साथ स्फीत बिम्ब प्रदान करती है—अभिव्यंजित करती हैं। साधर्म्य-योजना जाति, गुण, क्रिया और स्वभाव के आधार पर की जाती है। वह कहीं पर गम्यमान होती है और कही पर प्रतीयमान।

सादृश्यमूलक अलंकारो में उपमा और उत्प्रेक्षा का प्रयोग मुख्यता से इस काव्य में देखा जाता है। उपमा के कई रूप दृष्टिगोचर होते हैं। वह केवल सादृश्य योजक समान धर्म की प्रकाशिका न हो कर वस्तु के मूर्त और अमूर्त भाव मे भी साम्य प्रदर्शिका है। यथा—

तेण वि दिट्ठु कुमारु अकायरु बडवाणलिण णाइं रयणायरु। (५,१८)

अर्थात् उस राक्षस ने भविष्यदत्त को वैसा ही अकायर देखा जैसे समुद्र के भीतर रहने वाली अग्नि (वडवानल) होती है। यहाँ केवल धर्म साम्य ही नही है, अपितु वस्तु, स्वभाव, गुण और क्रिया-साम्य भी है। ऐसी उपमा बहुत कम मिलती है। अब प्रकृति-वर्णन में मानवीय रूपो तथा भावों की सुन्दर अभिव्यक्ति का चित्र देखिए—

लक्खिउ समुद्दु जलल्लवगहीरु सप्पुरिसु व थिरु गंभीरु धीरु।
आसीविसोव्व विसविसमसीलु वेलामहल्लकल्लोललीलु।
दिट्ठइ विउलइ वेलाउलाइं कयविक्कयरयवयणाउलाइं। (३,२२)

अर्थात् उन्हों ने जल से भरे हुए गहरे समुद्र को स्थिर, गम्भीर और धीर पुरुष की भाँति देखा। उस विशाल तट पर किलोलें करने वाली लहरें साँप के समान थी। शब्दायमान समुद्र-तट उस हाट की भाँति था, जो रत्नों की खरीद और बेंच करने वालो से शब्द-संकुल होता है।

उक्त पंक्तियों में मूर्त की उपमा अमूर्त से होने के साथ साँप और समुद्र की लहरों की क्रिया मे अत्यन्त साम्य लक्षित होता है। ऐसी उपमाओं से भरित कई स्थल आलोच्यमान कथाकाव्य मे हैं, जिन में कवि की प्रतिभा परिलक्षित होती है। किन्तु उपमाओं से अधिक उत्प्रेक्षाएँ काव्य में प्रयुक्त है। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि धनपाल उत्प्रेक्षा के कवि है। वस्तुतः उत्प्रेक्षा मे कवि की कल्पना को अधिक स्वातन्त्र्य और

विकसितरूप से स्फुट भाव-भूमि मिलती है, जिस में कोई रोक-टोक नहीं होती। जहाँ वह कल्पना को जगाने में सहायक होती है वहीं भावों की उन्मुक्त अभिव्यंजना के लिए स्पष्ट एवं स्फीत बिम्ब सामने लाती है। यही उत्प्रेक्षा का माहात्म्य है। और फिर जिस प्रकार भाषा में स्वार्थिक प्रत्यय नये शब्दों को गढने और अन्य भाषाओं से ग्रहण करने के लिए प्रवेश-द्वार के समान है वैसे ही उत्प्रेक्षा नये-नये उपमानों को साहित्य में पुरस्कृत करने के लिए खिड़की की भाँति है। वाच्यमान और प्रतीयमान के भेद से कई प्रकार की उत्प्रेक्षाएँ देखी जाती हैं। प्रस्तुत काव्य में भी उस की मूल विशेषता निहित है। प्रायः सभी प्रकार की उत्प्रेक्षाएँ इस में दिखाई देती हैं। उन के विस्तार में न जा कर केवल दो-चार उदाहरणों के नमूने प्रस्तुत करना पर्याप्त है।

कवि की कल्पना है कि रात काली इसलिए हो गयी कि सौत की डाह से मानो श्री ने पथिकों के ऊपर खप्पर में भर कर स्याही उडेल दी हो। (४, ५) यहाँ असिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा है। क्योंकि सन्ध्या के बाद रात का आ जाना और कालिमा का फैल जाना स्वाभाविक है: पर सौत की डाह से स्याही का उडेलना कारण बना कर उत्प्रेक्षा की गयी है, जो वस्तुतः कारण नहीं है। कवि की कल्पना स्वाभाविक और नवीन जान पडती है। इसी प्रकार अन्य उदाहरण है—

पारिगलिय रयणि पयडिउ विहाणु णं पुणु वि गवेसिउ आउ भाणु (४, ५)

रात बीत गयी। सवेरा हो गया। कवि कहता है कि यह सूरज आज फिर इसलिए निकल आया है कि कल इसका कुछ खो गया था, जिसे ढूंढने के लिए आया है। कुछ परम्परित उत्प्रेक्षाएँ भी मिलती हैं। उदाहरण के लिए—गजपुर का वर्णन करता हुआ कवि कहता है कि वह सब को आश्चर्य में डालने वाला गजपुर नाम का नगर था, मानो धरती पर आकाश से उतर कर आया हुआ स्वर्ग का एक खण्ड था।

तहिं गयउरु णाउ पट्टणु जणजणियच्छरिउ।
णं गयणु मुएवि सग्गखण्डु महि अवयरिउ॥ (१, ५)

यह कल्पना वाल्मीकिरामायण, स्वयम्भू के हरिवंश पुराण, पुष्पदन्त के महापुराण, यशोधरचरित, कालिदास के मेघदूत, धाहिल के पउमसिरिचरित, नरसेन के सिद्धचक्रकथा आदि छोटे-बडे कई काव्यों में मिलती है। वास्तव में धनपाल की कुछ कल्पनाएँ निराली हैं। कवि कहता है कि थोडी दूर पर भविष्यदत्त ने एक पुरानी पगडंडी देखी, जो जैनधर्म की पुरानी पुस्तक ही जान पड़ती थी।

थोवंतरि दिट्ठु पुराण पंथु भविएण वि णं जिणसमयगंथु। (४, ५)

इसी प्रकार भविष्यदत्त उस नगरी के भवनों के अधखुले गवाक्षों को देखता हुआ कहता है कि वे मानो नयी बहू के आधी आँखों की कोरों से देखे जाते हुए नयन-कटाक्ष हों।

पिक्खइ मंदिराइं [illegible]।
राइ ण [illegible] (४, ८)

सचमुच कवि की कल्पना यहाँ अत्यन्त उर्वर और अनुभूतिपूर्ण प्रतीत होती है। समूचा काव्य ऐसी कल्पनाओ से भरा हुआ है, जो लोक-जीवन के उपमानो की सजीवता सहेजे हुए है। इनमे अभिव्यक्ति और प्रवृत्ति दोनों मे ही नवीनता लक्षित होती है। उदाहरण के लिए उसने स्वच्छ वापी जल से तथा कमलो से लबालब भरी हुई देखी। इस बात को कवि अपने ढंग से इस प्रकार कहता है कि आगे चल कर उसे कमलो से भरी हुई वापी ऐसी दिखाई दी मानो किसी कामिनी के छाया युक्त पयोधर हों।

अग्गइ कमला वावि सुमणोहर णं कामिणि सच्छाय पओहर। (४, १२)

यहाँ कितना सुन्दर बिम्ब प्रस्तुत हुआ है। 'पयोधर' मे श्लेप भी है। स्वरूपोत्प्रेक्षा इन पंक्तियो मे स्पष्ट ही गम्यमान है। कवि ने एक-एक वस्तु की सुन्दर से सुन्दर उत्प्रेक्षा कर भावो का बिम्बार्थ ग्रहण कराया है। ये उक्तियाँ निश्चय ही काव्य की शोभा विधायक तथा भावो की बिम्ब-योजना मे शक्ति समन्वित है। अन्य अलकारों के उदाहरण इस प्रकार है—

(१) हट्टमग्गु कुलसील णिउत्तहिं सोह ण देइ रहिउ वणिउत्तहिं[1]। (विनोक्ति)

(२) रुक्खहु णामि फलु संवज्जइ किं अवइ आमलउ णिवज्जइ[2]। (वैधर्म्य दृष्टान्त)

(३) जो भक्खइ मंसु तासु कहिमि कि होइ दय[3]। (काव्यलिग)

(४) जिम-जिम ताहि आस णउ पूरइ तिम-तिम पणइणि हियइ विसूरइ[4]। (विशेपोक्ति)

(५) असिरिव सिरिवत्त सजल वरंग वरंगणवि।
मुद्धवि सवियार रजणसोह निरंजणवि[5]॥ (विरोधाभास)

(६) तो तउ करइ अमगलु जंतहो मूलु वि जाइ लाहु चितंतहो[6]। (लोकोक्ति)

(७) कलि-तरुवरहो मूलु छिंदिज्जइ[7]। (रूपक)

(८) किउ अपमाणु णिउत्तु मुहुल्लउ अहरउ णावइ दाडिमहुल्लउ[8]। (व्यतिरेक)

(९) जोव्वणवियाररसवसपसरि सो सूरउ सो पंडियउ।
चलमम्मणवयणुल्लावएहि जो परतियहि ण खडियउ[9]॥ (अर्थान्तरन्यास)

---

१ कुल-शील मे नियुक्त होने पर भी बिना वणिक्पुत्रो के वहाँ के हाट-मार्ग शोभित नही हो रहे थे।

२ वृक्ष के नाम के अनुसार फल लगते हैं। क्या आम का फल आमले के पेड में लगता है?

३ जो मांस खाता है उसके दया कहाँ से हो सकती है?

४ वह प्रणयिनी जैसे-जैसे प्रियतम की आशाओ, अभिलाषाओं को पूर्ण करती थी वैसे ही उसे सन्ताप उत्पन्न होता था, हृदय विसूरता था।

५ वह निर्धन होने पर भी श्रीमती थी। करुणापूर्ण श्रेष्ठ स्त्री होकर भी वरागना (वेश्या) नही थी। मुग्धा नायिका होने पर भी विचारशील थी। आँखों में बिना अंजन लगाये आकर्षक एव मोहने वाली थी।

६ विघ्नों के रहते हुए जो तप करता है वह लाभ की आशा में मूल भी छोड़ता है।

७. कलह रूपी वृक्ष को जड भी नष्ट कर देना चाहिए।

८. मुख से सलग्न अधर (निचले ओठ) ने अनार के फूल का नीचा दिखा कर उसका अपमान किया।

९ यौवनकालीन विकार रस के प्रसरित होने पर चंचल मार्मिक वचनों के आलाप होने पर जो खिंचते नहीं वे ही शूर तथा पण्डित हैं

छन्द

भाषा, शैली और अलंकारों की भाँति अपभ्रंशों के छन्दों में भी इतीपन स्पष्ट रूप से लक्षित होता है। अपभ्रंश के काव्यों में मुख्यतः मात्रिक छन्दों का प्रयोग हुआ है। मात्रिक-रचना परवर्ती प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य की निजी विशेषता है। क्योंकि वैदिक वृत्त वर्णमय है। पद में वर्ण और स्वर मुख्य होते हैं। यदि हम पद को अक्षरमय मानें तो वैदिक वृत्त वर्णमय है। मुख्य वैदिक छन्द है—गायत्री अनुष्टुभ्, जगती, त्रिष्टुभ्, पंक्ति, बृहती और उष्णिक्। इन वैदिक वृत्तों की विशेषता अक्षरपरिमाण में निहित है। मात्रिक छन्दों का प्रयोग परवर्ती विकास है। जिसमें नियत वर्णों का समावेश होता है उसे वृत्त कहते हैं। किन्तु नियत मात्रा वाला पद्य जाति कहा जाता है। प्राचीनों के अनुसार पद्य के दो भेद हैं—वृत्त और जाति[1]। काव्य-परम्परा के उत्तरवर्ती काल में मात्रा तथा अक्षरों की नियत संख्या से सामान्य रूप का ही बोध होने लगा था इसलिए उसे छन्द नाम से अभिहित किया जाने लगा। छन्द वर्णिक और मात्रिक दोनों प्रकार के छन्द-रूपों का वाचक है। प्रारम्भिक काव्यों में गणवृत्त नहीं थे। उनमें मात्रिक और अक्षर वृत्त ही प्रयुक्त होते थे। किन्तु परवर्ती संस्कृत-साहित्य में पाद-रचना गण के आधार पर की जाने लगी थी। गण तीन वर्णों से बनता है। संस्कृत के काव्यों में गण-वृत्तों का भलीभाँति प्रचलन होने पर प्राकृत-काव्यों में भी उनका समावेश होने लगा। अपभ्रंश में यह प्रवृत्ति साहित्यिक रूढ़ियों के साथ ही प्राकृत से आयी जान पड़ती है।

अलसडोर्फ ने वृत्तों के दो भेदों का निरूपण किया है—गणवृत्त और मात्रिक[2]। किन्तु स्पष्ट रूप से हमें छन्दों के तीन भेद दिखाई देते हैं—अक्षरवृत्त, गणवृत्त और मात्रिकवृत्त, लौकिक छन्दों के भी ये तीन भेद कहे गये हैं[3]। कहा जाता है कि लौकिक छन्दों की उत्पत्ति वैदिक वृत्तों से हुई है, परन्तु अध्ययन करने से पता लगता है कि वृत्त तथा जाति-बन्धों से हट कर समय-समय पर नवीन बन्ध एवं छन्दों की रचना साहित्य में होती रही है। कुछ ऐसे छन्दों का पता चला है जो लय तथा राग-रागनियों के अनुकूल ढल कर लोक-बोलियों में संगीत और भावों की सृष्टि करते हैं[4]। इस दृष्टि से मध्यकालीन भारतीय साहित्य का विशेष महत्त्व है।

इस कथाकाव्य में निम्न-लिखित छन्द विशेष रूप से प्रयुक्त हैं[5]—

---

१. पद्यं चतुष्पदी तच्च वृत्तं जातिरिति द्विधा।
वृत्तमक्षरसंख्यातं जातिर्मात्राकृता भवेद्। नारायण।
पद्यं चतुष्पदी तच्च वृत्तं जातिरिति द्विधा। —अग्निपुराण, ३३७।

२. अपभ्रंश स्टडियन, १९३७, पृ० ८६।

३. आदौ तावद् गणच्छन्दो मात्राच्छन्दस्ततः परम्।
तृतीयमक्षरछन्दश्छन्दस्त्रेधा तु लौकिकम्॥—छन्दःशास्त्र पृ० ४१।

४. देवेन्द्र कुमार जैन "हिन्दुस्तानी" भाग २२ अंक ४ पृ० ४० ।

५. आ दर्शल और गुणे — भ० क० भूमिका पृ० २८–३६।

पज्झटिका, अडिल्ला, दुवई, मरहट्ठा, सिंहावलोकन, काव्य, प्लवंगम, कलहंस, गाथा, घत्ता, उल्लाला, अभिसारिका, विभ्रमविलासवदन, किन्नरमिथुनविलास, मर्कटिका, चामर, भुजंगप्रयात, शंखनारी, लक्ष्मीधर और मन्दार।

पज्झटिका या पद्धड़ी

यद्यपि दोहा अपभ्रश का औरस छन्द कहा जाता है, किन्तु अपभ्रंश के प्रबन्ध काव्यों में स्वतन्त्र रूप मे इस के दर्शन नहीं होते। पद्धड़िया छन्द अवश्य प्राय. सभी काव्यों में बन्ध रूप मे मिलता है। इस की प्राचीनता का उल्लेख भी है। स्वयं स्वयम्भू ने स्वीकार किया है कि उन्होने पद्धड़िया छन्द चतुर्मुख से ग्रहण किया, जो छड्डणिया, दुवई और ध्रुवक से जडा हुआ है।[1] 'स्वयम्भूछन्द' में इन का विस्तृत विवेचन मिलता है। वस्तुतः पद्धड़िया और घत्ता प्रयोग-शैली के छन्द है, जो बन्ध-रचना के अनुरूप प्राकृत और अपभ्रंश-काव्यों में प्रयुक्त हुए है। पद्धड़िया मे चतुर्मात्र गण तथा चारो पद समान होते है। कुल चौसठ मात्राएँ होती है। पूर्वार्द्ध मे या उत्तरार्द्ध मे यमक होता है।[2] किन्तु प्राकृतपैंगलम् मे यमक का उल्लेख न हो कर प्रत्येक चरण के अन्त मे जगण की रचना आवश्यक कही गयी है। इस का उदाहरण है—

कि करमि खोणविहवप्पहाइ णउ लहमि सोह सज्जण सहाइ।

अह णिद्धणु जणि सोहइ ण कोइ धणु संपय विणु पुण्णहिं ण होइ। (१,२)

यह पद्धड़िया छन्द है। इस में चार चरण है। चारो में समान रूप से सोलह-सोलह मात्राएँ है। अन्त में जगण (मध्य गुरु) है।

अडिल्ला

आ० स्वयम्भू ने स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है कि प्रबन्ध-रचना की दृष्टि से कड़वकों की बहुविध रचना होती है, जिन मे पद्धड़िया, छड्डणि, घत्ता आदि पर विशेष ध्यान दिया जाता है। उदाहरण के लिए, जिस कडवक में पद्धडी छन्द का प्रयोग होता है वह कड़वक सामान्यतः सोलह पक्तियो का होता है।[3] किन्तु आलोच्यमान ग्रन्थ मे इस नियम का पालन नही हुआ है। चार पद्धड़िया और एक घत्ता के क्रम से आठ से सोलह तथा चौबीस पक्तियों तक की कड़वक-रचना हुई है। अडिल्ला में भी सोलह मात्राएँ होती है। दोनो मे अन्तर यह है कि अडिल्ला में कहीं भी जगण का प्रयोग नही होता है और दो पादो के अन्त मे यमक तथा चरण के अन्त में दो लघु मात्राएँ होती है[4],

---

१ छड्डुणिय दुवइ धुवएहिं जडिय चउमुहेण समप्पिय पद्धडिय।—हरिवंशपुराण, (१, २)।

२ चत्वारि पादा षोडशमात्रा आद्यार्द्धे उत्तरार्द्धे च यमकं। सन्देशरासक अवचूरिका। प्राकृतपैंगलम् १,१२५। स्वयम्भूछन्द, ८.२०।

३ पद्धडिआ पुण जेइ करेन्ति ते सोडह मत्तउ पउ धरेन्ति।
बिहिं पअहि जमउ ते णिम्मअन्ति कडवअ अट्ठहि जम अहिरअन्ति। वही (८,१५)

४ सोलह मत्ता पाउ अलिल्लह बे वि जमक्का भेउ अडिल्लह
हो ण पओहर किंपि अडिल्लह अन्त सुपिअ भण छन्दु अडिल्लह। प्राकृतपैंगलम् १ १२७

किन्तु पद्धडिया में यमक आवश्यक नही है, पर प्रत्येक चरण के अन्त में जगण-रचना अनिवार्य है। इस का उदाहरण है—

अखलिउ सालंकारु सणेउरु पसरिउ पिंडवासु अंतेउरु।
सीहवारु सीहासणछत्तइं एवमाइ अण्णइं मि विहत्तइं। (१३,१०)

इस प्रकार अपभ्रंश के छन्दो में हमे दो बातें विशेष रूप से दिखाई देती है। एक तो यह कि बन्ध-रचना के निमित्त उन का प्रयोग होता है और दूसरे अलंकार-रचना छन्दों में गर्भित रहती है। यद्यपि सभी छन्दों में यह प्रवृत्ति नही दिखाई पड़ती है, किन्तु यह भी एक प्रवृत्ति है। सामान्यत जैसा कि पीछे कहा है कि एक कड़वक मे आठ यमक या सोलह पंक्तियाँ होती है। सोलह पंक्तियो में पद्धडी या अडिल्ला के चार छन्द होते है। किन्तु यह नियम व्यापक नही है। इस का कारण यही प्रतीत होता है कि पहले घत्ता देने का नियम नही रहा होगा। महाकवि स्वयम्भू के समय से ही इस का कदाचित् प्रचलन हुआ है। क्योंकि बन्ध-रचना में किसी छन्द को घत्ता नाम दिया जा सकता है। जिस प्रकार सन्धि के प्रारम्भ में प्रयुक्त होने वाले विशिष्ट छन्दो को ध्रुवक कहते हैं वैसे ही कडवक के आदि या अन्त मे प्रयुक्त स्वतन्त्र छन्द की कोई अभिधा नही थी। कोई भी छन्द आदि या अन्त में प्रयुक्त हो सकता था और जो छन्द प्रयुक्त होता था उस का वही नाम होता था। 'स्वयम्भूछन्द' में कहा गया है कि सन्धिबद्ध रचनाओ मे घत्ता, दुवई, गाथा, अडिल्ला कड़वक के अन्त मे और पद्धडिया तथा छड्डणि प्रारम्भ मे प्रयुक्त होते हैं।[1] इस प्रकार बन्ध-रचना तथा तद्रूप छन्दो का विधान-अपभ्रंश-प्रबन्ध काव्यो मे आठवी शताब्दी में ही हो चुका था। परवर्ती विकास-क्रम मे अन्य कई महत्त्वपूर्ण बातें मिलती है।

घत्ता

इस छन्द में बासठ मात्राएँ होती है। इस के आधे भाग में दसवी, अठारहवीं और इकतीसवी मात्रा पर विराम होता है। दोनो चरणो में चतुर्मात्रिक सात गण तथ अन्त मे तीन-तीन लघुमात्राएँ होती हैं।[2]

घत्ता का उदाहरण है—

विहुणिय सिरु भरडक्खिय लोयणु पइ पइ विभइ अणिमिसलोयणु।
णवतरुपल्लवदल सोमालउ हिंडइ तित्थु महापुरि वालउ॥ (४, ७)

भविष्यदत्तकथा मे घत्ता के कई प्रकार देखने को मिलते हैं। किसी में यदि तेईस मात्राएँ हैं तो किसी में सत्ताईस, किसी में उनतीस, तीस, इकतीस और बत्ती

---

१ सन्धिहि आइहि घत्ता दुवई गाहाडिल्ला।
मत्ता पद्धडिआए छड्डुणि आवि पडिल्ला॥ स्वयम्भूछन्द- (८,३)।

२ पिंगल कइ दिट्ठउ छन्द उकिट्ठउ घत्त मत्त बासट्ठि करि।
चउ मत्त सत्त गण बे वि पाअ भण तिण्णि तिण्णि लहु अन्त धरि॥ प्राकृतपैंगलम् (१,९९)
पढमं दह वीसाम बीए मत्ताइ अट्ठाइ तीए तेरह विरई घत्ता मत्ताई बासट्ठि॥ वही (१,१००)

मात्राएँ एक पंक्ति अर्थात् पादयुगल मे है। परन्तु कवि ने जिस छन्द का प्रयोग किया है उस के नियमो का पूरा पालन हुआ है। भले ही मात्रा के पीछे शब्दो में हेर-फेर करना पडे, पर छन्दोभंग दृष्टिगोचर नहीं होता।

दुवई

संस्कृत मे इसे द्विपदी कहते है। द्विपदी का अर्थ दो पद है। वस्तुत: इस में पाद चार प्रतीत होते हुए भी दो ही होते है। केवल दो पदो में पूरी बात कह दी जाती है। इस के भी कई रूप या प्रकार मिलते है। प्रस्तुत काव्य में सन्धि के प्रारम्भ मे ही नही मध्य में भी तथा कड़वक के अन्त मे दुवई का प्रयोग हुआ है।

दुवई के एक पद में अट्ठाईस और दोनो मे मिला कर छप्पन मात्राएँ होती हैं। इस मे एक षट्कल, पांच चतुष्कल और अन्त में एक गुरु होता है।[1] इस का उदाहरण है—

> पाणिग्गहिण जाइ जामायहु अहियमणाणुराइणा।
> जं चिंतिउ मणेण णीसेसु वि तं तहु दिण्णु राइणा॥ (१५, २)

मरहट्ठा

इस में चार पंक्तियाँ होती हैं। प्रत्येक पंक्ति में उनतीस मात्राएँ होती है। आठ मात्रा और फिर ग्यारह के स्थान पर विराम होता है। प्रारम्भ मे षट्कल, फिर पंचकल तथा चतुष्कल और अन्त मे क्रमश: गुरु, लघु तथा कुल एक सौ सोलह मात्राएँ होती है।[2]

चामर

इस छन्द के प्रत्येक चरण मे तेईस मात्राएँ होती है। आठवो मात्रा गुरु और सातवीं लघु होती है। इस के आदि और अन्त में क्रमश: गुरु और लघु तथा लघु और गुरु मात्रा होती है। इस मे पन्द्रह वर्ण और तेईस मात्राएँ एक पाद मे कही गयी है।[3]

---

१ छक्कलु मुह सठावि कइ चक्कलु पंच ठवेहु।
अतहि एक्कइ हार दइ दोअइ छंद कहेहु॥ प्राकृतपैंगलम्, (१, १५४)
पढम गणे कलछक्क चउक्कला पंचहुति कमलंता।
गुरुमज्झकउ मज्झ लहुआ दुवईए बीअ छट्ठंसा॥ छन्देशासन-अवचूरिका, (२, १०६)

२ एहु छंद सुलक्खण भणइ विअक्खण जंपइ पिंगल णाउ,
विसमइ दह अक्खर पुणु अट्ठक्खर पुणु एगारह ठाउ।
गण आइहि छक्कलु पंच चउक्कलु अन्त गुरु लहु देहु,
सउ सोलह अग्गल मत्त समग्गल भण मरहट्ठा एहु॥ प्राकृतपैंगलम्, (१, २०८)

३ चामरस्स बीस मत्त तीणि मत्त अग्गला,
अट्ठ हार सत्त सार ठाइ ठाइ णिम्मला।
आइ अंत हार सार कामिणी मुणिज्जए,
अक्खरा दहाइ पंच पिंगले भणिज्जए। प्राकृतपैंगलम् २ १५८

इस का उदाहरण है—

> आघुट्टइं ताइं सस परमसिद्धक्खरइं।
> सम्माणिं जाइ कयकल्लाणपरंपरइं ॥ (५, १६)

इस के दोनों पादों में पन्द्रह-पन्द्रह वर्ण और तेईस-तेईस मात्राएँ हैं। यद्यपि पहले पाद में सोलह वर्ण हैं, पर दोनों बातों में सर्वथा निर्दोष उदाहरण मिलना कठिन है।

भुजंगप्रयात

इस छन्द के प्रत्येक पाद में बारह वर्ण तथा बीस मात्राएँ होती हैं। इस में चार यगण होते हैं।[1] उदाहरण है—

> पयट्टो वणिदो वणे तम्मि काले,
> पइट्ठो तहिं दुग्गिजरिक्खे खयाले।
> दिसामण्डलं जत्थ णाउ अलक्खं,
> पहायं पि जाणिज्जए जम्मि दुक्खं ॥ (४, २)

शंखनारी

इस छन्द की रचना भुजंगप्रयात के आधे पाद को लेकर की जाती है। इस के प्रत्येक चरण में छह वर्ण अर्थात् दो यगण होते हैं। समूचे छन्द में चार चरण तथा चौबीस वर्ण होते हैं[2]। उदाहरण इस प्रकार है—

> रणे णीसरंते भयं वीसरंते।
> महावाणि वगे पुरे हट्ट मग्गे ॥ (१४, ८)

मरहट्ठा

इस में प्रत्येक पंक्ति में उनतीस मात्राएँ तथा कुल एक सौ सोलह मात्राएँ होती हैं। उदाहरण इस प्रकार है—

> तहिं घणतरु समोवि मयणायदोवि हिंडंति ते वणिद।
> दूरज्झिय पमाय परिमुक्क चाय चक्कलिय गीढविद।
> केवि जलु आहरंति कुंभइं भरंति आवंति तं जि लेवि।
> तरुफल चुणंति गेयइ कुणंति कुसुमइं लुडन्ति। (२, २४)

श्री दलाल और गुणे ने भ० क० की भूमिका में यही उदाहरण दिया है। किन्तु विचार करने पर यह खरा नहीं उतरता है। इस की प्रत्येक पंक्ति की मात्राएँ भिन्न हैं। कल-रचना की दृष्टि से आरम्भ की दो पंक्तियों में मरहट्ठा छन्द मान सकते हैं। अन्त में क्रमशः गुरु और लघु भी है। परन्तु अन्य पंक्तियों में उक्त लक्षण खरा नहीं उतरता। फिर, छन्द पूरे कड़वक में प्रायः एक ही देखा जाता है। केवल प्रारम्भ में तथा अन्त में कहीं-कहीं छन्द में भेद मिलता है।

---

१ अहिगण चारि पसिद्धा सोलहचरणेण पिंगलो भणइ।
तीणि सआ बीसग्गल मत्तंका समग्गाइ ॥ वही, (२, १२) ॥

२ महावण्णसद्दो भुअंगापआओ
दआ पाअ धरे कहो [illegible] ॥ वही (२, १२)।

सिंहावलोकन

इस छन्द मे चार चरण और प्रत्येक चरण में सोलह मात्राएँ होती हैं। इस में चतुष्कल तथा सर्वलघु की रचना की जाती है, और किसी भी चरण में जगण, भगण या द्विगुरु चतुष्कल न आने पावे—इस का ध्यान रखना आवश्यक होता है।[1] उदाहरण है—

घरि घरि तोरणइं पसाहियाइं
घरि घरि सयणइं अप्पाहियाइं।
घरि घरि बहु चंदण छडय दिण्ण
मचकुंद वणय दवणय पइण्ण॥ (८,९)

काव्य

इस छन्द के प्रत्येक चरण में चौबीस मात्राएँ होती हैं। प्रत्येक पाद के आदि और अन्त में दो षट्कल तथा मध्य में तीन चतुष्कल होते है। द्वितीय चतुष्कल मे जगण या विप्रगण (चार लघु) होना चाहिए।[2] इस का प्रयोग छप्पय के प्रथम चार चरणो में वस्तु के रूप मे तथा कहीं-कहीं स्वतन्त्र रूप से भी देखा जाता है। स्वतन्त्र रूप में—वस्तुरूप मे इस के उदाहरण मिलते है। यथा—

पियविरहाणलेण संतत्तउ सो हिंडंतउ।
पइसइ चंदकंति चैतालइ सव्व सुहालइ॥ (७, ८)

तथा—

दूसह पियविओय संतत्तउ मुच्छइं पत्तउ।
सीयलमारुएण वणिवाइउ तणु अप्पाइउ॥ (वही)

प्लवंगम

यह इक्कीस मात्राओं का छन्द है। इस में तीन षट्कल, चरण के आदि में गुरु तथा अन्त मे लघु एवं गुरु होता है। किसी में आरम्भ में गुरु देखा जाता है और किसी में अन्त में। तीन षट्कल (अठारह मात्राएँ) के साथ एक गुरु और एक लघु होता है[3]। उदाहरण है—

---

१. गण विप्प सगण धरि पअह पअं
भण सिंहअलोअण छन्द वरं।
गुणि गण मण बुज्झहु णाअ भणा,
णहि जगणु ण भगणु ण कण्ण गणा॥ प्राकृतपैंगलम्, (१, १८३)

२. आइ अन्त दुहु छक्कलउ तिण्णि तुरंगम मज्झ।
तीए जगणु कि विप्पगणु कव्वह लक्खण बुज्झ॥ वही, (१, १०६)

३. पअ पअ आइहि गुरुआ पिंगल भणेइ सअल णिक्भत्ति।
छन्द पवगम दिट्ठो मत्ताणं एक्कवीसंती॥ प्राकृतपैंगलम्, (१,१८)
तिक्कलु चउकल पचकल तिअ गण दूर करेहु।
छक्कलु तिण्णि पलस जेहि लहु गुरु अंत मुणेहु (वही १ १८

सा वरसिज्ज समारिवि दिण्ण पडिग्गहय ।
धूववत्तिवट्टीविय दीविय कणयमय ।
पण्णु फुल्लु हरियंदणु घुसिणु समाहरिवि ॥
सजलंतरि भिंगारहं सव्वट्टउ करिवि ॥ (१२, १२)

अन्तिम पंक्ति सदोष है ।

कलहंस

इस छन्द में तेईस मात्राएँ एक चरण में कही गयी हैं । इस में चार चरण होते हैं । चरण में प्रति दसवीं मात्रा पर यति होती है ।[1] इस का उदाहरण है—

पिक्खइ आवणाइं भरियंतर भण्डसमिद्धइं,
पयडिय पण्णयाइं णं गाइणि मडडहं चिंधइं ।
एक्क घणाहिलास पुरुसाइवलं रंधिपलित्तइ,
वरइत्तइजुवाइ णं वड्ढु कुमारिहुं चित्तइं ॥ (४, ८)

गाथा

गाथा के सब से अधिक भेदों का उल्लेख हमें प्राकृत के छन्दकोशों में मिलता है । प्राकृतपैंगलम् में इस के सत्ताईस भेदों का कथन है ।[2] किन्तु छन्दोनुशासन में इस के सहस्रों विकल्पों का उल्लेख है । उस में कहा गया है कि गाथा आर्या की भाँति ही संस्कृत से भिन्न भाषाओं में प्रयुक्त होता है ।[3] वस्तुतः आर्या आर्य जाति की साहित्यिक बन्ध-रचना का सूचक है । अतएव प्राचीनता के साथ-साथ शिष्टता एवं पूज्यता का भाव भी लिये हुए है । परन्तु गाथा लोकगाथाओं में प्रयुक्त होने वाला छन्द है, जो सर्वथा स्वतन्त्र रूप में विकसित हुआ है । अतएव आ० हेमचन्द्र ने समझने के लिए उसे आर्या की भाँति कहा है । सच बात तो यह है कि प्राकृत और अपभ्रंश का व्याकरण बहुत बाद में लिखा गया । क्योंकि बोलचाल की भाषा के व्याकरण नहीं लिखे जाते । जब तक भाषा स्थिर नहीं हो जाती उस के नियमों का अभिधान करना सुसम्मत नहीं होता । इसी प्रकार सम्मत लक्षणों के जाने बिना शास्त्रीय साहित्य भी नहीं लिखा मिलता । और जब तक साहित्य नहीं होता तब तक विविध छन्दों की शैली और परम्परा का विकास नहीं हो पाता । अतएव संभव है कि लोकयुगीन गाथा को देख कर उस की समता पर आर्या छन्द की रचना हुई हो । अपभ्रंश-काल में तो विभिन्न मात्रिक छन्द वर्णवृत्तों में ढाले गये, जो इसी प्रवृत्ति के सूचक हैं कि पहले निर्मिति लोक में होती है और बाद में उस की रचना साहित्य में की जाती है । आलोच्यमान कथाकाव्य में गाथा का उदाहरण है :—

१. समे नव ओजे चतुर्दश कलहंस । छन्दोऽनुशासन, (६, २८, २४)
२. लच्छी रिद्धी बुद्धी लज्जा मख माअ देहीआ । प्रा० पैं० । (१, ६०-६१)
३ आर्यैव संस्कृतेतरभाषासु गाथाछन्दोऽति गाथाप्रकरणम् । अत्र पूर्वार्धे प्रथमे च विकल्पाः स्वत्वात् । अग्रे ! अवानि एवमपरार्धेऽपि ४१

तहिं वणगहणि वहल तरुतडवि　गमिय रयणि अइ मुत्तामंडवि ।
पसरि पइट्ठु गहिरु गिरिकंदरु,　तं लंघिवि दिट्ठउ वरपुरवरु । (९, १२)

श्री दलाल और गुणे ने गाथा का यह उदाहरण दिया है, किन्तु सभी प्रकार की गाथाओं में पूर्वार्द्ध मे तीस और उत्तरार्द्ध में सत्ताईस मात्राएँ कही गयी है, जो उक्त उदाहरण में नही है । वस्तुत. यह संकीर्णस्कन्धक है, जिसे छन्दकोश मे गाथिनो कहा गया है । इस के पूर्वार्द्ध में तीस मात्राएँ तथा उत्तरार्द्ध मे बत्तोस होती है।[1] भ० क० में इस के अन्य उदाहरण भी मिलते हैं ।

भविसयत्तकहा में समाज और संस्कृति

आलोच्यमान काव्य मे राजपूतकालीन समाज और संस्कृति की स्पष्ट झलक दृष्टिगोचर होती है । भविष्यदत्त केवल सकल कलाएँ, ज्ञान-विज्ञान, ज्योतिष, तन्त्र-मन्त्रादिक ही नही सीखता है, वरन् विविध आयुधों का विविध प्रकार से संचालन, संग्राम में विभिन्न चातुरियों से बचाव, मल्लयुद्ध तथा हाथी-घोडे की सवारी आदि की भी शिक्षा प्राप्त करता है, जो उस युग की विशेष कलाएँ थी—

जोइसतंतमंतबहुभेयइं　　वहुविण्णाणजाणगुणछेयइं ।
विविहाउहइ विविहसंचरणइं　　रणि हत्थापहत्थवावरणइं ।
दिण्ण पहर पडिपहर पमुक्कइं　　खलणवलणवंचण लाहुक्कइं ।
मल्लजुज्झ आवग्गण संचइ　　ढोक्काकत्तरिकरणपवंचइ ।
गयतुरंग परिवाहण सण्णइं　　सारासार परिक्खण गण्णइं । (२।२)

उस युग में स्त्रियाँ विभिन्न कलाओं मे तथा विशेषकर संगीत और वीणालापन मे निपुण होती थी । सरूवा इन कलाओं से युक्त थी—

वीणालावणिगेयपरिक्खणु　　कुडिलवियारि सरोसणिरिक्खणु । (३, ३)

सामाजिक वातावरण और लोकरूढियो से भरित यह काव्य लोकयुगीन विशेषताओ की छाप से अंकित है, जिस में भविष्यदत्त का रण-कौशल प्रकट करना, धनवइका युद्ध के लिए तैयार होना, व्यापार छोड़ना आदि ऐसी बातें हैं, जो राजपूत काल की निजी विशेषताएँ रही हैं ।

लोकजीवन और लोकरूढ़ियाँ

लोकजीवन में परिव्याप्त सामान्य मान्यताओं का समावेश भलीभाँति इस काव्य में हुआ है । बन्धुदत्त के द्वारा छल से छोडे जाने पर भविष्यदत्त उस भयानक जंगल मे रात बिताता है । सवेरा होने पर फिर से वह वन में भटकता है कि इतने मे ही उसे शुभसूचक चिह्न दिखाई देने लगते हैं । अच्छी बयार बहने लगती है । बाँयी ओर मधुर ध्वनि करता हुआ लावा पक्षी और दाहिनी ओर मैना दृष्टिगत होती है । दाहिं

१　　संकीर्णम्, वही (४ १७

आँख और भुजा फड़कने लगती है—मानो ये बता रही हों कि यह मार्ग है, इस से चले जाओ। (४,५)। इसी प्रकार पुत्र के वियोग में संतप्त कमलश्री भोजन-पान, शयन, वचन सब कुछ छोड़ देती है। उसे कुछ भी अच्छा नहीं लगता। केवल खिसकते हुए कंगन वाले हाथों से कौओं को उड़ाती है। यदि कहीं चतुरता से कौआ बोलता है तो वह समझती है कि मेरा भविसयत्त मार्ग में आ रहा है। अतः वह कहती है कि मेरे भविष्यदत्त को घर के आँगन में ले आओ—

आसणु सयणु व्ययणु णउ भावइ सिढिलवलय वायसु उड्डावइ।
रडि वायस जइ किंपि वियाणहि भविसयत्तु महु मंगणि आणहि। (६,१)

स्पष्ट ही उस युग में प्रिय-वियोग में भारतीय ललनाएँ कौओं को उड़ाती थी और उस के माध्यम से पति तक सन्देश पहुँचाती थीं—

वायसु उड्डावंतिए पिउ दिट्ठउ सहसत्ति।
अद्धा वलया महिहि गय, अद्धा फुट्ट तडत्ति॥ (हि० प्रा० ८,४,३५२)

पुत्र के परदेश-गमन के अवसर पर माताएँ चन्दन का तिलक बेटे को लगा कर दही, दूर्वा और अक्षत उस के सिर पर डाल कर पूजा-वन्दना करती थी। यह मांगलिक कामना लोकाचार है, जो प्राचीन काल से इस देश में प्रचलित है। भविष्यदत्त की यात्रा के अवसर पर कमलश्री भी उस की पूजा करती है और बाद में उपदेश देती है—

सावि सिप्पि चदणहु भरेविणु अहिणवकंचणपत्ति करेविणु।
वंदणु करिवि वयणु अवलोइवि दहिदुव्वक्खय सिरि संजोइवि। (३,१७)

इसी प्रकार जल-देवता का पूजन भी एक लोक-रूढ़ि थी। जन सामान्य का विश्वास था कि यदि वरुण देवता की अर्चना नहीं की गयी तो कोई न कोई अनिष्ट हो सकता है। बन्धुदत्त जब मैनागद्वीप से लौटता हुआ घर के लिए प्रस्थान करता है तो वहीं समुद्र-तट पर शुभ मुहूर्त में चन्दन का चौक पूर कर पुष्प और अक्षतों से जल-देवता की पूजा करता है तथा दीपक बाल कर आरती उतारता है—

इत्थंतरि सुमुहुत्तु समारिउ किउ चउक्कु चंदणु बढारिउ।
पुज्जिय जलदेवय वित्थारिं पुप्फक्खय वलिदीवंगारिं। (७,३)

इसी प्रकार जलदेवता का प्रत्यक्ष होना और पोत का विपरीत दिशा में बहना आदि लोक-विश्वास है, जिनमें भारतीय जनता की आस्था दृढ़ एवं अत्यन्त सबल है—

हुअ पच्चक्ख महाजलदेवय हल्लोहलिउ लोउ वहणट्ठिउ।
वलिउ पवणु विवरीउ परिट्ठिउ। (७,११)

कवि धनपाल के समय में बहु विवाह की प्रथा थी। अतएव धनवइ और भविष्यदत्त दोनों के दो-दो विवाह होते हैं। समाज में वैश्यों का अच्छा स्थान था। राजा उन का आदर करता था नगरसेठ अत्यन्त होता था। व्यापार ही

राज्य की आय बढ़ाने का प्रमुख साधन था। इस लिए जो लोग धन कमाने के लिए द्वीपो की यात्रा करते थे, राजा उन्हें सभी प्रकार की सुविधा राज्य की ओर से प्रदान करता था। समाज मे यदि किसी प्रकार को अनुशासनहीनता या अव्यवस्था हो तो राजा उसे दूर करना अपना कर्तव्य समझता था। राजा लोग विशेष रूप से कानों मे सोने के बने हुए कुण्डल, हाथो मे कडे और माथे पर मुकुट धारण करते थे—

भविसत्तुणरिंदु कडयमउडकुंडलधरहिं। (२०,९)

विवाह एव मागलिक कार्यो मे बहुत अधिक द्रव्य व्यय किया जाता था। नागरिक जनो को भोजन-पान, विलेपन के अतिरिक्त यथायोग्य वस्त्र भी भेंट मे दिये जाते थे—

तंबोलु विलेवणु वत्थु लेवि जं जासु जोग्गु तं तासु देवि। (१,९)

बडे लोगों के विवाह मे राजा भी सम्मिलित होता था। राजा के लिए विशेप प्रबन्ध किया जाता था। लोग घर-घर उत्सव मनाते थे। मांगलिक कार्यों मे मुख्य रूप से दमामा, शंख, तुरही और मादल बजाये जाते थे। किन्तु युद्ध के समय विशेपत: नगाडा बजाते थे। जय-मंगल की घोपणा की जाती थी। बालकों की भाँति कन्याएँ भी विविध कलाओं की शिक्षा प्राप्त करती थी। वे गेंद से खेलती थी—

झिंदुअहिं रमंतिहि णयणइट्ठु पंगुरणविवरिथणकलसु इट्ठु। (१,८)

वर कन्या को देखे विना विवाह नही करता था। किन्तु समाज मे पर्दा-प्रथा भलीभाँति प्रचलित थी। वयस्क कन्याएं तक पर्दा करती थी—

तो इक्क वयकण्ण पंगुरणहिं सुहडहिं णारसीहहिं। (१४,१५)

श्रृंगार-प्रसाधन में महिलाएँ अत्यन्त रुचि रखती थी। बड़ी घर की ललनाएँ चन्दन से उबटन करती थी। सुवासित पदार्थों का लेपन करती थी। विविध प्रकार के आभूपणो को धारण करती थीं। भविष्यदत्त के सकुशल घर लौट आने पर तथा भविष्यानुरूपा को पति का सन्देश देने के लिए जाते समय कमलश्री विभिन्न आभूपणों का श्रृंगार करती है—

कमलइं पुत्तपयाव फुरंतिए लइउ दिव्वु आहरणु तुरंतिए।
वद्धु कडिल्लि अलक्खिय णामउ उप्परि पीडिउ रसणादामउ।
मुक्कउ किंकिणीउ णउ संकिउ भरिवि रयणकंचुवउ तडक्किउ।
मुद्धमरालज्यल किउ छण्णउं कम्बु कण्ठ कंदलिइ रवण्णउ।
पीणघणत्थणमण्डलहारि सिरधम्मिलकुसुमपब्भारि।
कण्णहिं कुंडलाइं आवद्धइं उप्परिवेढियाइं पहंचिवइं।
पूरिउ रयणचूडुमणिवलयहि दिण्णइं केऊरइं वाहुलयहिं। (९,१७)

जान पडता है कि करधनी, हार, कुण्डल और केशकलाप में कुसुमो का प्रसाधन सामान्य वनिताएँ भी करती थी। इसी प्रकार अँगूठी, भुजबन्द, कंगन, बिछुए, कटिसूत्र, मणिसूत्र आदि का भी सामान्य जनता म था य आभूषण तरह-तरह की शिल्प

चना से मुद्रित होते थे। स्त्रियाँ गहनों में हाथ-पैर की अँगुलियाँ और प्रकोष्ठ भर लिया करती थीं—

> अंगुलीउ मणिमुद्दावन्तउ बीसहिं अंगुलीहिं घल्लिन्तउ ।
> रयणमणिबद्धहिं णेउरजुयलउ मुहमंजीरिय महुरक्खलन्तउ ।
> जंघाजुयलि रयणि पज्जलन्तउ कडियलि रसणि कणयकिंकिणिवन्तउ ।
> रहुमणिचूडहु कंकणजुयलउ सोहिउ जहुवरि उज्जलइ ।। (९,१७)

मांगलिक कार्यों के लिए चौक पूरना, मंगल कलश सजाना, देवताओं का आह्वान करना आदि लोकरूढ़ियाँ प्रचलित थीं।

उस काल में युद्ध किसी सुन्दरी या राज्य-विस्तार के निमित्त होते थे। आलोच्यमान काव्य में पोदनपुर का राजा चित्रांग अपने सन्देश में दो ही बातें राजा भूपाल के सामने रखता है—मेरी अधीनता स्वीकार करो और भविष्यदत्त की दोनों पत्नियों को स्वेच्छा से भेंट कर दो—

> अह कण्णहिं कारणि काइं महारणि जाव तुम्हं विद्धंसणउ
> अज्जवि पियवत्तइ इक्कि सुमित्तइं हउं परिओसउ पुत्तइव्वउ ।। (१३,११)

उस समय कई छोटे-छोटे राज्य थे। चित्रांग सिन्धुपति कनरथ का पुत्र था। अनन्तपाल चम्पा का राजा था। मच्छ, कच्छ और कंधार देश के राजा भी इस संग्राम में सम्मिलित थे। ये सब पांचालदेश के राजा की ओर थे। चित्रांग उन सबका नायक था। इस से पता लगता है कि इस प्रकार के युद्ध उस युग में सामान्यतः प्रचलित थे। राज्य के छोटे होने पर कोई भी चार राजा मिल कर सरलता से धावा बोल देते थे। राजा भूपाल तथा उस के मन्त्री आदि के पैरों के नीचे से धरती इसी लिए खिसक गयी थी। किन्तु भविष्यदत्त ने सच्चे उत्साह, साहस एवं पराक्रम का परिचय दे कर देश की तथा अपनी लाज रख ली। धर्म के मूल में सत्य और न्याय की रक्षा मुख्य है, जिसे चरितार्थ कर कवि ने व्यावहारिक नय का रहस्य खोल कर रख दिया है।

विबुध श्रीधर और भविसयत्तचरिय

जैन-साहित्य मे श्रीधर और विबुध श्रीधर नाम के कई विद्वानों का पता लगता है। पं० परमानन्द शास्त्री ने श्रीधर नामक सात विद्वानों का परिचय दिया है।[1] संस्कृत भाषा मे लिखित विश्वलोचनकोश के रचयिता आचार्य श्रीधरसेन और श्रुतावतार की रचना करने वाले धरसेन या श्रीधरसेन निश्चित ही अपभ्रंश के कवि विबुध श्रीधर से भिन्न थे। अपभ्रंशकाव्य पार्श्वनाथचरित के कर्ता श्रीधर थे, विबुध श्रीधर नहीं।[2]

---

१ पं० परमानन्द जैन शास्त्री : 'श्रीधर या विबुध श्रीधर नाम के विद्वान', अनेकान्त, वर्ष ८, किरण १०-११,
पृ० ४६२

२. इय सिरिपासचरित्तं रइयं बुहसिरिहरेण गुणभरियं ... पासणाहचरिय १ ।

विबुध कवि की उपाधि जान पड़ती है, पर बुध शब्द पंडित या विद्वान् अर्थ का वाचक है। अतएव वे अन्य कवियो से भिन्न हैं। चौथे विबुध श्रीधर संस्कृत के भविष्यदत्त-चरित के लेखक हैं, जो अपभ्रंश के विबुध श्रीधर के समकालिक प्रतीत होते हैं। पाँचवें विबुध श्रीधर सुकुमालचरित के रचयिता हैं, जिन्होंने अपभ्रंश भाषा के पद्धड़िया छन्द में तथा छह सन्धियों में काव्य-रचना की है।[1] कवि श्रीधर वर्द्धमान चरित के भी लेखक थे। यह काव्य दस सन्धियो में निबद्ध है।[2] इनके सम्बन्ध मे कुछ कहना बहुत ही कठिन है। कवि के उल्लेख से यही पता लगता है कि इन्होने चन्द्रप्रभचरित और शान्तिनाथचरित काव्यों की भी रचना की थी।[3] वर्द्धमानचरित की एक अपूर्ण प्रति दूनी भण्डार, जयपुर में मिलती है। कवि अग्रवाल कुल मे उत्पन्न हुए थे और हरियाना के निवासी थे।

परिचय

अपभ्रंश के कवि विबुध श्रीधर ने भविसयत्तचरिय की रचना चन्द्रवाड नगर में स्थित माथुरवंशीय नारायण के पुत्र सुपट्टसाहु की प्रेरणा से की थी।[4] समूचा काव्य नारायणसाहु की भार्या रूपिणी के निमित्त लिखा गया है।[5] यह काव्य छह परिच्छेदो में निबद्ध है। इस में भविष्यदत्त की कथा काव्य रूप में वर्णित है। सुपट्टसाहु नारायण के पुत्र थे। उन के ज्येष्ठ भ्राता का नाम वासुदेव था।[6] कवि ने अपने सम्बन्ध मे कुछ भी नहीं लिखा। ग्रन्थ-रचना का उल्लेख अवश्य मिलता है। इस काव्य की रचना कवि के अनुसार वि० सं० १२३० में फाल्गुन मास के शुक्ल पक्ष में दशमी तिथि रविवार को सम्पूर्ण हुई।[7] ग्रन्थ के अन्त में कवि ने सुपट्ट साहु और रुप्पिणी की प्रशंसा करते हुए पूरा विवरण दिया है। वह साहु पूर्व समय में इस पृथ्वी तल पर अपने गुणो से अत्यन्त प्रसिद्ध था। उस के सीता नाम की गृहिणी थी, जो विनय तथा निर्मल गुणो से भूषित थी। उन के हाल नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। उन दोनों के जगविख्यात देवचन्द

---

१ पं० परमानन्द शास्त्री अनेकान्त, वर्ष ८, किरण १२, पृ० ४६४।

२, वही, पृ० ४६६।

३ वही, पृ० ४६६।

४ सिरिचन्दवारणयरट्ठिएण जिणधम्मकरण उक्कंठिएण।
माहुर कुलगयणतमीहरेण विबुहयणसुयणमणधणहरेण।
मइवर सुपट्ट णामालएण विणएण भणिउं जोडेवि पाणि। भविष्यदत्त चरित, १.२।

५. इय सिरि भविसयत्तचरिए विबुहसिरि सुकइ सिरिहर विरइए साहु णरायणभज्जा रुप्पिणि णामंकिए। वही।

६. णारायणदेहसमुब्भवेण मणवयणकायणिंदियभवेण।
सिरिवासुएव गुरुभायरेण भवजलणिहिणिवडणकायरेण। (१.२)।

७ विक्कमाइच्चकाले पवहंतए सुहयारएविसाले।
बारहसयवरिसहि परिगएहि दुगुणियपणरह वच्छरजुएहि।
फग्गुणमासम्मि ——— दसमिहिदिणे तिमिरुक्करविवक्खे
रविवारि ... एउ सत्थु जिह मइ ... सुप्पसत्थु। (६.३०

नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। वह माथुरकुल का भूषण, गुणरत्नों की खान था। जैनधर्म में उस की प्रगाढ़ श्रद्धा थी। लक्ष्मी के समान उस की माढो नामक धर्मपत्नी थी। उस के गर्भ से कनक वर्ण के समान साधारण नाम के पुत्र ने जन्म लिया। उस के दो पुत्र हुए। दूसरे का नाम नारायण था। इसी नारायण की भार्या रुप्पिणी थी, जिसने इस ग्रन्थ को लिखवाया था। कामदेव के समान उन दोनों के पट्टु नाम का पुत्र था। दूसरे पुत्र का नाम वासुदेव था। तीसरा यशदेव कहा गया है। उन के कुल पाँच पुत्र थे। सभी धर्म का पालन करने वाले अच्छे गुणों से विभूषित थे।

यह काव्य १५३० श्लोक ग्रन्थ प्रमाण है।[1] इस ग्रन्थ के लेखक कवि श्रीधर मुनि थे। सुपट्ट साहु उन की अनन्य भक्ति से दान, पूजा, व्रत आदि धार्मिक अनुष्ठानों में अनुरक्त रहता था।[2] कवि ने उसे सम्यक्त्व से अलंकृत, सच्चा धार्मिक होने से अभिनन्दन योग्य कहा है। इस काव्य में भविष्यदत्त के उत्पन्न होने से ले कर उस के निर्वाणगमन तक की सम्पूर्ण कथा का वर्णन है।

कथानक

तीर्थंकरों की वन्दना के पश्चात् कवि यथाशक्ति एवं बुद्धि के अनुसार इस श्रेष्ठ काव्य को रचने का प्रयोजन बतलाता हुआ कहता है कि चन्द्रवाड नगर में रहने वाले माथुर कुल में उत्पन्न सुपट्ट नामक साहु ने हाथ जोड़ कर अपनी माता के लिए मुझ से भविष्यदत्तचरित्र एवं पंचमी उपवास के पवित्र फल के वर्णन स्वरूप ग्रन्थ रचने को कहा। कवि ने उत्तर में कहा—भो सुप्पट, मैं अपनी सामर्थ्य के अनुसार जो कुछ मेरी बुद्धि में आता है उसे ज्यों का त्यों वर्णित कर कहता हूँ।

इस जम्बूद्वीप के अत्यन्त रम्य सुमेरु पर्वत की दक्षिण दिशा में शोभायमान एक कुरुजंगल नामक देश है। वह देश गोधन, नाना पशु-पक्षी, विविध कुसुम तथा सरोवर, सरिताओं आदि से अत्यन्त समृद्ध है। उस देश में हस्तिनागपुर है, जहाँ के लोग दान-पूजा आदि धार्मिक कृत्यों में सदा दत्तचित्त रहते हैं। वहाँ सब प्रकार के सुख हैं। जनता धन-धान्य से समृद्ध है। यह वही नगर है जिस में बहुत पहले ऋषभ जिनेन्द्र कुरुवंश को अलंकृत करने वाले उत्पन्न हुए थे। यहीं सोमप्रभ राजा ने जन्म लिया था, जो इन्द्र के समान प्रभावशाली था। सोमप्रभ के मेघेश्वर नामक पुत्र हुआ, जो इसी नगर का चक्रवर्ती था। उस के पश्चात् सनत्कुमार चक्रवर्ती हुआ। तदनन्तर शान्ति, कुन्थु और अरह नामक तीनों चक्रवर्ती यहाँ हुए। और भी अन्य श्रेष्ठ तथा प्रतापशाली राजा इस नगरी में उत्पन्न हुए। जिनवर चन्द्रप्रभ के समय में यहाँ भूपाल (भूवालु) नाम का राजा राज्य करता था। वह विविध भूपालों से अलंकृत ऐसा जान

---

१. एयहो सत्थहो सत्थपसाहिय [illegible] पंचदहजिससपुहुतीयसाहिय ।। (६.३३)।

२. [illegible] धम्मि दसंकिय [illegible] ।
सुप्पटु अहिणंदउ [illegible] ।। (१.१४)।

पडता था मानो जनता के अनुराग से स्वर्ग को छोड़ कर स्वयं इन्द्र ही पृथ्वी पर उतर आया हो। उस का यश गुफाओं और पर्वतों तक में लोगों के द्वारा गाया जाता था। इसी नगर में अत्यन्त रूपवान् धनपति नामक सेठ रहता था। वह नाना कलाओं से अलंकृत, गुणों से विभूषित और वैभव से सम्पन्न था। राजा ने अत्यन्त सम्मान पूर्वक उसे नगरसेठ के पट्ट पर समासीन किया। इसी अवसर पर सेठ धनेश्वर ने अत्यन्त रूपवती कमलश्री नाम की पुत्री का विवाह गाजे-बाजे के साथ धनपति से कर दिया। सेठ धनपति और कमलश्री बहुत समय तक काम-सुख का अनुभव करते हुए विभिन्न क्रीड़ाओं में समय बिताते रहे, किन्तु कोई सन्तान-प्राप्ति नही हुई। एक दिन उस नगर में सुगुप्ति नाम के मुनि का आगमन हुआ। कमलश्री ने दोनों हाथों को जोड़ कर भक्ति पूर्वक उन मुनि की पूजा-वन्दना की और पूछा कि हे स्वामिन्! मुझ मन्दभागिनी के कोई पुत्र होगा या नही। यह सुन कर मुनिदेव ने मधुर वाणी में समाश्वस्त करते हुए कहा—हे कमलश्री, कमल के समान ही तुम्हारे पुत्र उत्पन्न होगा। इन वचनो को विश्वासपूर्वक गाँठ में बाँध कर वह निश्चिन्त हुई। उस ने मुनि को आहार-दान दिया और सुख पूर्वक रहने लगी। कुछ समय बाद उस के गर्भ रह गया, और उत्तम दिन में अत्यन्त सुन्दर पुत्र उत्पन्न हुआ। इस अवसर पर राजा और रानी बधाई देने आये तथा वस्त्राभूषणों से सुशोभित किया। बड़ा उत्सव मनाया गया। बालक धीरे-धीरे चन्द्रमा की भाँति वृद्धि को प्राप्त हुआ। पाँच वर्ष का समय घर में ही खेलते-कूदते बीत गया। दोनो हाथों में चूरा (कड़े) पहने हुए, नूपुरो को पैरों में बाँधे हुए बाहर से जब उन्हें शब्दायमान करता हुआ वह घर में आता था तब जननी को अत्यन्त आनन्द प्राप्त होता था। इस प्रकार खेल-कूद में बालक भविष्यदत्त आठ वर्ष का हो गया। तब समारोह के साथ माता-पिता ने उसे उपाध्याय के घर पढने को बिठा दिया। भविष्यदत्त अल्प समय में ही लक्षण, अलंकार, छन्द, काव्य, आगम, नाटक आदि का अध्ययन कर शास्त्रों के अर्थ तथा विचारो से संयुक्त हो गया।

द्वितीय परिच्छेद में कवि ने धनपति और कमलश्री के अनुरागहीनता के कारण को बतलाते हुए लिखा कि पहले कमलश्री ने मुनिराज की निन्दा की थी इस लिए वह दुर्भाग्य को प्राप्त हुई, और एक दिन उस के पति ने उस से यहाँ तक कह दिया कि तुम में कोई दोष नही है, पर मुझे तुम भुजंगिनी के समान प्राण लेने वाली जान पडती हो। बेचारी कमलश्री रोती हुई अपने पिता के घर पहुँचती है। उसे अकेली रोती हुई देख कर पिता के मन मे शंका उत्पन्न हुई। इसी समय धनपति का भेजा हुआ एक गुणवान् पुरुष कमलश्री को संबोधने और वृत्तान्त सुनाने आता है, और कहता है कि आप की पुत्री में कोई दोष नही है, इस लिए इसे घर में रख लीजिए। कमलश्री वियोग में किसी प्रकार पिता के घर अपना समय बिताने लगी। इधर कमलश्री धर्म पूर्वक अपना समय बिता रही थी और भविष्यदत्त की शिक्षा-विधि चला रही थी, उधर नगर में सेठ धनपति धनदत्त की सरूपा सुरूपा) नामक पुत्री से ब्याह कर

भोग ऐश्वर्य के आनन्द को लूट रहा था। उस के बन्धुदत्त नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। वह साक्षात् कामदेव के समान था। सरूपा और बन्धुदत्त को प्राप्त कर सेठ धनपति कमलश्री को बिलकुल भूल गया। बन्धुदत्त धीरे-धीरे बढ़ कर युवावस्था को प्राप्त हुआ। एक दिन मित्रों के साथ वह उद्यान में गया। वहाँ मित्रों की सम्मति से स्वर्णद्वीप जाकर व्यापार कर द्रव्य कमाने की योजना प्रस्तावित हुई। धनपति ने राजा भूपाल से निवेदन किया। उन्होंने डुग्गी पिटवा कर पूरे नगर में इस की सूचना पहुँचवा दी। यह समाचार पा कर पाँच सौ मित्र बन्धुदत्त के साथ चलने को तैयार हो गये। भविष्यदत्त ने माता के सामने बन्धुदत्त के साथ जाने की इच्छा व्यक्त की। किन्तु कमलश्री ने यह कह कर बहुत रोका कि वह सौतेला भाई है और इस लिए जहाँ भी अवसर पायेगा वहाँ तुम्हें निश्चित मार डालेगा; पर भविष्यदत्त अपनी इच्छा पर दृढ़ रहा तथा जाने के लिए तैयार हो गया। वह बन्धुदत्त से मिला। सरूपा ने यह सुन कर कि भविष्यदत्त साथ में जाने को तैयार है, बन्धुदत्त को बहुत सिखाया-पढ़ाया और कहा कि जब भी अवसर हाथ लगे उसे जीता मत छोड़ना। अच्छे दिन में सभी पोत में बैठ कर दक्षिण दिशा के पूर्व कोण के अन्तर की ओर चल पड़े। मार्ग में तूफान आ गया, सभी बहुत घबराये। जिनदेव का स्मरण करने से संकट टल गया। आगे बढ़ने पर दूसरे दिन पवन उन के अनुकूल हो गया। और आगे चल कर मदन (मणय) द्वीप के किनारे लग गये। द्वीप अत्यन्त मनोहर था। सुपारी, लौंग, अनार, जंबीर आदि फलों की विपुलता थी। नारियलों की तो भरमार थी। सब वहाँ उतरे। पोत में ईंधन आदि चढ़ा कर, सभी को बुला कर और भविष्यदत्त को छोड़ कर बन्धुदत्त ने वहाँ से प्रस्थान कर दिया। उस के बाद उस ने सब को बताया कि उस से मेरा बैर है, इस लिए किसी ने कुछ भी नहीं कहा। किन्तु मन ही मन सब ने उस की निर्दयता को धिक्कारा। जब भविष्यदत्त ने पोत को जाते हुए देखा तब नाना प्रकार के फलों को सम्हालता हुआ शीघ्रता से दौड़ा और चिल्लाया कि मुझे चढ़ाओ, जहाज चला। किन्तु उस का भाग कर जहाज पकड़ना निरर्थक रहा। भविष्यदत्त मन में विचार करता है कि माँ ने बार-बार कितना रोका था, पर मैं नहीं माना। बिना पुण्य के मनुष्य की चाहना पूरी नहीं होती। अपनी पुण्यहीनता का विचार कर भविष्यदत्त प्रलाप करता हुआ संताप से बार-बार झूरने लगा। भीषण वन में भटकता हुआ वह अन्त में समतल भूमि में पहुँचा, जहाँ एक अत्यन्त स्वच्छ शिला बिछी हुई थी। पास में ही झरना झर रहा था। मुख का आचमन कर उस ने वहीं जिनदेव की भावपूजा की और फलों का भोजन किया। इतने में ही साँझ हो गयी, चारों ओर अन्धकार फैल गया। भविष्यदत्त वहीं शिला पर सो गया।

तीसरे परिच्छेद में भविष्यदत्त जिनदेव का स्मरण करता हुआ प्रभात में शयन से उठता है और बार-बार चिन्ता करता हुआ चल पड़ता है। चलते-चलते वह थक कर चूर हो जाता है और अन्त में तिलकपुर पहुँचता है नगर परिखा और कोट से घिरा

हुआ था। गोपुर तथा घर भलीभाँति सजे हुए थे। किन्तु वहाँ पर एक भी मनुष्य नही दिखाई दिया। भविष्यदत्त उस पुर की शोभा को देख कर ठगा-सा रह गया। वहीं उसे चन्द्रप्रभ जिन का मन्दिर दिखाई दिया। उस के भीतर प्रवेश कर उस ने भक्तिभाव से पूजन किया। यहीं से कवि एक अन्य कथानक को ऊपर से जोड़ देता है, जो इस प्रकार है—इसी बीच पूर्व विदेह क्षेत्र मे यशोधर नाम के मुनिराज को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ। वहाँ जा कर विद्युत्प्रभ ने उन से अपना पूर्व वृत्तान्त पूछा। केवलज्ञानी मुनि ने उत्तर में कहा कि हस्तिनागपुर में वणिक् सेठ धनपति और कमलश्री से उत्पन्न भविष्यदत्त पूर्व जन्म मे तुम्हारा मित्र था, जो इस समय भाई से धोखा खा कर तिलकपुर में भटक कर पहुँच गया है। वह बारह वर्ष तक उस नगर में भविष्यानुरूपा के साथ पाणिग्रहण पूर्वक सुखों का उपभोग करने के बाद बन्धु-बान्धवों से जा कर मिलेगा। मुनि के इन वचनों को सुन कर उन्हें प्रणाम कर वह भविष्यदत्त को देखने के लिए चल पड़ा। उस नगर में पहुँच कर वह देखता है कि मेरा मित्र सो रहा है। उसे जगाना उचित न समझ कर उस ने खड़िया से दीवाल पर अक्षरों की कुछ पंक्तियाँ लिख दी। फिर, क्षण भर मे मानभद्र को बुला कर कहा कि तुम इसे माता-पिता के पास हस्तिनागपुर सुख से भेज देना। सो कर उठने पर भविष्यदत्त ने देखा कि दीवाल पर कुछ लिखा है। बार-बार ध्यान से देख कर उस ने उन अक्षरो को पढ़ा और लिखे अनुसार वह उत्तर दिशा मे स्थित पाँचवें घर पर जा पहुँचा। वहाँ भविष्यानुरूपा (भविसाणुरूव) नाम की सुन्दरी रहती थी। उस ने जब भविष्यदत्त को देखा तब अत्यन्त हर्षित हुई। उस ने ललित वचनों में भविष्यदत्त का परिचय पूछा। उस ने आने का सब वृत्तान्त बताया। इसी समय एक विकराल असुर वहाँ आया और भविष्यदत्त को मारने के लिए दौड़ा। किन्तु भविष्यदत्त ने दृढ़तापूर्वक उसे रोक दिया। जब वह अत्यन्त निकट आ गया तब उस का कोप शान्त हो गया और वह चला गया। असुर जाते-जाते उस कुमारी को भविष्यदत्त के लिए सौप गया और कह गया कि तुम्हारे लिए ही मैं ने इसे बचा कर रखा है। भविष्यदत्त भविष्यानुरूपा के साथ अनेक प्रकार की क्रीड़ाओं तथा मनोविनोदों में काल यापन करता हुआ सुख से रहने लगा।

उधर कमलश्री अत्यन्त सन्तापित हो कर पुत्र के वियोग में छीजने लगी। पुत्र के दर्शन के लिए वह अधिकांश समय जिनमन्दिर में बिताने लगी। इसी समय सुव्रता नाम की अर्जिका से कमलश्री ने सब वृत्तान्त कहा। उन्होंने सित पंचमी के दिन उपवास तथा श्रुत-पंचमी व्रत पालन करने का उपदेश दिया। रत्नत्रय की भाँति यह व्रत असाढ, कातिक और फागुन की सित पंचमी को विधान-पूजन और उपवास के साथ पाला जाता है। इस क्रम से इकसठ महीने तक व्रत को साध कर फिर उद्यापन विधि से समाप्त करना चाहिए। कमलश्री भूखी-प्यासी रह कर मलिन मुख से पुत्र का ध्यान करती हुई व्रत पूवक रहन लगी उसे अत्यन्त दु खी जान कर अर्जिका न कमलश्री क

साथ में ले जा कर चन्द्रप्रभ नामक मुनि से भविष्यदत्त के सम्बन्ध में पूछा। उन्होंने उत्तर दिया कि बारह बरस के बाद वैसाख सुदी पंचमी के दिन वह स्त्री-रत्न, स्वर्ण, रत्न आदि से सम्पन्न हो कर घर वापस आयेगा। मेरे इन वचनों को निश्चित मानो। कमलश्री भी उन पर विश्वास रख निश्चिन्त हो कर व्रतों का पालन करती रही।

चतुर्थ परिच्छेद का आरम्भ भविष्यदत्त और भविष्यानुरूपा के मधुर आख्यान से होता है। भविष्यानुरूपा पति से अपनी ससुराल के सम्बन्ध में पूछती है। भविष्यदत्त सब वर्णन कर सुनाता है। फिर दोनों ही एक मत हो उस नगर से धन, कंचन, रत्न, मणि आदि साथ में ले कर हस्तिनागपुर के लिए प्रस्थान करते हैं। वे दोनों समुद्र के तट पर पहुँचते हैं। इतने में बहुत समय के बाद वणिक्दल के साथ बन्धुदत्त उसी मार्ग से जहाज में लौटता हुआ कुतूहल के साथ उन को देख कर वहाँ पर उतर पड़ता है और सब के साथ भविष्यदत्त से मिलता है। वह भाई से अपने दुर्व्यवहार के लिए क्षमा माँगता है। भविष्यदत्त उन सब का वस्त्राभूषणों से स्वागत कर उन्हें षड्रस-व्यंजनों का भोजन चाँदी के थालों में कराता है। बन्धुदत्त इस समय भी अपना कपट-पूर्ण व्यवहार नहीं छोड़ता। वह भाई से उल्लास के साथ कहता है कि ऐसा करो जिस से हम सब धन-कन-कंचन से युक्त एक साथ बन्धु-बान्धवों से जा कर मिल सकें। भविष्यदत्त अपना सब सामान और धन, रत्न आदि जहाज पर चढ़वा देता है और भविष्यानुरूपा भी उस पर बैठ जाती है। इतने में उसे स्मरण हो आता है कि मेरी नागमुद्रा तिलकपुर में सेज पर छूट गयी है। वह पतिदेव से लाने के लिए निवेदन करती है। इधर भविष्यदत्त मुँदरी लेने जाता है और उधर बन्धुदत्त जहाज चलवा देता है। भविष्यदत्त जहाज को जाता हुआ देख कर शून्य मन हो जाता है। उसे बहुत अधिक सन्ताप होता है और कई तरह से प्रलाप करने लगता है। वन के पक्षी उसे समझाते हैं और वह चन्द्रप्रभ के जिनमन्दिर में पहुँचता है। भगवान् का पूजन करने से उस का चित्त शान्त होता है। उधर भविष्यानुरूपा पति का स्मरण करती हुई बहुत दुःखी होती है। बन्धुदत्त कामभाव से उस के पास जाता है और करुण याचना करता है। वह समुद्र में डूब कर प्राणों को छोड़ने का विचार करती है। किन्तु वनदेवी स्वप्न में उसे सम्बोधती है और कहती है कि एक महीने के भीतर तुम्हारे स्वामी बहुत द्रव्य से युक्त तुम से आ कर मिलेंगे इस लिए मरन का विचार छोड़ कर कुछ दिन और प्रतीक्षा करो। उस ने यह भी कहा कि तुम्हारे शील के प्रभाव से ही जहाज किनारे लग सका है। सब लोग अपने घर पहुँच जाते हैं। बड़ा आनन्द मनाते हैं। कमलश्री सरूपा से भविष्यदत्त के सम्बन्ध में पूछती है, पर वह कुछ भी नहीं कहती। तब बन्धुदत्त से पूछती है। वह उत्तर में कहता है कि वह वहीं रह गया है। तब चिन्तित हो कर आर्जिका तथा मुनि से पूछती है। वे बतलाते हैं कि बीसवें दिन तुम्हारा पुत्र घर आयेगा। बन्धुदत्त राजा के पास जाता है। वह उपार्जित द्रव्य उसे सौंपता है।

के साथ विधिवत् पाणिग्रहण की तैयारी होने लगती है। इसी बीच

अच्युत स्वर्ग के इन्द्र के आदेश से मणिभद्र तिलकपुर पहुँचता है, जहाँ भविष्यदत्त पूजा-विधि सम्पन्न कर रहा था। वह विद्याधर उस से आने का समस्त वृत्त कहता है और समझाता है। उस ने तुरत ही सोने का रत्नजटित एक विमान तैयार कर उसे रत्नों से भर दिया। भविष्यदत्त आवश्यकीय वस्तुओ को ले कर विमान मे बैठ कर घर के आँगन मे आ उतरा। उस समय कमलश्री अर्जिका के पास थी। उन्होंने उस से कहा—लो उठो, तुम्हारा बेटा आ गया। माँ को देखते ही भविष्यदत्त उस के पैरो लगा और माँ ने उसे छाती से लगा लिया। उस ने उसे बहुत असीसें दी और फिर अर्जिका के पास ले गयी। वहाँ से आ कर माँ ने बेटे को बन्धुदत्त और भविष्यानुरूपा के विवाह का सब वृत्तान्त सुनाया। बेटे ने भी आदि से ले कर अन्त तक का सब वृत्त कह सुनाया। सबेरे भविष्यदत्त राजा को धन-द्रव्य देने गया। राजा ने उस से बहुत कुछ पूछा, पर वह चुप रहा। दूसरे दिन राजा के पास भविष्यदत्त के मामा ने जा कर कहा कि हमारे भानजे के साथ बन्धुदत्त का झगड़ा है। राजा ने धनपति सेठ को बुला कर उत्तर माँगा, पर सेठ ने घर में विवाह होने से इस प्रसंग को टालना चाहा। तब राजा ने उसे बलात् बुलवाया। कमलश्री ने जा कर राजा के सामने मुँदरी तथा वस्त्राभूषण उपस्थित किये। सेठ ने यह झगड़ा जान कर बन्धुदत्त से बहुत कुछ पूछा, पर उस ने सच नही बताया। दूसरे दिन राज-मन्दिर में सभा हुई। बन्धुदत्त बोला मेरा कोई झगड़ा नही है। किन्तु भविष्यदत्त को देख कर उस का मन काँप गया। सब रहस्य प्रत्यक्ष हो गया। राजा को जब बन्धुदत्त की करतूतों का पता लगा तो तुरन्त तलवार हाथ मे ले कर उसे मारने के लिए तैयार हो गया। किन्तु भविष्यदत्त ने राजा को रोका और दण्ड देने से बचाया। राजा ने भविष्यदत्त को आधा सिंहासन दिया और अपनी पुत्री को देने का वचन दिया। कमलश्री को इस से अत्यन्त सन्तोष हुआ। धनपति ने कमलश्री के प्रति किये गयें व्यवहार के लिए राजा के समक्ष क्षमा मांगी। बन्धुदत्त से उस के पैरो में पड़ कर प्रणाम करवाया। भविष्यदत्त और भविष्यानुरूपा की ठाट-बाट से पाणिग्रहण-विधि सम्पन्न हुई। राजा ने आधा राज्य और अपनी पुत्री सुमित्रा को भी विधि पूर्वक भविष्यदत्त को सौंप दी।

पाँचवें परिच्छेद का 'भविष्यदत्त के राज्य करने से' आरम्भ होता है। गृहिणी और राज्य सुख का भोग करते हुए भविष्यदत्त का बहुत समय बीत गया। इस बीच भविष्यानुरूपा के दोहला उत्पन्न हुआ और पति के पूछने पर उस ने तिलकद्वीप जाने की इच्छा व्यक्त की। इतने में मनोवेग नाम का एक विद्याधर राजा के पास आया और फिर उस ने भविष्यदत्त से कहा कि मेरी माता तुम्हारे घर में प्रिया के गर्भ में आयी है, ऐसा मुझ से मुनिराज ने कहा है। इस लिए आप मुझे कुछ करने की आज्ञा प्रदान करें। भविष्यदत्त प्रिया के साथ विमान मे बैठ कर विद्याधर के साथ तिलकद्वीप के लिए चल पडा। मार्ग में उसे वही शिला, झरना आदि मिले। वहाँ पहुँच कर भक्तिपूर्वक जिनपूजन किया और आनन्द पूर्वक विहार किया वहाँ उन्हें

चारण मुनि युगल दृष्टिगोचर हुए। उन से पूर्व भव का वृत्तान्त सुन कर विमान से वापस घर लौट आये।

कुछ समय के बाद भविष्यानुरूपा के सोमप्रभ नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। उस के कुछ वर्षों के पश्चात् एक दूसरा कंचनप्रभ नाम का पुत्र हुआ। फिर, दो पुत्रियाँ हुईं, जिन का नाम तारा और सुतारा था। सुमित्रा के भी धरणीपति नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। दूसरी उस के धारिणी नाम की पुत्री हुई। ये सभी सुन्दर और रूपवंत थे। निष्कंटक राज्य करते हुए भविष्यदत्त को बहुत समय बीत गया। इस बीच मणिभद्र की सहायता से सिंहलद्वीप तक अपनी कीर्ति को फैला कर अनेक राजाओं को अपने अधीन कर लिया। एक दिन चारण ऋद्धिधारी मुनिवर के आगमन को सुन कर धनपति और कमलश्री के साथ भविष्यदत्त परिवार सहित मुनि-वन्दना के लिए गया और उन से श्रावक का धर्म पूछा। मुनिराज ने अष्ट मूल गुण पालन करने का उपदेश किया।

छठें परिच्छेद में भविष्यदत्त के निर्वाण का विवरण देते हुए कवि ने ग्रन्थ को समाप्त किया। सेठ धनपति मुनिराज से अपने पूर्व भवों को पूछता है। मुनि पहले भवों की कथा कह कर तीन भवों के पश्चात् भविष्यदत्त के मोक्ष जाने की बात कहते हैं, जिसे सुन सभी हर्षित होते हैं। कमलश्री सुव्रता के साथ आर्जिका हो जाती है और धनपति एक वस्त्र धारण कर ऐलक की दीक्षा ग्रहण कर लेते हैं। धनपति कठोर तप को तप कर दसवें स्वर्ग में जा कर सुरपति होते हैं और कमलश्री स्त्रीलिंग का छेद कर रत्नचूल नाम का देव होती है। भविष्यानुरूपा भी स्वर्ग में जा कर देव हुई और वहाँ से पृथ्वीतल पर आ कर पुत्र हुई। कमलश्री नन्दिवर्द्धन नामक नृप हुई। भविष्यदत्त पन्द्रह हजार राजाओं के साथ मुनिव्रत धारण कर क्रम से भवों का छेदन कर मोक्ष-लक्ष्मी को प्राप्त करता है।

भविष्यदत्तकथा और उस की परम्परा

धनपाल की भविष्यदत्त कथा काव्य के लिए कोई नवीन वस्तु नहीं थी। क्योंकि इस के पूर्व महेश्वरसूरि प्राकृत में 'ज्ञानपंचमीकथा' लिख चुके थे। किन्तु दोनों कथाओं में अन्तर है। महेश्वरसूरि की ज्ञानपंचमीकथा में दस आख्यान हैं। उस में भविष्यदत्त की कथा श्वेताम्बर-परम्परा में वर्णित है। इस परम्परा में इस कथा के अन्य नाम हैं—सौभाग्यपंचमीकथा, श्रुतपंचमी वर्णनरूप ज्ञानपंचमी कथा और वरदत्तगुणमंजरीकथा। मुख्य रूप से ज्ञानपंचमीकथा में वरदत्त और गुणमंजरी की कथा वर्णित मिलती है। परन्तु महेश्वरसूरि की ज्ञानपंचमी में कुछ अन्तर है। इस में कथा इस प्रकार है—'दक्षिण भारत में गजपुर नाम के नगर में भूपाल नामक राजा राज्य करता था। उसी नगर में धणवइ सेठ रहता था, जिस के कमलश्री नाम की सुन्दर पत्नी थी। उन दोनों के भविष्यदत्त पुत्र उत्पन्न हुआ। आठ वर्ष की अवस्था में ही वह सर्व विद्याओं में पारंगत हो गया। सहसा सेठ का मन कमलश्री से उचट गया और उस ने वरदत्त सेठ तथा

मनोरमा की पुत्री नागसरूपा से विवाह कर लिया। उस से बन्धुदत्त पुत्र उत्पन्न हुआ। पाँच सौ साथियो के साथ दोनों स्वर्ण द्वीप में गये। मार्ग मे मयनागद्वीप मे छल से बन्धुदत्त भविष्यदत्त को छोड़ देता है। भविष्यदत्त कंचन से परिपूर्ण नगरी में गुफा में से हो कर पहुँचता है। पूर्व विदेह में जसोधर मुनि से पूर्व भव का वृत्तान्त सुन कर अच्युतकल्प का महेन्द्र मित्र भविष्यदत्त के पास जाता है और दीवाल पर अक्षर लिख कर लौट आता है। भविष्यदत्त उन अक्षरों को पढ़ कर पाँचवें घर पर पहुँचता है। सुन्दरी से उस का विवाह हो जाता है। कमलश्री समाधिगुप्त नामक मुनिराज से पुत्र-प्राप्ति के निमित्त नागपंचमी का व्रत ग्रहण करती है। अन्त मे भविष्यदत्त घर लौट कर आता है। जब राजा को बन्धुदत्त के दुष्कृत्य का पता लगता है तब वह बन्धुदत्त को दण्ड देता है और भविष्यदत्त के साथ अपनी कन्या का विवाहकृत्य पूरा कर आधा राज्य प्रदान करता है। भविष्यदत्त की पत्नी भविष्यदत्ता के दोहला होता है। दोनो ही तिलकद्वीप में जाते हैं। वहाँ युगल मुनिवर के दर्शन होते है। बहुत समय तक सुख भोग करने के उपरान्त एक दिन नगर में मुनिराज का आगमन सुन कर भविष्यदत्त दर्शन करबे जाता है और दीक्षा ग्रहण कर लेता है।' इस प्रकार युद्ध-विवरण को छोड कर कथानक लगभग दोनो मे समान हैं। किन्तु धनपाल की भविष्यदत्तकथा की वस्तु स्पष्टत: विबुध श्रीधर रचित 'भविष्यदत्तचरित्र' से ली गयी है। कथानक-बन्ध तथा शैली में भी दोनों मे साम्य लक्षित होता है। केवल विबुध श्रीधर ने धनेश्वर और लच्छी के पुत्री कमलश्री का होना कहा है और धनपाल ने उसे हरिबल तथा लच्छी की पुत्री कहा है। शेष बातें दोनो में समान हैं।

जैन-साहित्य में भविष्यदत्त की कथा ख्यातवृत्त रही है। अतएव प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश और हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में इस के लिखे जाने के उल्लेख मिलते हैं। जिनरत्नकोश मे दस ज्ञानपंचमी कथाओं का उल्लेख है।[1] इसी प्रकार मंजुश्री विरचित 'कार्तिकसौभाग्यपंचमीमाहात्म्य' कथा संस्कृत मे तथा पद्मसुन्दर कृत भविष्यदत्तचरित्र (नाटक) का उल्लेख मिलता है।[2] इन के अतिरिक्त अपभ्रंश में विबुध श्रीधर रचित भविष्यदत्तचरित्र तथा संस्कृत मे पं॰ श्रीधर कृत भविष्यदत्तचरित्र का उल्लेख ही नही रचनाएँ भी प्राप्त होती हैं। हिन्दी में ब्र॰ रायमल्ल विरचित भविष्यदत्तचौपई मिलती है, जिसे पंचमीकथा या पंचमीरास भी कहते हैं। बनवारी कृत भविसदत्तचरित्र संवत् १६६६ की रचना है, जो चौपाई बन्ध में निबद्ध है। इसी प्रकार भविष्यदत्त तथा पंचमीव्रतकथा को ले कर कई अज्ञात लेखकों की भी रचनाएँ मिलती हैं। गुजराती में बनारसी कृत ज्ञानपंचमी चैत्यवन्दन ज्ञानपंचमी उद्यापनविधि स्वा

ध्याय सूरि रचित ज्ञान और गणविजय

कृत ज्ञानपंचमीस्तवन आदि रचनाएँ मिलती हैं।[1] संस्कृत में मेघविजय विरचित पंचमी-कथा और क्षमाकल्याण कृत सौभाग्यपंचमीकथा काव्यों का उल्लेख मिलता है।[2] हिन्दी में जिनउदय गुरु के शिष्य और ठक्कर माल्हे के पुत्र विद्धणू की ज्ञानपंचमीचउपई का भी उल्लेख है।[3] मुक्तिविमल कृत ज्ञानपंचमी तो बहुत पहले प्रकाशित (१९१६ ई०) हो चुकी है। हिन्दी में तो छोटी-बड़ी प्रकाशित-अप्रकाशित कई रचनाएँ मिलती हैं। बनवारीलाल विरचित भविष्यदत्तचरित्र तो धनपाल की भविष्यदत्तकथा का हिन्दी पद्या-नुवाद ही जान पड़ता है। इसी प्रकार साहु रत्नपाल भण्डारी लिखित दोहा-चौपाई छन्दोबद्ध भविष्यदत्तश्रुतपंचमी की कथा भी धनपाल के कथाकाव्य का पद्यानुवाद है। यह संवत् सत्रह सौ सत्तावन की रचना है। परन्तु अविकल अनुवाद दोनों में से एक भी नही है। हाँ, सिन्धुनरेश के युद्ध का विवरण दोनों में मिलता है। इस प्रकार महेश्वरसूरि से ले कर (नवमी शताब्दी से पूर्व) पन्नालाल चौधरी (उन्नीसवीं शताब्दी) तक भविष्यदत्तकथा निरन्तर भारतीय भाषाओं में लिखी जाती रही है। इस से कथा के महत्त्व का पता लगता है।

संस्कृत के कवि विबुध श्रीधर

संस्कृत के कवि विबुध श्रीधर कृत भविष्यदत्तचरित्र पन्द्रह सर्गों की रचना है। इस की ग्रन्थ-सख्या पन्द्रह सौ बत्तीस है। अपभ्रंश के कवि विबुध श्रीधर और इन की रचना कथावस्तु में बिलकुल समान है। भाषा सरल एवं प्रसाद गुण से युक्त है। कहीं-कही महाकवि कालिदास की शैली तथा भावों का प्रभाव दिखाई देता है। यथा-स्थान सूक्ति तथा नीतिमूलक वाक्यो के प्रयोग से काव्य सजीव बन गया है। कवि ने इस कथा को गुरु-परम्परा से प्राप्त कर श्रुति रूप में ज्यों की त्यों अपना कर लिपिबद्ध कर अपने आप को अभिव्यक्त किया है। इस की एक प्रतिलिपि प्रति आमेरशास्त्र-भण्डार, जयपुर में है, जो विक्रम संवत् १५५५ की लिखी हुई है। निश्चय ही यह काव्य अपभ्रंश-कवि विबुध श्रीधर के भविष्यदत्तचरित्र के पश्चात् लिखा गया है।

अपभ्रंश-कवि विबुध श्रीधर

कई बातो में अपभ्रंश के कवि विबुध श्रीधर और उन के काव्य का महत्त्व है। पहली तो यह कि धनवइ कमलश्री को इस लिए नहीं छोड़ता है कि बालक भविष्यदत्त रतिगृह में था और उसे देख कर सेठ के मन में अन्यथा भाव उत्पन्न हुए और उस ने पत्नी को मायके जाने के लिए कह दिया; किन्तु वह किसी बात पर रुष्ट हो जाता है जिस से उस का हृदय उस से निकल जाता है और वह छोड़ देता है। महेश्वरसूरि की कथा में इस का संकेतमात्र है कि बिना किसी दोष के सहसा ही वह उसे छोड़

देता है। संस्कृत की कथा में विबुध श्रीधर की कमलश्री विनय के साथ पति से पूछती है कि आप किस कारण से मुझ से कुपित हो गये हैं, क्योंकि बिना कारण तो पशु पर भी कोई कुपित नही होता। किन्तु सेठ कहता है कि नहीं, तुम से कुछ भी दुःख नही है, किन्तु तुम्हे देखते ही हृदय में आग लग जाती है। परन्तु अपभ्रंश-कवि विबुध श्रीधर की कमलश्री पति से तर्क-वितर्क न कर प्रेम से पूछती है कि क्या आप मुझ पर रुष्ट है? मुझे इस प्रकार अकेली क्यो कर दिया? यदि मुझ मे कोई दोष हो तो बताइए। वह अकारण ही अपने क्रोध को प्रकट करता हुआ कहता है कि तुम मे कोई दोष नही है। धनपाल ने वातावरण उत्पन्न कर उस मे स्वाभाविकता ला दी है, पर पाठक के मन में यह प्रश्नवाचक चिह्न लगा ही रह जाता है कि अकारण पति ने कमलश्री को क्यो छोड़ दिया? धनपाल ने इस का समाधान यही दिया है कि पूर्व कर्मों के अनिष्ट से ही धनवड ने पत्नी के साथ ऐसा व्यवहार किया। इस लिए ज्यो-ज्यों कमलश्री उस की आशाओं को पूरा करती है त्यों-त्यों उस का हृदय बिसूरता है। अन्त में जब वह घर मे ही वियोगिनी की भाँति दुःखों को झेलने लगी तब किसी प्रकार माता-पिता के घर चली गयी। यहाँ कवि ने कर्मों को अदृष्ट कारण बता कर कथा की अस्वाभाविकता को बचा लिया है।

विबुध श्रीधर की भविष्यदत्तकथा

अपभ्रंश में लिखा हुआ यह कथाकाव्य धनपाल की भविष्यदत्तकथा से पहले की रचना है। काव्य का प्रारम्भ जिन-वन्दना से हुआ है। फिर, कवि ने अपना संक्षिप्त परिचय दे कर भविष्यदत्त के चरित्र के वर्णन का उपक्रम किया है। इस काव्य में छह परिच्छेद हैं। प्रत्येक परिच्छेद कड़वकों में निबद्ध है। बन्ध-रचना मे यद्यपि कवि ने साहित्यिक परम्परा का पालन किया है, पर साहित्यिक रूढ़ियों का परिपालन नही हुआ है।

भाव-पक्ष

प्रत्येक काव्य की गुण-दोष की विवेचना के लिए उस के भाव और कला-पक्ष दोनों का सम्यक् विवेचन और अभिव्यंजना के अनुरूप उस की परख आवश्यक है। काव्य का सौन्दर्य इन्हीं दो कूलो के मध्य तरंगित देखा जाता है। भाव-पक्ष में मर्मस्पर्शी भावनाओं और रसान्विति की मुख्यता निहित होती है। कला-पक्ष में रस, अलंकार, छन्द, भाषा और शैली मुख्य हैं।

यद्यपि इस काव्य मे कई मार्मिक स्थल हैं, पर घरेलू वातावरण से ओतप्रोत कमलश्री का वह दृश्य दर्शनीय है जब वह धीरे-धीरे माता के घर पहुँचती है। माता उसे अपनी आँखों से क्षीण शरीर से युक्त देख कर कहती है कि क्या तुम्हारा प्रेम चुक गया है? कमलश्री माता को दुखी देख कर कहती है कि माता दुःख क्षणिक है इस लिए दुःख मत करो मन स्थिर करो २,५ धनपाल के काव्य में कमलश्री

माता को उपदेश देती हुई नहीं दिखाई देती। वह माता के गले से लिपट जाती है और रोती है। माता उसे समझाती है। कमलश्री रोती हुई तो यहाँ भी दिखाई देती है, पर उस का विवेक जाग्रत है। उस में गलदश्रु भावुकता नहीं है। गीतशैली में भावों की अभिव्यक्ति होने से उस में भावात्मक चित्र सजीव हो उठा है।

बन्धुदत्त भविष्यदत्त को छल से मैनागद्वीप में छोड़ जाने के पश्चात् जब लौट कर उसी मार्ग से आता है तब भविष्यदत्त को सामने देख कर लज्जा से उस का मुख नीचा हो जाता है। वह कहता है—हे भाई, मुझ पर क्षमा करो। मैं कृतघ्नी निश्चय ही कोयल की भाँति हूँ। मैं ने तुम्हारे विरह में वैसे ही दुःख पाया है जैसे कि गरमी के दिनों में बिना पानी के वृक्ष संतप्त होते हैं।

तं मज्झुप्परि खम करहि भाय हउं णिग्घिणु खलु कोइल णिगाय।
हउं तुह विरहे संपत्तु दुक्खु जिह पाणिएण विणु गिम्हे रुक्खु ॥ (४,५)

यहाँ कवि ने भाई के मन की होने वाली स्वाभाविक मनःस्थिति का वर्णन कर लज्जा और ग्लानि के भावों को तिरोहित कर बन्धुदत्त के कपटपूर्ण हृदय का संकेत कर दिया है। इसी लिए वह भविष्यदत्त से कहता है कि अब ऐसा करो कि हम सब एक साथ बन्धु-बान्धवों से जा कर मिलें। भविष्यदत्त उस की चाल को न समझ कर उस के साथ जाने को तैयार हो जाता है। कथावस्तु की दूसरी विशेषता का हमें यहाँ पता लगता है जब भविष्यानुरूपा पति से कहती है कि मैं सेज पर नागमुद्रिका भूल आयी हूँ, इस लिए उसे ले आइए। इधर भविष्यदत्त मुँदरी लेने जाता है और उधर बन्धुदत्त अवसर पा कर पोत चलवा देता है। कई कथाओं में भविष्यदत्त का नागमुँदरी लेने जाने का कारण प्रदर्शित नहीं है। यह विबुध श्रीधर की अपनी विशेषता है। यदि कालिदास ने शाप की कल्पना कर शाकुन्तल की वस्तु की अस्वाभाविकता बचा ली तो विबुध श्रीधर ने नागमुँदरी की कल्पना कर स्वाभाविकता की रक्षा की है। क्योंकि यह कह देने से कि छल से बन्धुदत्त फिर से भविष्यदत्त को छोड़ कर चल दिया पाठकों को सन्तोष नहीं होता। फिर, पहले का कारण तो स्वाभाविक था कि भविष्यदत्त पहली बार उस वन में, द्वीप में आया था और पुष्पप्रिय था इस लिए दूर तक वनराजि को देखता निकल गया और इसी बीच बन्धुदत्त ने अवसर पा कर उसे वहीं छोड़ दिया। किन्तु यहाँ ऐसी क्या बात थी? नागमुँदरी भविष्यानुरूपा को बहुत प्रिय थी, इस लिए भविष्यदत्त उसे लेने चला गया। कथा की यह स्वाभाविकता विबुध श्रीधर और धनपाल दोनों में है।

मार्मिकता की दृष्टि से वह स्थल अत्यन्त सरस है, जहाँ बन्धुदत्त से दूसरी बार छले जाने पर भविष्यदत्त बहुत दुखी होता है और कई प्रकार से विलाप करता है इस समय उस की वही दशा होती है जो सीता के हरण किये जाने पर श्रीरामचन्द्र की हुई थी। वन के पक्षी को सम्बोधित करते हुए कहते हैं

ते भणहिं णाइ भो भविसयत्त पियविरह जाय महदयसयत्त ।
मा करहि सोउ णियमणि मइल्ल जिणधम्मकम्म विरयण छइल्ल ।
संजोय विओयइ हुंति जाणु सव्वहं जणाहं मा भंति आणु ।

अर्थात् वे पक्षी कहते हैं कि हे भविष्यदत्त ! प्रिय के वियोग में बहुत दुःख होता है, पर शोक कर अपना मन मैला न करो । क्योंकि तुम जिनधर्म के कार्यों को करने में चतुर हो और इस लिए जानते ही हो कि कर्मों के विपाक से संयोग और वियोग होता है। सभी लोगों को ये सुख-दुःख देते हैं । इस में किसी प्रकार की भ्रान्ति न करो ।

इसी प्रकार पुत्र के वियोग में कमलश्री अत्यन्त दुखी होती है । वह नहाना-धोना और बोलना तक छोड़ देती है । उस की माँ समझाती है, पर उस का मन नहीं मानता । जैसे-तैसे उस के दिन बीतते हैं । वस्तुतः वियोग जीवन मे अनिवार्य है । बिना उस के प्रेम आँच में तप कर खरा नही होता, किन्तु संसारी जीवो की परिणति आकुलता-व्याकुलतामय अधिक होती है, इस लिए वे वियोग का मूल्य नही आँक पाते ।

गीतिशैली मे वन एवं प्रकृति का वर्णन करता हुआ कवि कहता है कि भविष्यदत्त ने उस भयानक वन में मदजल से भरे हुए श्रेष्ठ हाथियो को देखा । कही पर शाखामृग (बन्दर) निर्भय हो कर डालियों से चिपके हुए थे, कही पर छोटे और कही पर आकाश को छूने वाले वृक्षों की शाखाओ पर लोटते हुए, हरे फलों को तोडते हुए बन्दर दिखाई दे रहे थे । कहीं पर पुष्ट देह वाले सुअर घूम रहे थे और कहो रोष से से भर कर किसी को भग्न कर महाबाघ पेड़ो से आ लगे थे । कहीं-कहीं पर विकराल काल के समान पशु दिखाई पड़ रहे थे और कही पर मोटे-ताजे सियार परस्पर जूझ रहे थे । उसी के पास मे झरना बह रहा था, जो पहाड़ की गुफाओ को अपने कलकल शब्द से भर रहा था—

तें बाहुडंडेण कमलसिरिपुत्तेण
दिट्ठाइं तिरियाइं बहुदुखभरियाइं
गयवरहो जंतासु मयजलविलित्तासु
कित्थुवि मयाहीसु अणुलग्गु णिरभीसु
कित्थुवि महीयाहं गयणयलवि गयाहं
साहासु लोडंतु हरिफलइं तोडंतु
केत्थुवि वराहाहं वलवंतदेहाहं
महवग्धु आलग्गु रोसेण परिभग्गु
केत्थुवि विरालाइं दिट्ठइं करालाइं
केत्थुवि सियालाइं जुज्झंति थूलाइं
तहे पासे णिज्झरइ सरंतइं गिरिकन्दरविवराइं भरंतइं ।

इस प्रकार वर्णन स्वाभाविक है । इस में अलंकरण या चमत्कार बिलकुल नही ह । देखी हुई वस्तुओं का ज्यों का त्यों वणन ह । प्रकृति का यह वणन आलम्बन रूप

र हुआ है। अपभ्रंश के कथाकाव्यों की यह विशेषता है कि उन में प्रकृति का आल-म्बनात्मक वर्णन ही मुख्य है। नायक की वियोग की अवस्था में प्रकृति की वस्तुएँ न तो आँसू ही बहाती हैं और न प्रिय के वियोग में स्मृतियों को उद्दीप्त कर सहानुभूति ही प्रकट करती है। इस में कवि का निवृत्ति भावना ही मुख्य जान पड़ती है, जो पूर्व पक्ष में संयोग शृंगार तथा विप्रलम्भ का चित्रण कर अन्त में उस की यथार्थता का रहस्योद्घाटन करती है। परन्तु इस का यह अर्थ नहीं है कि जनसुलभ अनुभूतियों और मानवीय संवेदनाओं की करुण अभिव्यक्ति का अभाव है। यथार्थतः राग-विराग की कोमलतम अनुभूतियों से काव्यात्मक अभिव्यंजना समन्वित है, जिस में जीवन का परिवेश धार्मिक भावनाओं से मण्डित है। इस लिए प्रसंगतः वियोगजन्य अनुभूतियों की मार्मि-कता भी लक्षित होती है। पुत्र के वियोग में कमलश्री अत्यन्त संतप्त है। उस का मन किसी भी काम में नहीं लगता है। वह पुत्र का स्मरण करती हुई कहती है कि मन, मेरा हृदय क्यों नहीं फूट जाता? कमलश्री रात-दिन रोती है। उस की आँखों से टपकते हुए आँसू जलधारा की बत्तियाँ (वर्तिकाएँ) ही बन जाते हैं। भूखी-प्यासी और क्षीण शरीर वाली होने से अपने मैले शरीर पर ध्यान ही नहीं दे पाती।

ता भणइ किसोयरि कमलसिरि   ण करमि कमल मुहुल्लउ।
पर सुमरंति हे सुउ होइ महु   फुट्टु ण मण हियउल्लउ। (३,१६)
रोवइ घुवइ णयण चुव अंसुव   जलधारहिं वत्तओ।
भुक्खइं खीण देह तण्हाइय   ण मुणइं मलिण गत्तओ। (४,५)

जिस प्रकार महाकवि कालिदास ने पुष्पक विमान में लंका से लौटते समय रामचन्द्र के मुख से मार्ग में मिलने वाले वन, पर्वत, आश्रम आदि का सीता को निर्दिष्ट कर उल्लेख किया है उसी प्रकार भविष्यदत्त भी विबुध श्रीधर के कथाकाव्य में दोहला युक्त भविष्यानुरूपा को मार्ग में शिला, झरना, पर्वत, वृक्ष आदि का स्मरण कराता हुआ विमान से तिलकद्वीप पहुँचता है, जिस का कवि ने सटीक वर्णन किया है। (५,३) किन्तु एक-एक वस्तु का जैसा काव्यात्मक एवं यथार्थ चित्रण कवि धनपाल ने किया है वैसा विबुध श्रीधर के काव्य में नहीं मिलता। समूची कथा लोक शैली में वर्णित प्रतीत होती है। रूप-वर्णन का एक चित्र देखिए—

बालहरिणि चंचलयर णयणी   पुण्णिम इंदविंवसम वयणी।
रायहंसगामिणि ललियंगी   अवयवेहिं सव्वेहिंवि चंगी॥

अर्थात् बाल हिरनी के समान स्वरूपा के नयन थे। पूनम के चंदा जैसा उस का मुख था। राजहंस के समान मन्द गति थी। ललित अंगों वाली थी। उस के सभी अंग निरवद्य थे। इसी प्रकार बाल भविष्यदत्त का वर्णन देखिए—

कालेण वल्लिय तही पंचवरिस   कोकंतहो परि संचविय हरिस।
सो कविल केस जड कलिय सीसु   धूली उद्धूलिय तणु विहीसु।

करजुवल कडुल्ला सोहमाणु पायहि णेउर रंखोलमाणु ।
बाहिर हो मावइ गेहु जाम वड्ढइ जणणिहें आणंदु ताम ।

अर्थात् जब बालक पाँच बरस का हो गया तब घर में खेलता हुआ जननी को हर्ष बढ़ाने लगा। उस के सिर के बाल भूरे थे। शरीर को धूलि से धूसरित कर वह सोहने लगा। उस के दोनों हाथों में चूरा (कड़े) शोभायमान थे। पैरों में घुँघरू शब्दायमान थे। जिस समय वह बाहर से भीतर घर में आता था तब जननी उसे देख कर आनन्द से फूल उठती थी।

इन वर्णनों को देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि काव्य कवित्व शक्ति से भरपूर है, पर कल्पनात्मक वैभव, बिम्बार्थ-योजना और अलंकरणता तथा सौन्दर्यानुभूति की जो झलक हमें धनपाल की भविष्यदत्तकथा में लक्षित होती है वह इस काव्य में नहीं है।

भाषा

भाषा की दृष्टि से यह महत्त्वपूर्ण रचना है। सीधी-सादी एवं सरल भाषा में यह पूरा काव्य निबद्ध है। इस में धनपाल के काव्य की भाँति लोक तथा शास्त्र एवं साहित्य की भाषा का मेल न हो कर जन-बोलीका रूप दिखाई पड़ता है। काव्य के वर्णनों से भी इस बात की पुष्टि होतो है। यथा—

कहिंवि तूर वज्जंति णिब्भरं
कहिंवि लोय जोयहिं परोप्परं
जिणमन्दिरे घण्टा टणटणाले······ ।

लोकशैली में वर्णित गीतों से भी यही धारणा बनती है। फिर, कवि की रागात्मिका बुद्धि घरेलू वातावरण को चित्रित करने में जैसी रमी है, वैसी प्रकृति-वर्णन-रूप तथा अन्य घटनाओं की प्रभावान्विति एवं रस-व्यंजना में उस का चमत्कार नहीं दिखाई पड़ता। फिर भी, कुल मिला कर रचना का प्रभाव ठीक ही है।

विबुध श्रीधर के भविष्यदत्तकथा की भाषा चलती हुई और प्रसाद गुण युक्त है। तेरहवीं शताब्दी की जनसामान्य में प्रचलित भाषा के शब्द-रूप इस रचना में स्पष्टतः मिलते हैं। जैसे—जावहि (ज्यों ही), तावहि (त्यों ही), बारबार, णिरारिउ (निनारी; पद्मावत), फोफल (सुपारी), करीर, तिंदु, विल्लि (वेल), करवंद (करोंदा), झत्ति (झट से), सपत्तउ (सपाटे से, भ्रमरवत् त्वरता), करंती, हरंती इत्यादि। भाषा भावों के अनुकूल और मधुर है। यथा—

पर एक्कु वि दीसइ णउ मणुउ एंतु जंतु सुहयारउ ।
पर दीसइ पट्टणु मणहरणु मढदेवलहि पियारउ ॥

रचना में कृदन्त शब्द-रूपों की प्रचुरता है। क्रिया में लिंग भी इस मे स्पष्ट रूप मिलता है। उदाहरण के लिए—